विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला — ५५

हिन्दी भाषा विवरणसहित सोदाहरण सयुक्तिक

ज्यौतिषरत्नमाला

रत्नत्रयात्मक संहितास्कन्ध

●

लेखक

मिथिला-देशस्थ-चौगमा निवासी

वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयसम्मानित प्राध्यापक

त्रिस्कन्ध ज्यौतिषशास्त्रमर्मज्ञ

आचार्य पं० श्री सीताराम झा

●

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

संस्करण १९९२

मूल्य ५०-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

सम्पादकीय

दुर्दैवाद् भारते वर्षे यवनाधीनतां गते।
शास्त्रेषु पण्डितंमन्यैः कृतं दुष्परिवर्तनम् ॥१॥
ज्यौतिषे कालतन्त्रेऽपि प्रत्यक्षविषयेऽप्यतः।
तिथि-लग्न-मुहूर्तानां भ्रष्टा साधनपद्धतिः ॥२॥
तिथ्यादीनां स्वरूपं च विस्मृतं विबुधैरपि।
जायते धर्मकृत्येषु विपरीतं फलं, ततः ॥३॥
अतोऽहं ज्यौतिषस्याद्यविकृतांशं प्रयत्नतः।
संशोध्य 'संहितास्कन्धं' पूर्ववत् कृतवान् पुनः ॥४॥
सर्वर्षिसम्मतं भाषा-व्याख्योदाहरणान्वितम्।
आशासे च यदेतेन सुजनस्तुष्टिमेष्यति ॥ ५ ॥

—सीतारामझा।

सम्मति

पराधीन भारत में तत्त्वानभिज्ञ जनों के द्वारा ज्यौतिष ग्रन्थों में जो विपर्यय हो गये थे, उनके प्रत्यक्ष एवं युक्ति प्रमाण के साथ सुधार करने में **ज्यौतिषाचार्य पण्डित श्री सीताराम झा** का कार्य इस समय सराहनीय है। उन्हीं के द्वारा लिखित यह ज्यौतिषरत्नमाला संहिता भाग है। इसमें पञ्चाङ्ग क्या है ? समयशुद्धि किसे कहते हैं ? एवं किन कृत्यों के लिये कौन-सा समय उपयुक्त है ? इत्यादि विषयों को स्पष्ट उदाहरण के साथ उन्होंने दिखलाया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि साधारण लिखे-पढ़े जन भी इस पुस्तक की सहायता से ज्यौतिष सम्बन्धी सब विषयों को भली भाँति समझ सकते हैं।

—गिरिधारीलाल गोस्वामी

ज्यौ० आ०, एम० ए०, पी—एच० डी०,

महामन्त्री, अखिल भारतीय ज्यौतिष परिषद्,

एवम्

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, दिल्ली

* श्रीः *

ज्यौतिषरत्नमाला

संहिता-स्कन्धीय प्रथम रत्न

१

कालपंचाङ्ग-विवेक

—०—

रचयिता—

विदेहदेशीय चौगमानिवासी वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालयीय-

सम्मानितप्राध्यापक ज्यौतिषाचार्य

श्री सी ता रा म झा

—०—

संशोधक—

वाराणसेय—संस्कृतविश्वविद्यालयीय-ज्यौतिषविभागाध्यक्ष

पं० श्रीअवधविहारी त्रिपाठी, ज्यौ० आ०

—०—

प्रकाशक—

मास्टर संस्कृत प्रकाशन भवन,

सी० के० १५/५२ सुड़िया, व[illegible]—१

प्रकाशिका:

श्रीमती विमला देवी,

प्रोप्राइटर,

मास्टर संस्कृत प्रकाशन भवन,

सी० के० १५/५२ सुड़िया,

वाराणसी—१

•

प्रकाशन तिथि:

माघ शुक्ल १५, संवत् २०१४

मूल्य रु० [illegible]

•

मुद्रक:

श्री प्रेस

कार्त्तवीर्यपुर

(कतुआपूरा)

राणसी—१

भारतीय सनातनधर्मानुयायी समाज में षडङ्ग वेद—विशेषतया ज्यौतिष तथा धर्मशास्त्र ये दो—हिन्दूधर्म एवं हिन्दू संस्कृति के आधार माने जाते हैं। वेद के इन दोनों अङ्गों में स्वभाव से ही समय-समय पर संशोधन, परिवर्धन और कदाचित् जन-कल्याणार्थ परिवर्तन भी होते आ रहे हैं। इससे मानव-धर्म (प्रमाद) वश शुद्ध स्थल में अशुद्ध हो जाना भी स्वाभाविक ही है। विशेषकर यवन (मुसलमानी) शासन काल में ग्रहगोलगति की अज्ञानता के कारण भारतीय ज्यौतिषग्रन्थकारों (श्रीपति, नीलकण्ठ आदिकों) ने भी फलित ज्यौतिष (संहिता तथा जातक) में भ्रान्त यवनों द्वारा प्रचारित युक्तिहीन मत का भी समर्थन कर, उसे ग्रहण किया। इससे प्रत्यक्ष धर्मकृत्यों पर महान् आघात पहुँचा और अब भी पहुँच रहा है।

जहाँ अदृष्ट फल (कर्म द्वारा स्वर्ग प्राप्ति अथवा मुक्ति आदि) में आप्त-वाक्य मात्र प्रमाण है, वहाँ तो शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण, विभिन्न मत हो सकते हैं। परन्तु ज्यौतिषशास्त्र में तो दृष्ट अथवा अदृष्टफलबोधक वचनों की प्रत्यक्ष होने पर ही मान्यता दी गयी है। जिस प्रकार 'यज्ञात् स्वर्गप्राप्तिः', 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इत्यादि अदृष्टफलबोधक आप्तवाक्य को मानने वाले आस्तिक (धार्मिक) तथा नहीं मानने वाले नास्तिक (अधार्मिक) माने जाते हैं, उस प्रकार ज्यौतिषशास्त्रप्रतिपादित अदृष्टफलबोधक आप्तवाक्य के प्रत्यक्ष होने पर ही मान्यता दी जाती है। जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक न मानने पर कोई पाप नहीं होता है। जैसे गणित से सिद्ध होने पर भी जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक भारतीय जन तीर्थस्नान नहीं करते। तथा 'चलत्यङ्गारके वृष्टिः' अर्थात् 'मङ्गल के राशिसञ्चार में वृष्टि होती है'—इस आप्तवाक्य को भी जनता प्रत्यक्ष होने पर ही मानती है। केवल वाक्य पर भरोसा करके भारतीय कृषक धान रोपने के लिये बीजों को उखाड़ कर नहीं रखते। प्रत्यक्ष वृष्टि देखकर ही उन्हें उखाड़ते हैं। इसीलिये महर्षि नारद ने कहा है—

"अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तत्र केवलः।
प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ ॥"

अखिल विश्व में निखिल कार्य 'काल' के आधीन हैं। काल में भेद होने से ही कार्यों में फलभेद हुआ करता है। सूर्य और चन्द्रमा के भगोल-सञ्चार से ही काल-भेद होता है। यदि सूर्य स्थिर रहता तो काल में भी भेद नहीं होता। अतः कहा गया है—

"चक्रवत् परिवर्तेत कालः सूर्यवशात् सदा।"

सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति से ही काल के (वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि आदि) अवयव प्रत्यक्ष होते हैं। तथा आकाशस्थ अन्य ग्रहों एवं नक्षत्रों की शुभ-अशुभ रश्मियों के सम्पर्क से शीत-उष्ण, दिन-रात्रि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, जन्तुओं में स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य आदि फल भी होते रहते हैं। अतः भगोल में ग्रहों की स्थिति के ज्ञान से ही उक्त काल के अङ्गों (अवयवों) का ज्ञान होता है। उक्त काल के प्रमुख पाँच अङ्गों को ही लोग 'पञ्चाङ्ग' कहते हैं— जो गणित द्वारा प्रत्यक्ष विषय है। इसमें किसी भी प्रदेश में कदापि दो मत नहीं हो सकते।

परन्तु भारत के दुर्भाग्यवश शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ व्यक्तियों द्वारा पञ्चाङ्ग में भी मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। इससे हिन्दूसमाज के धार्मिक कृत्यों में भी भेद पड़ने से विवाद उपस्थित होने लगा। भारतदेशविभूषण, विश्वमान्य, महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय ने इस मतभेद को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया। भारतीय विज्ञ ज्यौतिषतत्त्ववेत्ताओं की सभा का भी दो बार आयोजन किया। मतैक्य स्थापित करने के लिये सबसे प्रार्थना की। उन्हें तत्काल सफलता तो प्राप्त नहीं हुई और इस बीच उनका स्वर्गवास भी हो गया। परन्तु उनका प्रयास कालान्तर में अंकुरित हुआ। ज्यौतिषविज्ञजनों में उनके आदेश से जो जागृति हुई उससे कुछ अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई। यह परम सन्तोष का विषय है कि अधुना विज्ञजन पञ्चाङ्ग में मतैक्य लाने के लिये यत्नशील हैं।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु विविध प्रदेशों में भ्रमण करते हुए, अनेक ज्यौतिष ग्रन्थों के व्याख्याता एवं रचयिता, लोकविख्यात, मेरे गुरुभ्राता ज्यौतिषा-

चार्य पण्डित श्रीसीताराम झा जी मेरे स्थान (सुन्दर नगर, सुकेत स्टेट, हिमाचल प्रदेश) पर पधारे और लगभग एक सप्ताह तक निवास भी किये। विविध विषयों पर उनसे विचार-विमर्श किया। उसी प्रसङ्ग में हमने उनसे "काल और पञ्चाङ्ग के स्वरूप और भेद" पर सम्यक् विचार कर एक सयुक्ति निबन्ध लिखने का अनुरोध किया। उन्होंने मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन किया और मेरे सम्मुख ही उसकी रूपरेखा तैयार की गयी।

समयशुद्धि देखकर ही किसी कार्य के कर लेने का भारतीय महर्षियों का आदेश है और उसका ज्ञान शुद्ध पञ्चाङ्ग से ही हो सकता है। अतः 'काल के स्वरूप और पञ्चाङ्ग क्या है ?' इसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में हिन्दी के माध्यम से किया गया है। अतः इसका नाम भी 'कालपञ्चाङ्ग विवेक' अन्वर्थ रखा गया है।

पञ्चाङ्ग में विवादास्पद विषय

दो सौ वर्ष पूर्व भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थकार जानते थे कि दृष्टफल (ग्रहण और चन्द्रशृङ्गोन्नति आदि के लिये), तिथि, नक्षत्र, योग की प्रवृत्ति-निवृत्ति और अदृष्ट फल (व्रत, पर्व आदि धर्म) के लिए भिन्न-भिन्न समय होते हैं। ये तीनों केवल सूर्य और चन्द्र की गति से ज्ञात होते हैं। किन्तु मङ्गल आदि ग्रहों के योग अथवा उदय-अस्तवश जो फल कहे गये हैं, वे दृष्ट होने पर ही।

तथा कालान्तर में जो ग्रहों की गति-विलक्षणता के कारण भेद देखने में आता है, वह छः हजार वर्ष के भीतर ही। पुनः छः हजार वर्ष के बाद यह भेद (अन्तर) स्वयं निवृत्त भी हो जाया करता है। उसके लिये ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी उपलब्धि के अनुसार बीजकर्मादि दृक्कर्म-संस्कार बतलाया है।

वर्तमान युग में भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों में सूर्यसिद्धान्त सबसे प्राचीन माना जाता है जिसकी रचना आज से लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व हुई। इसके रचयिता को सूर्यांश पुरुष माना जाता है। वे अपने ग्रन्थ (सूर्यसिद्धान्त) के रचना-काल में कहते हैं—

"शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत् पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः॥"

भेद के कारण ये बतलाये हैं—

"अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्र-मन्दोच्च-पाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम् ॥
दक्षिणोत्तरतोऽप्येवं पातो राहुः स्वरंहसा ।
विक्षिपत्येष विक्षेपं चन्द्रादीनामपक्रमात् ॥
प्रवहाख्यो मरुत्तांस्तु स्वोच्चाभिमुखमीरयेत् ।
पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति पृथग्विधाम् ॥"

अर्थात् ग्रहों की स्वतः गति भचक्र में पूर्वाभिमुख है। तथा प्रवह वायु उनको (भचक्र सहित) पश्चिम मुख घुमाता है, उच्चसंज्ञ देवविशेष अपनी ओर—पूर्व और पश्चिम—दोनों ओर आकृष्ट करते हैं। इन हेतुओं से ग्रहों की गति में (८ प्रकार) विलक्षणता होती रहती है। इसलिये कहा है कि—

"तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः ।
प्रयान्ति तत् प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात् ॥"

इसी प्रकार स्पष्टीकरण करके, सूर्यादि ग्रहों के साधन करके तिथ्यादि साधन और मङ्गलादि ग्रहों के उदयास्त साधन क्रिया भी बतलायी है।

सूर्यांश पुरुष ने एक बात और बतलायी है कि उक्त आकर्षण होने पर भी सूर्य और चन्द्रमा में अत्यल्प अन्तर होते हैं, किन्तु मङ्गलादि ग्रहों में अधिक अन्तर होते हैं। यथा—

'महत्त्वान्मण्डलस्यार्कः स्वल्पमेवापकृष्यते ।
मण्डलाल्पतया चन्द्रस्ततो बह्वपकृष्यते ॥
भौमादयोऽल्पमूर्तित्वात् शीघ्र-मन्दोच्च-संज्ञकैः ।
दैवतैरपकृष्यन्ते सुदूरमतिवेगिताः ॥"

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जब सूर्य और चन्द्रमा में अत्यल्प अन्तर होता है और वह स्वयं नष्ट भी हो जाता है तो इन दोनों में तिथ्यादि साधनार्थ दृक्कर्म अथवा बीजकर्म नहीं करना चाहिये।

इसी कारण से आचार्य लल्ल ने कहा है कि—

"बीजं फलं तिथि-भ-योगविधौ त्वदेयं
देयं पुनस्तदखिलं क्षितिजादिकेषु।"

इस मत का समर्थन ज्यौतिषतत्त्वज्ञ आचार्य कमलाकर ने भी किया है।

भास्करीय बीजकर्म संस्कार से स्पष्ट सिद्ध है कि सबीज और अबीज सूर्य-चन्द्र से साधित तिथि में उतना अन्तर युगान्तर में भी नहीं हो सकता, जिससे धर्मकृत्य में दोष उत्पन्न हो—यह प्रत्यक्ष भी दृश्य है। नहीं तो जैसे दृक्सिद्ध पञ्चाङ्गवादियों की अन्तर कल्पना है उससे तो कभी अष्टमी को भी पूर्णिमा हो गयी होती। किन्तु ऐसा कभी भी न हुआ, और न निकट भविष्य में हो सकता है।

इसकी विशेष युक्ति इस पुस्तक में दिखलायी गयी है।

आशा ही नहीं, प्रत्युत दृढ विश्वास है कि इस पुस्तक के आद्योपान्त अवलोकन से साक्षर व्यक्ति पञ्चाङ्ग जानने, बनाने और शुभाशुभ मुहूर्त समझने में स्वयं पारंगत हो सकते हैं। दीपक में प्रकाश के तुल्य 'इस पुस्तक में क्या गुण है ?'—इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। हमारा विश्वास है कि इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर सहृदय जन निष्कपट हो अपना-अपना विचार प्रकट करें तो निस्सन्देह 'पञ्चाङ्ग' में मतैक्य हो सकता है।

अन्त में हम अपने भ्रातृवर से पुन: निवेदन करते हैं केवल 'कालपञ्चाङ्ग विवेक' के ही प्रकाशन से जनता को पूर्ण सन्तोष प्राप्त न होगा। जैसी रूपरेखा तैयार हुई थी तदनुकूल ज्यौतिष सम्बन्धी विवादास्पद समस्त विषयों पर अपनी लौह लेखनी से विशिष्ट विवेचना प्रस्तुत करें जिससे विज्ञजनों को तत्तद्विषय में किसी अन्य ग्रन्थ का प्रयोजन न हो, जैसे समयशुद्धि, षोडश संस्कार, गृहकर्म, कृषिकर्म, यात्रा आदि संहितास्कन्धोक्त समस्त विषयों का संक्षेप में निर्विवाद वर्णन हो। कम से कम नव विभाग में "नव रत्न" रूप "ज्यौतिष रत्न माला" का रूप धारण कर, सहृदय व्यक्तियों के कण्ठ में यह सर्वदा सुशोभित हो। हम इस ग्रन्थ के भारतव्यापी प्रचार की कामना करते हैं। इति—

सुकेत स्टेट,
हिमाचल प्रदेश
वसन्तपञ्चमी, संवत् २०२४

हरिकृष्णदयालु शास्त्री
ज्यौतिषाचार्य,
राजज्यौतिषी,

❀ श्रीः ❀

ज्यौतिषरत्नमाला प्रथम रत्न

कालपञ्चाङ्गविवेक की विषयसूची

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

———

इस पुस्तक में लिखित विषय के समर्थक

संख्या	नाम	व्यवसाय
१	आचार्य श्री लक्ष्मीकान्तझा,	अध्यापन, फलादेश
२	,, श्री लक्ष्मीनारायणझा	अध्यापन
३	,, श्री राजेन्द्रचौधरी	,,
४	,, श्री रमानन्द चौधरी	,,
५	,, श्री रुद्रधरझा	,,
६	,, श्री दीनानाथझा	,,
७	,, श्री देवनारायणझा	,,
८	,, श्री सिंहेश्वरझा	,,
९	महापण्डित श्री शुकदेवझा	,,
१०	आचार्य श्री कपिलेश्वर चौधरी	निरीक्षक
११	,, श्री देवचन्द्र झा	अध्यापन
१२	,, श्री रामफलठाकुर	,,
१३	,, श्री कृष्णमोहनठाकुर	,,
१४	,, श्री मुनीन्द्रझा	,,
१५	,, श्री राजमोहन उपाध्याय	,,
१६	,, श्री अवधविहारी त्रिपाठी	,,
१७	,, श्री कृष्णकान्तशर्मा, सि० फ० ज्यौ० आ०	,, फलादेश
१८	,, श्री विशुद्धानन्दगौड ज्यौ० आ०,	,, ,,
१९	,, श्री गेन्दनलाल शर्मा	,, ,,
२०	,, श्री केदारदत्त जोशी	,, ,,
२१	,, श्री मुरलीधर सुयाल ज्यौ० आ०	,, ,,
२२	,, श्री हरिकृष्णदयालु शास्त्री,	,, ,,
२३	,, श्री धरणीधर शर्मा	,, ,,
२४	,, श्री मुरारीलाल शर्मा	,,
२५	,, श्री प्रह्लाद शर्मा	,, ,,

अखिल भारतीय विज्ञजनों के नाम

वर्तमान पता	जन्मस्थल	प्रदेश
राजकीय महाविद्यालय, बड़ौदा	दरभंगा विहार	मिथिला
सं० विद्यापीठ बैगनी, दरभंगा	,, ,,	,,
आधारपुर, दरभंगा	,, ,,	,,
हावी भौआर, दरभंगा	,, ,,	,,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	ठाढी ,,	,,
,, ,, ,,	सिंहवार ,,	,,
वनगाम, सहरसा	सहरसा ,,	,,
महिषी, सहरसा	,, ,,	,,
सिमरा, भागलपुर	भागलपुर ,,	,,
संस्कृत विद्यालय पटना,	मुजफ्फरपुर ,,	,,
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय	मुजफ्फरपुर ,,	,,
बरहकुरबा,	मुजफ्फरपुर ,,	,,
रणवीर संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी	बरौनी, मुंगेर ,,	,,
जानकी संस्कृत विद्यालय नरकटियागञ्ज,	मोतीहारी ,,	,,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय [illegible]णसी	शाहाबाद	विहार
वाराणसेय संस्कृत [illegible]विद्यालय वाराणसी		उत्तर प्रदेश
	हापुड़, मेरठ	,,
राधाकृष्ण संस्कृत महाविद्यालय	खुरजा, बुलन्दशहर	,,
	मेरठ	,,
प्राध्यापक-काशी हिन्दू विश्व विद्यालय	गढ़वाल	,,
तोली, बद्रिकाश्रम	गढ़वाल	,,
राज्य ज्योतिषी	सुकेत स्टेट	हिमाचल प्रदेश
	वाराणसी	हरियाना
वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय	कपूरथला	पंजाब
मानस मन्दिर, वाराणसी	जैंनपुरवास,	राजस्थान

२६ आचार्य श्री कुञ्जीलाल शर्मा हरदा, मध्यप्रदेश
२७ ” श्री रामचन्द्र शर्मा, वाराणसी चिलेश्वर, मेवाड़
२८ ” श्री देवकीनन्दनशास्त्री ज्यौतिष मार्तण्ड, ,, राजस्थान
२९ ” श्री प्राणनाथ त्रिपाठी, पञ्चाङ्गनिर्माण पोखरा अर्घौं नेपाल
३० ” श्री मीठालाल ओझा ज्यौ० आ० वाराणसेय सं०वि०वि० गुजरात
३१ ” श्रीसोमेश्वरपाठक ज्यौ०आ०पञ्चाङ्गनिर्माण ,, ,, महाराष्ट्र
३२ ” श्री रमानन्द स्वामी भू० पू० ज्यौतिषाध्यापक केरल
३३ ” श्री वरेन्द्रनाथमिश्र पञ्चाङ्ग निर्माण मिदनापुर बंगाल

अथ ज्यौतिषरत्नमालाया:

कालपञ्चाङ्गविवेको नाम प्रथमरत्नम्

मङ्गलाचरण—

गणाधिनाथं च दिनाधिनाथं निशापतिं ब्रह्म सरस्वतीश्च ।
प्रणम्य पद्मां च पयोधिबालां करोम्यहं ज्योतिष-रत्नमालाम् ॥

प्राक्कथन—

एकदोपेत्य ब्रह्माणं नत्वा पप्रच्छ नारदः ।
भगवन् ! ज्यौतिषज्ञानं संक्षेपाद् वद मेऽखिलम् ॥ १ ॥

एक समय देवर्षि नारद ने ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आपने मुझे वेद के छः अङ्गों में से केवल पाँच अङ्गों का उपदेश किया। अब आप कृपा कर छठे अङ्ग (ज्यौतिष शास्त्र) का वर्णन करें ॥ १ ॥

ब्रह्मा श्रुत्वेति यत् प्राह नारदाय सुरर्षये ।
जगतामुपकाराय ज्यौतिषज्ञानमुत्तमम् ॥ २ ॥
बालानां सुखबोधाय विषयावगमाय च ।
तत् सर्वं दर्शयाम्यत्र मुख्यभारतभाषया ॥ ३ ॥

यह सुनकर महर्षि नारद जी से ब्रह्मा जी ने जो कहा उस श्रेष्ठ ज्यौतिष ज्ञान को लोकोपकार के लिए और बालकों के सरलता पूर्वक विषयों के ज्ञानार्थ मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी में वर्णन करता हूँ ॥ २-३ ॥

ब्रह्मोवाच—

सिद्धान्त-संहिता-होरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम् ।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिश्शास्त्रमकल्मषम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माजी ने कहा कि हे वत्स ! ज्यौतिष शास्त्र के तीन स्कन्ध (शाखाएं) हैं-- (१) सिद्धान्त, (२) संहिता और (३) होरा (लग्न अथवा जातक) रूप । यह वेद के अङ्गों में सर्वश्रेष्ठ नेत्र है ॥४॥

विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्ध्यति ।
तस्माज्जगद्धितायैतच्छास्त्रज्ञानं ब्रवीमि ते ॥५॥

इसके ज्ञान के विना संसार में लौकिक अथवा वैदिक किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । इस लिए मैं सर्वजनोपकार के निमित्त आपसे ज्योतिषशास्त्र का परिचय दे रहा हूँ ॥५॥

अनन्तर नारदजी ने प्रश्न किया कि पितामह ! सर्वप्रथम इन तीनों स्कन्धों का ही परिचय बतलाइये ।

ब्रह्माजी ने कहा-हे मुने ! जिसमें आकाशस्थ ग्रह और नक्षत्रों के स्थान, रूप, परस्पर युति, उदय, अस्त आदि का एवं पृथ्वी की स्थिति, समुद्र, पर्वत, खण्ड, द्वीप आदि प्रदेश के मानों का वर्णन हो वह प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होने के कारण 'सिद्धान्त स्कन्ध' कहा गया है । तथा जिसमें आकाशस्थ ग्रह नक्षत्रों के परस्पर रश्मियों के संयोगवश काल में शुभत्व-अशुभत्व होने के कारण पृथ्वी पर सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि शुभ-अशुभ फल समष्टि रूप से कहे गये हैं वह 'संहिता स्कन्ध' कहलाता है । तथा जिसमें अपने-अपने जन्मकालिक होरा (लग्न) वश से व्यस्ति (वैयक्तिक) रूप कहा गया है वह 'होरा' किंवा 'जातक स्कन्ध' कहा गया है ।

अधिकृत्य च ज्योतींषि कृतत्वाज्ज्यौतिषं स्मृतम् ।
कालज्ञानकरत्वाच्च कालतन्त्रमपीरितम् ॥ ६ ॥

आकाशस्थ ज्यौतिस् रूप ग्रह नक्षत्रों के आश्रित होने के कारण 'ज्यौतिष' नाम से विख्यात है । तथा इसी शास्त्र से शुभाशुभ काल के ज्ञान होने के कारण इसी को 'कालतन्त्र' भी कहते हैं ॥ ६ ॥

इस प्रकार समस्त भेदों को बतलाकर ब्रह्मा जी ने सकल ज्यौतिष-शास्त्र का ज्ञान नारद जी से कह दिया । नारदजी ने अन्य ऋषियों

को और अन्य महर्षियों ने पुनः पृथ्वीतल पर निवास करने वाले सुबुद्धिजनों को उपदेश दिया।

ग्रह नक्षत्रादिकों के पञ्चभौतिक पिण्ड होने के कारण उनमें प्राकृतिक ह्रास और वृद्धि होती रहती है। अतः कालान्तर में ग्रहों की गति में भी भेद होने लगा अतः कृत-युगान्त में जब गणित द्वारा ग्रहों के योग और अन्तर में प्रत्यक्ष भेद देखने में आया तब संहिता और जातक के फलों में भी भेद होने लगा। उस समय मयासुर ने कठिन तपस्या द्वारा भगवान् सूर्य की आराधना करके ज्यौतिष शास्त्र को पुनः पूर्ववत् व्यवस्थित किया। मयासुर के बाद भी जब-जब भेद देखने में आया तब तब भारतीय महर्षियों ने इस शास्त्र में संशोधन किया है।

यथा, ज्यौतिषाचार्यवर्य भट्टकमलाकर ने कहा है:—

ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगुर्यच्छौनकायामलं
मण्डव्याय वसिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्यो मयायाऽऽह यत्।
प्रत्यक्षागमयुक्तिशालि तदिदं शास्त्रं विहायाऽन्यथो
यत् कुर्वन्ति नराधमास्तु तदसद् वेदोक्तिशून्या भृशम्॥

मयासुर के बाद यवनों में ज्यौतिष शास्त्र का प्रचुर प्रचार हुआ। अनन्तर वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, भास्कर, श्रीपति आदि तथा मुगलशासक अकबर आदि के पश्चात् रामाचार्य, नीलकण्ठ आदि भारतीयों ने यवनों द्वारा प्रचारित अनार्य मार्ग में प्रवृत्त होकर अनेकों विषय आर्ष पद्धति के विरुद्ध लिखकर बहुत भ्रम उत्पन्न कर दिया। इससे धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में आघात पहुँचा और सम्प्रति भी पहुँच रहा है। अतः उन प्राचीन भ्रमों के निराकरण के लिए ही इस 'ज्यौतिष रत्नमाला' का प्रारम्भ किया गया है।

अधुना समस्त ज्यौतिष शास्त्र का सार पञ्चाङ्ग पद्धति में ही कहा गया है। इस लिए सर्वत्र सर्वदा सब कार्य पञ्चाङ्ग पद्धति से ही सम्पादित होते हैं अतएव इस रत्न माला के "प्रथमरत्न" का नमा

'कालपञ्चाङ्गविवेक' रखा गया है। अनन्तर 'समयशुद्धिविवेक' आदि नामके अनेक रत्न होंगे। भारतीय जनता के सुबोधार्थ अधिकांश स्थल में तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही सोदाहरण विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ प्रमाणादि में संस्कृत के श्लोक दिये गये हैं वहाँ उनके भी अर्थ तथा उदाहरण हिन्दीभाषा में दिये गये हैं। इससे सर्वसाधारण भारतीय जनता का महान् उपकार होगा।

[इति प्राक्कथन]

अथ कालपञ्चाङ्गविवेकः

कालनिरूपण—

ज्यौतिषशास्त्र प्रणेता महर्षियों ने सिद्ध कर दिया है कि इस अनन्त ब्रह्माण्डमय चराचर विश्व का उद्भव, पालन और प्रलय करनेवाला सर्वशक्तिसम्पन्न परब्रह्म परमेश्वर 'काल' ही है। ज्यौतिष प्रणेता ही नहीं वेद, उपनिषद्, पुराणादि में भी 'काल' को ही परब्रह्म बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

"कालः कलयतामहम्"

अर्थात् कर्मरत योगीजन जिसके अन्वेषण में रहते हैं (अर्थात् जिस पर सदा ध्यान रखने से ही कोई भी व्यक्ति अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करते हैं) वह (दिन, रात्रि, साय, प्रातः रूप) साकार काल मैं ही हूँ।

इस प्रकार अपना लघु स्वरूप बताकर वे पुनः कहते हैं—

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः।"

अर्थात् इस विश्व को उत्पन्न करके पुनः अपने में लीन कर लेने वाला प्रवृद्ध (अनादि अनन्त महान्) काल भी मैं ही हूँ।

श्री सूर्यांश पुरुष ने भी अपने सिद्धान्त में कहा है—

,,लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।

स द्विधा स्थूल-सूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते ।
प्राणादिः कथितो मूर्तस्त्रुटयाद्योऽमूर्तसंज्ञकः ॥"

अर्थात् काल के दो भेद हैं—एक तो समस्त विश्व को नष्ट करके अपने में लीन कर लेने वाला (महान्) अनादि अनन्त अज्ञेय । दूसरा—कलनात्मक (व्यवहारार्थ-विपल, पल, घड़ी, मुहूर्त, अहोरात्र, मास, वर्ष आदि गणनाद्वारा बोधगम्य) । इस द्वितीय काल के भी दो भेद हैं—एक, स्थूल (व्यवहार में आने योग्य) दूसरा, सूक्ष्म (व्यवहार में नहीं लाने योग्य) । इसलिए स्थूल काल पहला मूर्त (व्यवहार में आने योग्य बोधगम्य) और दूसरा अमूर्त (अति सूक्ष्म) कहा गया है, जिसे व्यवहार में लाया नहीं जा सकता । यथा—

"सूच्या भिन्ने पद्मपत्रे त्रुटिरित्यभिधीयते ।
तत् षष्ट्या च भवेद्रेणू रेणुषष्ट्या लवः स्मृतः ।
तत् षष्ट्या लीक्षकं प्रोक्तं तत् षष्ट्या प्राण उच्यते ।
षड्भिः प्राणैः पलं प्रोक्तं तत् षष्ट्या घटिका स्मृता ॥"

अर्थात् तीक्ष्ण (नुकीली) सूई से कमलपत्र के छेदने में जितना काल लगे वह 'त्रुटि' कहलाता है । इस प्रकार ६० त्रुटि = १ रेणु । ६० रेणु = १ लव । ६० लव = १ लीक्षक । ६० लीक्षक = १ प्राण । ६ प्राण = १ पल । ६० पल = १ घड़ी ।

इस प्रकार त्रुटि से लीक्षक तक कालमान बोधगम्य नहीं हो सकता है, अतः 'अमूर्त' कहा गया है । इसलिये कालज्ञों ने मात्रा से काल की गणना की है । यथा—

"ह्रस्वाक्षरश्चैकमात्रो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
द्विमात्रं विपलं प्रोक्तं तत् षष्ट्या च पलं स्मृतम् ।
पलषष्ट्या घटी प्रोक्ता मुहूर्तो घटिकाद्वयम् ।
तत् त्रिंशता त्वहोरात्रं व्यवहाराय कल्पितम् ।

कुतुपादि-मुहूर्तानां ज्ञानार्थमुदयाद्रवेः ॥
मासस्त्रिंशदहोरात्रैर्वर्षं द्वादशभिश्च तैः।
वर्षं चतुर्विधं तेषु सौरं मुख्यं प्रकीर्तितम्।
तस्मात् तेनैव सर्वत्र युगादि–परिकल्पना ॥"

अर्थात् १ ह्रस्व अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है वह एक 'मात्रा' माना गया है। इसलिये दीर्घ वर्ण द्विमात्रिक कहलाता है। इस प्रकार कालमान—.

२ मात्रा = १ विपल। ६० विपल = १ पल। ६० पल = १ घटी। २ घटी = १ मुहूर्त। ३० मुहूर्त = १ अहोरात्र।

यह यज्ञादि में प्रशस्त कुतुप अभिजित् आदि मुहूर्त के ज्ञान के लिये मात्रा से कालमान माना गया है।

३० अहोरात्र = १ मास। १२ मास = १ वर्ष। वर्ष चार प्रकार के होते हैं—उनमें मुख्य वर्ष 'सौर' है। सौर वर्ष से ही युग आदि की कल्पना की गयी है।

सूर्यसिद्धान्त में ९ प्रकार के कालमान कहे गये हैं। यथा—

"ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव।
चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौर-चान्द्रार्क्ष-सावनैः।
बार्हस्पत्येन षष्ट्यब्दा नान्यमानेन केनचित् ॥"

(१) ब्राह्म, (२) दिव्य, (३) पित्र्य, (४) प्राजापत्य (मनु), (५) बार्हस्पत्य, (६) सौर, (७) चान्द्र, (८) सावन तथा (९) नाक्षत्र। इनमें लौकिक व्यवहारार्थ सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र—येही चार मान लिये जाते हैं। बार्हस्पत्य मान केवल प्रभवादि संवत्सरों के सुभिक्ष, दुर्भिक्षादि फल में ही प्रयुक्त होता है। ये पाँच मान आगे स्पष्ट रूप से बताये गये हैं।

सौर वर्ष से 'युग' तथा युगों से 'मनु' एवं ब्राह्म मान बताये गये हैं। यथा—

४३,२०,००० वर्ष = १ युग। इस युग में धर्म के १० चरण होते हैं, तदनुसार इसके ४ भाग किये गये हैं। प्रथम, कृतयुग=धर्म ४ चरण,=१७,२८,००० वर्ष। द्वितीय, त्रेता युग=धर्म ३ चरण,= १२,९६,००० वर्ष। तृतीय, द्वापर युग=धर्म २ चरण,=८,६४,००० वर्ष। चतुर्थ, कलियुग=धर्म १ चरण, ४,३२,००० वर्ष। ये चारों युगचरण कहलाते हैं। केवल 'युग' शब्द से 'महायुग'=४३,२०,००० वर्ष का ही बोध होता है।

प्राजापत्य (मनुमान)=७१ युग=१ मनु। सन्धि सहित १४ मनु=१ कल्प। कल्पादि मनु के प्रारम्भ में भी १ सन्धि=सन्ध्या होती है जिसका मान:—

कृतयुग=$\frac{४}{१०}$ युग। तथा १४ मनु के अन्त में १४ सन्धियाँ। इस प्रकार:—

१ कल्प=१४ मनु + १५ सन्धि=१४×७१ युग + १५ × $\frac{४}{१०}$ युग= १००० युग = १ ब्रह्म दिन।

ब्रह्मदिनान्त में चराचर विश्व का प्रलय हो जाता है और वह प्रलय भी १ कल्प=१००० युग तक रहता है। इस प्रकार २ कल्प= ब्रह्मा का १ अहोरात्र। इस अहोरात्र से ३६० अहोरात्र=७२० कल्प का ब्रह्मा का १ वर्ष होता है। इस वर्ष मान से ब्रह्मा का जीवन काल=१०० वर्ष होता है, जो 'महाकल्प' कहलाता है इसी को 'पर' और इसके आधे को 'परार्द्ध' कहते हैं। यही 'साकार ब्रह्म' नाम से भी कहा जाता है। एक महाकल्प (ब्रह्मा) के बाद पुन: द्वितीय, तृतीय ब्रह्मा होते रहते हैं और अनादि काल से अनन्त ब्रह्मा हो चुके हैं।

एक-एक महाकल्प के भीतर ही सृष्टि और लय हुआ करते हैं। यथा, कहा है:—

"काल: पचति भूतानि सर्वाण्येव सहात्मना।
कान्ते स पक्वस्तेनैव सहाव्यक्ते लयं व्रजेत् ॥"

अर्थात्— यही महाकल्प रूप 'काल' इस चराचर विश्व का उद्भव, पालन करता हुआ, अन्त में ब्रह्मा के साथ ही 'अव्यक्त महा-काल' में लीन हो जाया करता है।

आगम से पता चलता है कि वर्तमान महाकल्प (ब्रह्मा) के ५० वर्ष बीत चुके हैं। ५१ वें वर्ष का यह प्रथम कल्प (दिन) है, जिसमें सन्धि सहित ६ मनु बीत चुके हैं। ७ वे मनु के भी २७ युग बीत गये। २८वें युग के कृत, त्रेता, द्वापर ये तीन चरण व्यतीत हो चुके हैं। शाक संवत्सर के आरम्भ में कलियुग के ३,१७९ वर्ष बीत गये थे। अतः किसी भी 'शाक वर्ष' में ३,१७९ जोड़ने से कलियुग के गत वर्ष मान हो जायेंगे। यथा—१८९० शाके में, कलि गत वर्षमान=३१७९ + १८९०=५०६९ वर्ष।

दिव्यमान

सूर्य का मेषादि १२ राशियों का भोग काल=१ सौर वर्ष। १ सौर वर्ष=देवों (उत्तरी ध्रुवस्थान वासियों) तथा दैत्यों (दक्षिणी ध्रुवस्थान वासियों) का १ दिव्य दिन। ३६० दिव्य दिन=१ दिव्य-वर्ष देवों का आयुर्दाय माना गया है।

पित्र्य मान—

अमान्त से अमान्त (एक चान्द्रमास) पितरों (चन्द्र मण्डल वासियों) का १ दिन। अमान्त में देवों का मध्य दिन और पूर्णिमान्त में मध्य रात्रि होती है। शुक्लपक्ष साढ़े सप्तमी में सूर्योदय और कृष्णपक्ष साढ़े सप्तमी में सूर्यास्त होते हैं।

इनके अतिरिक्त ५ मानों का आगे स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

काल के अन्य भेद—

इनके अतिरिक्त भी काल के अनन्त भेद होते हैं। जिनमें कुछ मुख्य भेदों और उनके कारणों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है—

महाप्रलय के बाद सर्वप्रथम सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि आकाशस्थ ग्रहों और नक्षत्रों की सृष्टि होती है। यथा श्रुति—

"अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्॥"

अर्थात् इन आकाशस्थ तेजोमय पिण्डों में सर्वप्रथम सूर्य की सृष्टि होती है। उन्हीं (सूर्य) के द्वारा ही समस्त विश्वस्थ पदार्थों के सञ्चालन, पालन होते हैं और काल में प्रतिक्षण भेद होते हैं। कहा भी गया है—

"चक्रवत् परिवर्तेत कालः सूर्यवशात् सदा।"

अर्थात् आकाशस्थ नक्षत्र चक्र (भगोल) में सूर्य के परिभ्रमण से काल में सदैव विलक्षणता होती रहती है।

ग्रह और नक्षत्र—

आकाश में जितने तेजोमय पिण्ड देखने में आते हैं उनके दो भेद हैं। जिनके स्थान स्थिर हैं वे 'नक्षत्र' और जिनके स्थान चञ्चल हैं वे 'ग्रह' कहलाते हैं। इन नक्षत्रों और ग्रहों में कुछ 'शुभ-रश्मि' और कुछ 'अशुभ रश्मि' हैं। भचक्र के २७ विभाग हैं जो 'अश्विनी' आदि नाम से प्रशस्त हैं। भारतीय ज्यौतिष विज्ञान-वेत्ताओं ने अनेक ग्रहों में केवल ७ ग्रहों को ही मुख्य माना है। इन ग्रहों में 'सूर्य' प्रधान हैं। सूर्य की रश्मि से ही समस्त विश्व प्रभावित है। इसलिये श्रुति वाक्य है—

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"

इन्हीं ग्रहों और नक्षत्रों के शुभाशुभ रश्मियों के परस्पर सम्पर्क से काल में प्रतिक्षण विलक्षणता होती रहती है। पृथ्वी के ऊपर क्रम से चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति, शनि—इन ७ ग्रहों के कक्षा-गोल हैं। सबसे ऊपर भचक्र नक्षत्र गोल है। ग्रहों की कक्षा की दूरी तो गणित द्वारा जानी जाती है, किन्तु नक्षत्र कक्षा की दूरी गणित से बाहर है।

एवम् नक्षत्र, ७ ग्रह और पृथ्वी के भ्रमणवश काल के ९ भेद होते हैं। जैसे—

(१) नक्षत्र चक्र के भ्रमण वश जो वैलक्षण्य होता है वह 'नाक्षत्र काल' कहलाता है।

(२) पृथ्वी के भ्रमण से सूर्य के उदयास्त वश जो काल में वैलक्षण्य होता है वह 'भूमि सावन' तथा 'सूर्य सावन' दिन कहलाता है। वह 'सावनमान' से प्रसिद्ध है।

(३) प्रत्येक नक्षत्र और सूर्य के किरण सम्पर्क वश जो विलक्षणता होती है वह 'सौर काल।'

(४) सूर्य और चन्द्र के अन्तर से जो चन्द्रमा के शुक्ल में ह्रास-वृद्धि होती है उससे जो वैलक्षण्य होता है वह 'चान्द्रकाल।'

(५) मङ्गल और नक्षत्र रश्मि सम्पर्क वश जो वैलक्षण्य होता है वह 'माङ्गल्य काल।'

(६) बुध और नक्षत्र के किरणों से जो विलक्षणता होती है वह 'बौधकाल।'

(७) गुरु और नक्षत्र रश्मियों के सम्पर्क से जो वैलक्षण्य होता है 'गौरव काल।'

(८) शुक्र और नक्षत्र रश्मियों के सम्पर्क से जो वैलक्षण्य होता है वह 'शौक्र काल।'

(९) शनि और नक्षत्र रश्मि वश जो वैलक्षण्य होता है वह 'मान्द काल' कहलाता है।

अतएव विभिन्न संहिताकारों ने इन काल के अङ्गों में ५ अङ्गों को ही प्रधान मान कर शुभा-शुभ फल का आदेश किया है।

अथ पञ्चाङ्ग निरूपण

भारतीय विज्ञान वेत्ता महर्षियों ने त्रुटि आदि काल के अनन्त अवयवों में पाँच को ही प्रधान मान कर समय के शुभाशुभत्व का निर्णय किता है। यथा एक महर्षि ने—

"वर्षायनर्तवो मासो दिनं चेत्यङ्गपञ्चकम् ।
कालस्य व्यवहारार्थं लोके कैश्चित् प्रकीर्तितम् ।।"

भूमण्डल में व्यवहार के लिए काल के वर्ष, अयन, ऋतु, मास और दिन – इन पाँच अङ्गों को ही प्रधान माना है ।

तथा दूसरे ने—

"वर्षं मासो दिनं लग्नं मुहूर्तश्चेति पञ्चकम् ।
पञ्चाङ्गं कथितं तस्य शुद्ध्यशुद्धी निरूपिते ।।"

वर्ष, मास, दिन, लग्न और मुहूर्त इनका पञ्चाङ्ग नाम रखकर उसके शुभाशुभत्व का विचार किया है ।

एवं तीसरे महर्षि ने—

'तिथिर्वारश्च नक्षत्रं योगः करणमेव च ।
पञ्चाङ्गं कथितं विज्ञैस्तत्स्वरूपं निरूप्यते ।"

वस्तुतः काल के समस्त अङ्गों को पञ्चाङ्ग शब्द से कहा गया है । जैसे किसी महर्षि का वचन—

यथाखिलेन्द्रियजन्तोः पञ्चेन्द्रियमुदीर्यते ।
तथा कालस्य सर्वाङ्गं पञ्चाङ्गमिति कथ्यते ।।

अर्थात् जैसे जन्तुओं की समस्त इन्द्रियों को 'पञ्चेन्द्रिय' कहते हैं उसी प्रकार काल के समस्त अङ्ग 'पञ्चाङ्ग' नाम से समझे जाते हैं ।

सम्प्रति अधिकांश विज्ञजन तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण को ही प्रधान मानते हैं । अतः इन सबके स्वरूप और शुभाशुभत्व का निरूपण किया जाता है ।

[१] वर्ष निरूपण—

वर्ष—सौर, चान्द्र, सावन तथा बार्हस्पत्य- ४ प्रकार के होते हैं । उनके स्वरूप और भेद इस ग्रन्थ के द्वितीय रत्न 'समयशुद्धि विवेक' में विस्तार (स्पष्ट रूप) से बताये गये हैं । सौर वर्ष देवों (उत्तरी ध्रुव स्थान वासियों) और दैत्यों (दक्षिणी ध्रुव स्थान वासियों)

का अहोरात्र होता है। समस्त कार्यों में सौर और चान्द्रमानों का व्यवहार होता है। यज्ञ, प्रायश्चित्त, सूतक तथा कर्मचारियों के वेतन देने में 'सावन मान' का व्यवहार होता है। पृथ्वी पर सामूहिक रूप से सुभिक्ष और दुर्भिक्ष आदि फल का विचार 'बार्हस्पत्य संवत्सर' से होता है। बार्हस्पत्य मान में मास और दिन नहीं लिये जाते हैं। उक्त वर्षों में 'सावन वर्ष' सर्वदा एक रूप (शुद्ध) ही रहता है। सौर, चान्द्र और बार्हस्पत्य वर्ष में स्पष्ट गुरु के चार वश 'अधिक' तथा 'क्षय' (न्यून) वर्ष भी होते हैं। जिनके लक्षण सोदाहरण इस पुस्तक के 'समय शुद्धि विवेक' में दिखलाये गये हैं।

लोग पञ्चाङ्गों में बार्हस्पत्य संवत्सरों के नाम और फल लिखा करते हैं अतः सर्वसाधारण जनता के सुबोधार्थ इस रत्न में भी उनके स्वरूप और भेद लिख दिये जाते हैं।

बृहस्पति की मध्यम गति ५ कला है, तदनुसार एक राशि में भोगकाल १ वर्ष होता है। यही बार्हस्पत्य संवत्सर कहलाता है। कहा भी है—

"बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् संवत्सरं सांहितिका वदन्ति।"

तथा—

"कल्पादितो मध्यमजीवभुक्ता ये राशयः षष्टिहृतावशेषाः।
संवत्सरास्ते विजयाश्विनाद्या इतीज्यमानं किल संहितोक्तम्॥"

अर्थ स्पष्ट है। मध्यम गति से एक एक राशि भोगकाल विजय-आदि नामक ६० संवत्सर होते हैं। नीचे चक्र में देखिये—

इसके मेष आदि (अश्विनी आदि नक्षत्राधिष्ठान) के सम्बन्ध से १२ भेद होते हैं। १२ राशि (पूरे भ-चक्र) में भ्रमण के बाद बृहस्पति पुनः मेषादि में आ जाता है। मेष आदि राशि सम्बन्ध से इनके आश्विन आदि १२ नाम हैं। यथा—

"मेषादिस्थे गुरौ यो यो वत्सरः परिपूर्यते।
शुद्धः संवत्सरः स स्यादाश्विनादिकसंज्ञकः॥"

मेष आदि राशि में रहते हुए गुरु के जिस संवत्सर की पूर्ति (समाप्ति) होती है उसके आश्विन आदि नाम होते हैं।

तथा शुभ और अशुभ ग्रहों की रश्मियों के सम्पर्क से इसके साठ (६०) भेद होते हैं। जो 'विजय' आदि नाम से सिद्धान्त ज्यौतिष में कहे गये हैं। पश्चात् संहिताकारों ने इसकी गणना शाकारम्भ काल से की है। शाकारम्भ काल में (कुम्भ राशि सम्बन्धी) 'प्रभव' नामक संवत्सर था अतः प्रभव आदि ६० संवत्सरों को २०, २० वर्ष में विभक्त कर, क्रम से तीन (ब्रह्म, विष्णु, रुद्र) विंशतिका नाम से पठित किया है। आगे चक्र में स्पष्ट देखिये—

मेषादि राशिस्थित स्पष्ट गुरु के सम्बन्ध से आश्विनादि १२ संज्ञायें—

१ मेषस्थ गुरु	संवत्सरान्त	आश्विन
२ वृषस्थ गुरु	,,	कार्तिक
३ मिथुन गुरु	,,	मार्गशीर्ष
४ कर्कस्थ गुरु	,,	पौष
५ सिंहस्थ गुरु	,,	माघ
६ कन्यास्थ गुरु	,,	फाल्गुन
७ तुलास्थ गुरु	,,	चैत्र
८ वृश्चिकस्थ गुरु	,,	वैशाख
९ धनुस्थ गुरु	,,	ज्येष्ठ
१० मकरस्थ गुरु	,,	आषाढ़
११ कुम्भस्थ गुरु	,,	श्रावण
१२ मीनस्थ गुरु	,,	भाद्रपद

मध्यम गुरु राशि भोग से स्थिर प्रभवादि ६० संज्ञायें—

ब्रह्मविंशतिका	विष्णुविंशतिका	रुद्रविंशतिका
१ प्रभव	२१ सर्वजित्	४१ प्लवङ्ग
२ विभव	२२ सर्वधारी	४२ कीलक
३ शुक्ल	२३ विरोधी	४३ सौम्य
४ प्रमोद	२४ विकृत	४४ साधारण
५ प्रजापति	२५ खर	४५ विरोधकृत्
६ अङ्गिरा	२६ नन्दन	४६ परिधावी
७ श्रीमुख	२७ विजय	४७ प्रमादी
८ भाव	२८ जय	४८ आनन्द
९ युवा	२९ मन्मथ	४९ राक्षस
१० धाता	३० दुर्मुख	५० नल
११ ईश्वर	३१ हेमलम्ब	५१ पिङ्गल
१२ बहुधान्य	३२ विलम्ब	५२ कालयुक्त
१३ प्रमाथी	३३ विकारी	५३ सिद्धार्थ
१४ विक्रम	३४ शर्वरी	५४ रौद्र
१५ वृष	३५ प्लव	५५ दुर्मति
१६ चित्रभानु	३६ शुभकृत्	५६ दुन्दुभि
१७ सुभानु	३७ शोभन	५७ रुधिरोद्गारी
१८ तारण	३८ क्रोधी	५८ रक्ताक्ष
१९ पार्थिव	३९ विश्वावसु	५९ क्रोधन
२० व्यय	४० पराभव	६० क्षय

प्रश्न—संवत्सर के ६० ही भेद क्यों होते हैं ?

उपपत्ति—भचक्र में भ्रमण करता हुआ समीप और दूरस्थ शुभ और अशुभ ग्रहों के किरण-सम्पर्क से संवत्सरों के फल में भेद होते रहते हैं। शुभ ग्रहों में प्रबल बृहस्पति तथा पापग्रहों में प्रबल शनि है। शनि की मध्यम गति २ कला है। अतः भ-चक्र (१२ राशि)

भोग करने में शनि को ३० वर्ष लगते हैं और बृहस्पति को मध्यम गति (५ कला) के अनुसार भ-चक्र के भोग में १२ वर्ष लगते हैं। सृष्टयादि में बृहस्पति और शनि—दोनों मेषादि बिन्दु में थे, ३० और १२ का लघुतम अपवर्त्य ६० होता है अतः प्रत्येक ६० वर्ष पर दोनों—शनि और बृहस्पति—भ-चक्र में भ्रमण करते हुए, मेषादि विन्दु में एक साथ हो जाते हैं। इसलिये भारतीय संहिताकारों ने इनके फलानुसार 'विजय' आदि ६० तथा राशि सम्बन्ध से आश्विन आदि १२ संज्ञा रखी। ये सदा स्थिर (एकरूप) रहते हैं।

शक संख्या जानकर बार्हस्पत्य संवत्सर की संख्या और वर्तमान नाम जानने का प्रकार—

"शकेन्द्रकालः पृथगाकृतिघ्नः शशाङ्कनन्दाश्वियुगैः समेतः।
शराद्रिवस्वद्रिहृतः सलब्धः षष्ट्याप्तशेषे प्रभवादयोऽब्दाः॥"

जिस शाके में बार्हस्पत्य संवत्सर का नाम जानना हो उस शाके की संख्या को अलग रख कर, २२ से गुणा करके, गुणनफल में ४२९१ जोड़ दे। फिर उसमें १८७५ का भाग देकर, वर्ष-मास आदि जो लब्धि हो, उसको अलग रखे हुए शाक संख्या में जोड़ कर, ६० से तष्टित करने से, शाकारम्भ-समय में प्रभव आदि षष्टि संवत्सर के भुक्त वर्षादि समझें। भुक्त वर्षादि को ६० में घटाने से भोग्य वर्षादि होता है।

उदाहरण—शाके १८८६ के आरम्भ समय में कितने बार्हस्पत्य संवत्सर बीत गये और कौन वर्तमान है? वर्तमान के भी कितने मासादि बीत गये हैं? इसे जानने के लिये—

शाक संख्या १८८६ को २२ से गुणा करने से=४१४९२, इसमें ४२९१ जोड़ने से=४५७८३, इसमें १८७५ का भाग देकर लब्धि वर्षादि=५०।५।०।२०।९ अर्थात् प्रभवादि ६० संवत्सरों में ५० बीत चुके; ५१ वाँ के भुक्त मासादि ५।०।२०।९ इसको व्यवहारोपयोगी संवत्सर मानकर, १२ मास में घटाने से वर्तमान 'पिङ्गल'

नामक ५१ वाँ संवत्सर के भोग्य मासादि = ६।२९।३९।५१ हुआ। अर्थात् इतने राश्यादि ६।२९।३९।५१ सूर्य होने पर, ५१ वें संवत्सर की पूर्ति होगी—यह सिद्ध हुआ।

विशेष—

जिस वर्ष में गुरु के अतीचार की सम्भावना हो उस वर्ष संवत्सर का मान मासादि १२।१।२।४।४५ मानकर भोग्य बनाना चाहिये।

इस प्रकार शाके १८८६ में भोग्य मासादि तुल्य राश्यादि सूर्य ६।२९।३९।५१ के समय पर गुरु मेष राशि में हैं, अतः उसकी 'आश्विन' संज्ञा हुई। इस प्रकार आगे यदि संवत्सरों की पूर्ति (समाप्ति) समय में गुरु वृष आदि राशि में हो तो शुद्ध कार्तिक आदि नामक संवत्सर होते हैं।

उनके गुरु के चार वश 'शुद्ध', 'लुप्त' और 'अधिक'—ये तीन भेद होते हैं। यथा—

"स्फुटेज्येऽजादिगे यो यो वत्सरः परिपूर्यते।
शुद्धः संवत्सरः स स्यादाश्विनादिक-संज्ञकः॥
पूर्त्यभावे क्षयाख्यः स्यात् पूर्तिद्वित्वेऽधिकोऽग्रिमः।
शुद्धः संवत्सरो ग्राह्यः शुभे, त्याज्यौ क्षयाधिकौ॥"

मेष आदि राशिस्थ स्पष्ट बृहस्पति में बार्हस्पत्य संवत्सर की पूर्ति (अन्त) होने से क्रमशः आश्विन आदि नामक शुद्ध संवत्सर होते हैं। कदाचित् किसी राशि में संवत्सर की पूर्ति (समाप्ति) नहीं हो तो वह 'लुप्त' संज्ञक होने के कारण लुप्त संवत्सर कहलाता है। यदि किसी एक ही राशिस्थ गुरु में २ संवत्सर की पूर्ति हो जाय तो दोनों का एक ही नाम होता है। उनमें प्रथम 'शुद्ध' और अग्रिम 'अधिक' संवत्सर कहलाता है। शुभ कार्य में शुद्ध का ग्रहण और लुप्त तथा अधिक संवत्सरों का त्याग करना चाहिये। वह किस देश में और वहाँ भी कितना त्याज्य है— इसके लिये 'समय शुद्धि विवेक' देखिये।

संवत्सरारम्भ काल जानने का प्रयोजन—

वर्ष के आरम्भ काल में जो रवि आदि वार रहता है वही उस वर्ष का स्वामी (अधिपति) होता है। तथा वर्ष के आरम्भ काल में लग्न और ग्रहों की जो स्थिति रहती है तदनुसार उस वर्ष का शुभाशुभ फल संहिता ग्रन्थों में कहा गया है। अतः चारों प्रकार के वर्षारम्भ काल से फल समझ कर, तदनुसार तारतम्य से वर्ष का फलादेश करना चाहिये। इन चार प्रकार के वर्षों में चान्द्र वर्ष में सावन दिन संख्या कम है और सौर वर्ष में सबसे अधिक है। यथा—

चान्द्र वर्ष में सावयव ३५४ दिन। सावन वर्ष में सावयव ३६० दिन।

बार्हस्पत्य वर्ष में सावयव ३६१ दिन। सौर वर्ष में सावयव ३६५ दिन। इस लिए प्रथम चान्द्र वर्ष की प्रवृत्ति होने के कारण चान्द्र वर्ष का अधिपति वर्षेश (राजा) माना गया है। और सौर वर्ष का अधिपति मन्त्री तथा अन्य ग्रह भी वर्ष के फल में अन्य अधिकारी माने गये हैं यथा--

वर्षेश—

'चैत्रे शुक्लप्रतिपदि यो वारोऽर्कोदये स वर्षेशः।
उदयद्वितये पूर्वो नोदययुगलेऽपि पूर्वः स्यात् ॥"

चैत्र शुक्ल सूर्योदयव्यापिनी प्रतिपदा में जो वार रहता है वह उस वर्ष का अधिप (राजा) होता है। यदि दो दिन उदयव्यापिनी प्रतिपदा हो तो पूर्व दिन का वारेश; यदि किसी भी दिन सूर्योदयव्यापिनी प्रतिपदा न हो तो भी पूर्व दिन का वारेश ही वर्षेश होता है। मकरन्द में वर्ष में शुभा-शुभ फलदायक वर्षेश आदि सात अधिकारी बताये हैं। यथा--

"चैत्रादि-मेषादि-कुलीर-तौलि-मृगाननार्द्रा-धनुरादि-वाराः ।
राजा-चमू-सस्य-रसाधिनाथाःस्युर्नीरसेशाम्बुधि-धान्य-नाथाः॥"

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का वार राजा, मेषार्क संक्रान्ति का वार मन्त्री, कर्क संक्रांति का वार पूर्वधान्येश, तुला संक्रांति का वार रसेश, सिंह संक्रांति का वार नीरसेश, आर्द्राप्रवेशकालिक वार मेघेश, धनु संक्रान्ति का वार अग्रधान्येश होते हैं।

इनमें शुभ ग्रह अधिकारी शुभ फल और पाप ग्रह अधिकारी अशुभ फल करते हैं। यदि सब शुभ ग्रह हों तो उत्तम; दोनों बराबर हों तो मध्यम, अधिक अधिकारी पापग्रह हों तो अधम फल समझना चाहिए। इनमें वर्षेश और मन्त्री के शुभाशुभत्व प्रबल बताये गये हैं।

वर्षेश निर्णय में विशेष—

"कैश्चिच्चैत्रेऽधिके प्रोक्तो वर्षेशोऽधिकचैत्रतः।
इति युक्तमतो वर्षारम्भस्तन्निकटाद्भवेत् ॥"

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का वारेश राजा कहा गया है। कदाचित् चैत्र अधिमास होने पर दो चैत्र संज्ञक मास होते हैं। उनमें अधिक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के सन्निकट से वर्ष (सौर वर्ष) के प्रारम्भ होने के कारण अधिक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के वार को ही वर्षेश मानना चाहिये—यह युक्तियुक्त भी है।

परन्तु उत्तर भारत में चैत्रादि मास में अनर्थकारी भ्रम है। यहाँ प्रमादवश फाल्गुनाधिमास को ही मास-लक्षणानभिज्ञ जन चैत्र अधिमास समझते हैं, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। चैत्र अधिमास तो तब होता है जब मेषस्थ सूर्य में दो अमान्त हों; उनमें प्रथम शुद्ध चैत्र, द्वितीय अधिचैत्र। इस स्थिति में प्रथम (शुद्ध चैत्र) मीनस्थ सूर्य में ही बीत जाता है। अधिक चैत्र मेष संक्रान्ति होने के बाद कुछ ही घड़ी से आरम्भ होता है और समस्त मेषस्थ सूर्य तक रहता है। यह प्रत्येक विज्ञजन जानते हैं और प्रत्यक्ष पञ्चाङ्ग देखकर जान सकते हैं। मेषादि से मीनान्त तक सूर्य का भोग वर्ष कहलाता है। जैसे,

शुद्ध, और अधि चैत्रमास का लक्षण—

"मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः ।
चैत्राद्यः स ज्ञेयः पूर्तिद्वित्वेऽधिमासोऽन्त्यः ॥"

विशेष विवरण के लिए 'समय शुद्धि विवेक' देखिये ।

भ्रान्तिदर्शन—

गत संवत् २०२०, शाके १८८५ में मीनस्थ सूर्य में दो अमान्त हुए थे । उनमें प्रथम शुद्ध फाल्गुन और द्वितीय अधिमास (अधिक फाल्गुन) था जिसको अन्धविश्वासी अनभिज्ञ पञ्चाङ्गकारों ने प्रथम चैत्र लिख दिया—वह कुछ लोगों में अन्धपरम्परा बन गयी । मास वृद्धि (द्वित्व) होने से ही अधिमास कहलाता है । वृद्धि सदा मास के आगे ही होती है, पीछे नहीं । इस लिए जिसके पीछे शुद्ध फाल्गुन है और आगे शुद्ध चैत्र है, वह बीच का संक्रान्तिहीन मास किसका 'मल' समझा जायगा ? यह विवेकशील जन अब भी विचार करके देखें, और फाल्गुन के 'मल' को चैत्र समझ कर वहीं से वर्षारम्भ को शास्त्रविरुद्ध होने से धर्मघातक समझकर, इस प्रकार के पञ्चाङ्ग को अमान्य घोषित करें । अन्यथा अल्पज्ञ लोगों के लिये वह दृष्टान्त बना रह जायगा और विज्ञजनों के साथ विवाद उपस्थित हुआ करेगा ।

[इति संवत्सर निरूपण]

——:o:——

[२] अयन-निरूपण

एक सौर वर्ष में दो अयन होते हैं । सूर्य का उत्तर चलन 'सौम्यायन' और दक्षिणचलन 'याम्यायन' कहलाता है ।

"भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्कसंक्रान्तितश्चैवं षण्मासा दक्षिणायनम् ॥"

सूर्य की मकर संक्रान्ति से छ मास 'सौम्यायन', और कर्क संक्रान्ति से छ मास 'याम्यायन' होता है ।

"सौम्यं देवदिनं तत्तु याम्यं दैत्यदिनं स्मृतम् ।
कुर्याद्याम्यायनेऽप्युग्रं कर्म सौम्यायने शुभम् ॥"

सौम्यायन देवताओं का और याम्यायन दैत्यों का दिन होता है। उग्रकर्म तो याम्यायन में भी होता है शुभ कर्म सौम्यायन में ही करना चाहिए। क्योंकि—

"सौम्येऽयने भवत्यर्कः सुरश्मिश्च शुभप्रदः ।
असौ याम्यायने गच्छन् विरश्मिर्विबलस्तथा ॥"

सौम्यायन में सूर्य स्वच्छ किरण और शुभप्रद होता है। दक्षिणायन में वह विकृत रश्मि होने के कारण निर्बल हो जाता है।

[इति अयननिरूपण]

—:०:—

[३] ऋतुनिरूपण

"मीनादि-द्विद्विराशिस्थे सूर्ये षट् चर्तवः स्मृताः ।
क्रमाद् वसन्तो ग्रीष्मश्च वर्षर्तुश्च शरत् तथा ॥
हेमन्तः शिशिरश्चेति विज्ञेयाः सौरमानतः ।
एवं चैत्रादिमासाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथैन्दवाः ॥"

मीनादि दो-दो राशियों में सूर्य के रहने से क्रमशः (१) वसन्त, (२) ग्रीष्म, (३) वर्षा, (४) शरद्, (५) हेमन्त और (६) शिशिर—ये छ ऋतुएँ सौरमान से होती हैं। इसी प्रकार चैत्रादि दो-दो चान्द्रमासों की वसन्तादि छ चन्द्र ऋतुएँ होती हैं।

विन्ध्य से उत्तर सौर ऋतु और विन्ध्य से दक्षिण चान्द्र ऋतु व्यवहृत है।

"चैत्रादि-द्विद्विमासाभ्यां वसन्ताद्दतवश्च षट् ।
दाक्षिणात्याः प्रशंसन्ति दैवे पैत्र्ये च कर्मणि ॥"

सौर मान से छ ऋतुओं को देवकर्म में और चान्द्र मान से छ ऋतुओं को पितृकर्म में दाक्षिणात्य प्रशस्त मानते हैं।

ऋतुओं के स्वामी—

भृगोर्वसन्तः क्षितिसूनु-भान्वोर्ग्रीष्मः शशाङ्कस्य तथा प्रवर्षाः।
विदः शरद्देवगुरोस्तु हेमन्तर्तुः शनेः स्याच्छिशिरश्च कालः॥"

शुक्र का वसन्त, मङ्गल तथा सूर्य का ग्रीष्म, चन्द्रमा का वर्षा, बुध का शरद, गुरु का हेमन्त और शनि का शिशिर कहा गया है।

वेदादि में प्रतिपादित चान्द्र ऋतु में अन्य भी विशेषताएँ—

जब तक सौर वर्ष (१२ सूर्य संक्रान्ति) में १२ दर्शान्त होते हैं तब तक दो-दो सौर और दो-दो चान्द्र मास की ऋतुएँ भी होती हैं। जब अधिमास होता है तब १२ सूर्य संक्रांति में १३ अमान्त होते हैं अतः १३ चन्द्रमास होने से एक ऋतु ३ मास की भी हो जाती है। इस प्रकार चान्द्र ऋतु चञ्चल और सौर ऋतु सदा स्थिर (एक रूप) रहती है। इस लिए भास्कराचार्य ने कहा है—

"वर्षायनर्तु-युगपूर्वकमत्र सौरा-
न्मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात्।
यत् कृच्छ्र-सूतक-चिकित्सितवासराद्यं
तत् सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात्॥"

अर्थ स्पष्ट है।

[इति ऋतु निरूपण]

——:o:——

[४] अथ मासनिरूपण

"मासश्चतुर्विधः सौरश्चान्द्रश्चार्क्षश्च सावनः।
सौरो मासस्तु सूर्यस्य संक्रमात् संक्रमावधिः॥

दर्शाद् दर्शावधिश्चान्द्रः सावनः ख-त्रि-वासरैः ।
भदिनत्रिंशता मासो नाक्षत्रः परिकीर्तितः ॥"

मास—सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और सावन-चार प्रकार के होते हैं। सूर्य की एक राशि संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति पर्यन्त सौर, दर्शान्ति से दर्शान्ति पर्यन्त ३० तिथियों का एक चान्द्रमास कहलाता है जो चन्द्रमण्डलवासियों का एक अहोरात्र होता है। ३० सावन (सूर्योदय से सूर्योदय तक) दिन का एक सावन मास और ३० नाक्षत्र दिनों का एक नाक्षत्र मास होता है।

दर्श और नाक्षत्र दिन—

"स्पष्टसूर्येन्दुसंयोगो दर्शोऽमान्तः स कथ्यते ।
भचक्रभ्रमणं चैकं भदिनं कथितं बुधैः ॥"

स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा का संयोग (पूर्वापरान्तराभाव) दर्शान्ति कहलाता है उसीको अमान्त भी कहते हैं। तथा भ-चक्र (नक्षत्रमण्डल) का एक भ्रमण (अर्थात् क्षितिज में नक्षत्र के उदय से द्वितीय उदय पर्यन्त) एक नाक्षत्र दिन कहलाता है। यह नाक्षत्र दिन सदा एकरूप रहता है। इसमें ३६०० पल=२१६०० असु होते हैं। इस नाक्षत्र अहोरात्र में सूर्य की मध्यमगति कलातुल्य जोड़ देने से मध्यमार्क सावन दिन होता है। जिसके द्वारा मध्यम ग्रहादि का आनयन किया जाता है। यह नाडीवृत्तीय मध्यमार्क सावन कहलाता है। इससे अतिरिक्त क्रान्तिवृत्तीय मध्यमार्क सावन और स्पष्टार्क सावन होते हैं—जिनका विवरण अन्य रत्न में दिया गया है।

चान्द्र मासों के चैत्र आदि नाम—

मेषादि सूर्य-संक्रान्ति-योग से उक्त चान्द्रमास के चैत्र आदि १२ नाम होते हैं। यथा—

"मेषगरविसंक्रान्तिः शशिमासे भवति यत्र चैत्रोऽसौ ।
एवं वैशाखाद्या वृषादिसंक्रान्तियोगेन .... ॥"

जिस चान्द्रमास में (दो अमान्त के बीच) सूर्य की मषादि राशिसंक्रान्ति हो उसकी चैत्रादि संज्ञा होती है।

द्वितीय वाक्य में लक्षण—

"आरम्भो मीनगे यस्य समाप्तिर्मेषगे रवौ।
स चान्द्रश्चैत्र इत्येवं वैशाखाद्या अपि क्रमात्॥"

जिस चान्द्रमास का आरम्भ (शुक्ल प्रतिपदा) मीनस्थ सूर्य में और समाप्ति (अमान्त) मेषस्थ सूर्य में हो वह शुद्ध चैत्रमास कहलाता है। इसी प्रकार वैशाखादि का भी लक्षण समझना।

"अन्यथा मलमासः स्याच्छुभकर्मसु गर्हितः।
अधिमासो विसंक्रान्तिर्द्विसंक्रान्तिः क्षयाभिधः॥"

अर्थ स्पष्ट है।

इस प्रकार चैत्र आदि के नाम के तीन लक्षण हुए— (१) मीनादि राशिस्थ सूर्य में आरम्भ। (२) मेषादि राशिस्थ सूर्य में समाप्ति। (३) जिसमें सूर्य की मेषादि राशि की संक्रान्ति हो इन तीनों लक्षणों से युक्त मासों के नाम चैत्र आदि १२ होते हैं।

क्षय-अधिक संज्ञा—

"चान्द्रस्य सौरसंख्यातोऽधिकत्वेऽधिकमासकः।
वर्षे कदाचिदल्पत्वात् क्षयसंज्ञ उदाहृतः॥"

जब तक वर्ष (१२ सौर मास) के भीतर मेषादि संक्रान्ति की संख्या के तुल्य दर्शान्त (अमान्त) की संख्या रहती है तब तक शुद्ध मास समझे जाते हैं। जब कभी वर्ष (मेषादि-मीनान्त संक्रान्ति) के भीतर संक्रान्ति-संख्या से अमान्त-संख्या अधिक हो जाती है तब वह अधिक (अथवा मल) मास कहलाता है। एवं यदि १ सौर वर्ष के भीतर ही संक्रान्ति-संख्या से अमान्त-संख्या अल्प (एक कम) हो जाती है तब वह क्षय (लुप्त) मास कहलाता है।

मेषादिस्थ सूर्य में मासपूर्ति (अमान्त) होने से शुद्ध मासों का स्वरूप—

संक्रान्ति संख्या	अमान्त संख्या	मास नाम
१ मेषार्क संक्रान्ति	१ अमान्त	=चैत्र
२ वृषार्क संक्रान्ति	२ अमान्त	=वैशाख
३ मिथुनार्क संक्रान्ति	३ अमान्त	=ज्येष्ठ
४ कर्कार्क संक्रान्ति	४ अमान्त	=आषाढ
५ सिंहार्क संक्रान्ति	५ अमान्त	=श्रावण
६ कन्यार्क संक्रान्ति	६ अमान्त	=भाद्रपद
७ तुलार्क संक्रान्ति	७ अमान्त	=आश्विन
८ वृश्चिकार्क संक्रान्ति	८ अमान्त	=कार्तिक
९ धनुरर्क संक्रान्ति	९ अमान्त	=मार्गशीर्ष
१० मकरार्क संक्रान्ति	१० अमान्त	=पौष
११ कुम्भार्क संक्रान्ति	११ अमान्त	=माघ
१२ मीनार्क संक्रान्ति	१२ अमान्त	=फाल्गुन

इस प्रकार १ वर्ष (मेषार्क संक्रमण से मीनार्क) तक यदि १२ संक्रान्ति के साथ १२ चान्द्रमासान्त (अमान्त) हों तो वर्ष में १२ शुद्ध चैत्रादि मास होते हैं।

अधिमास और क्षयमास का विचार शुक्लादि (वैदिक चान्द्र) मास से ही होता है।

चान्द्रमास की प्रवृत्ति-निवृत्ति चार प्रकार से कही गयी है। यथा-

"दर्शान्तो वैदिको मासो राकान्तः स्मार्त उच्यते ।
पौराणो हरिघस्रान्तश्चान्य उत्पत्तिपूर्वकः ॥"

(१) शुक्ल प्रतिपदादि दर्शान्त पर्यन्त 'वैदिक मास' कहा गया है, क्योंकि सृष्टि का प्रारम्भ दर्शान्त से ही हुआ है।

(२) कृष्ण प्रतिपदादि पूर्णिमान्त तक 'स्मार्त मास' और शुक्ल द्वादश्यादि-द्वादश्यन्त ३० तिथियों का 'पौराणिक मास' कहा गया है।

विशेष—

"यत्र वर्षे क्षयो मासस्तत्र द्वावधिमासकौ।
क्षयात् पूर्वः प्रशस्तः स्यादुत्तरस्तु मलाभिधः ॥"

जिस वर्ष में क्षयमास होता है उस वर्ष में क्षयमास से पूर्व और पश्चात् दो अधिमास अवश्य होते हैं। उनमें क्षयमास से पूर्व का अधिमास प्रशस्त (कर्मार्ह) अर्थात् मलमास में जो सकाम व्रत, उपवास, सत्यनारायणादि देवपूजन, नैमित्तिक रुद्राभिषेकादि कर्म वर्जित कहे गये हैं वे इसमें हो सकते हैं। तथा अग्रिम अधिमास ही मल (कर्मानर्ह) होता है।

इसकी स्पष्ट युक्ति यह है कि क्षयमास से पूर्व मेषादि संक्रान्ति-संख्या के साथ गणना से अमान्त संख्या १ अधिक हो जाने से अधिमास होता है। परञ्च आगे क्षयमास में दो संक्रान्ति हो जाने से, पुनः वर्षाभ्यन्तर ही में अमान्त और संक्रान्ति की संख्या तुल्य हो जाती है, अतः उसकी अधिकता (वृद्धि) नहीं रहती है इसलिये उससे पूर्व मृतकों के श्राद्ध में मासिक संख्या की वृद्धि नहीं होती क्योंकि वर्ष के भीतर दर्शान्त-संख्या के तुल्य ही मृतक के मासिक श्राद्ध होते हैं। तथा आगे पुनः संक्रान्ति-संख्या से दर्शान्त संख्या अधिक हो जाती है। अतः पूर्व मृतक के श्राद्ध में (वर्षाभ्यन्तर) चान्द्रमास (दर्शान्त) की संख्या अधिक होने से मासिक श्राद्ध में १ संख्या की वृद्धि होती है।

स्पष्ट बोधार्थ उदाहरण संवत् २०२० का भारतीय पञ्चाङ्ग देखिये।

१ मेषार्क	१ दर्शान्त	= चैत्र
२ वृषार्क	२ दर्शान्त	= वैशाख
३ मिथुनार्क	३ दर्शान्त	= ज्येष्ठ

४ कर्कार्क	४ दर्शान्त	= आषाढ़
५ सिंहार्क	५ दर्शान्त	= श्रावण
६ कन्यार्क	६ दर्शान्त	= भाद्रपद
	७ दर्शान्त	= भाद्र मल
७ तुलार्क	८ दर्शान्त	= आश्विन
८ वृश्चिकार्क	९ दर्शान्त	= कार्तिक
९ धनुरर्क	० दर्शान्ताभाव	= ० ०
१० मकरार्क	१० दर्शान्त	= पौष
११ कुम्भार्क	११ दर्शान्त	= माघ
१२ मीनार्क	१२ दर्शान्त	= फाल्गुन
	१३ दर्शान्त	= फाल्गुन मल

यहाँ कन्यास्थ सूर्य तक संक्रान्ति और दर्शान्त संख्या तुल्य हुई। कन्यास्थ दर्शान्त के बाद ३० तिथि पर तुलास्थ दर्शान्त होना चाहिए—सो गति-वैलक्षण्य से ६० तिथियों पर जाकर तुलास्थ दर्शान्त हुआ। मध्य में दो मास हो गये—एक संक्रान्तिहीन और दूसरा ससंक्रान्ति। संक्रान्तिहीन की 'अधिक' संज्ञा हुई और स-संक्रान्ति मास की 'आश्विन' संज्ञा हुई। इस लिए कहा है—

"षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः।
पूर्वमर्धं परित्यज्य कर्तव्या चोत्तरे क्रिया॥"

अतएव भाद्रमासविहित कर्म शुद्ध (स-सांक्रान्ति) भाद्र में और आश्विन मास विहित कर्म उत्तरार्ध शुद्ध आश्विन (स-सांक्रान्ति) में ही करना चाहिए।

इस प्रकार ८ वृश्चिकस्थ सांक्रान्ति तक ९ दर्शान्त होने से चान्द्रमास का अधिकत्व रहा।

पुनः आगे धनुस्थ सूर्य में दर्शान्त नहीं होने से "मेषादिस्थे सवितरि" इत्यादि लक्षण से तत्सम्बन्धी 'मार्गशीर्ष' संज्ञा का 'लोप' तथा मकरस्थ सूर्य में दर्शान्त हो जाने से उसका नाम 'पौष' हो गया। तथा वर्षा-

भ्यन्तर में संक्रान्ति और दर्शान्त संख्या भी तुल्य हो गये। इसलिए पूर्व अ-संक्रान्ति मास का अधिकत्व (मलत्व) नष्ट हो गया। पुनः आगे कुम्भस्थ सूर्य तक संक्रान्ति और दर्शान्त संख्या तुल्य रही। मीनस्थ सूर्य में २ दर्शान्त हो जाने से चान्द्रमास की संख्या अधिक हो गयी।

एवं क्षय मास होने से वर्षाभ्यन्तर में दो अधिमास होते हैं—यह ज्यौतिष का अकाट्य सिद्धान्त है। अतः भास्कराचार्य ने कहा है—

"असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटः स्याद्,
द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्।
क्षयः कार्तिकादि-त्रये नान्यतः स्यात्,
तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयञ्च ॥"

विचारणीय विषय—यहाँ यह है कि धर्मशास्त्र में लिखा है कि किसी के मरणदिन से ११ मास के भीतर (अर्थात् वर्षाभ्यन्तर) में मलमास-पात हो तो उसके मासिक श्राद्ध में १ वृद्धि होती है। अतः यदि वर्षाभ्यान्तर में दो मलमास हो जाय तो दो मासिक श्राद्ध की वृद्धि होने से वर्ष में १४ मास होने का प्रसङ्ग आ जायगा। परञ्च ऐसा नहीं होता है क्योंकि मध्यमें क्षयमास हो जाने से १२ सौर (संक्रान्ति) के भीतर १३ ही दर्शान्त होते हैं और वर्ष के भीतर दर्शान्त-तुल्य ही मासिक श्राद्ध होते हैं।

जैसे, ऊपर दर्शित उदाहरण में क्षयमास से पूर्व फाल्गुन में मृत व्यक्ति का वार्षिक श्राद्ध क्षयमास के आगे फाल्गुन में होगा। इसके बीच में आश्विन के अधिक होने पर भी दर्शान्त संख्या १२ ही है। इसलिए आश्विन की वृद्धि नहीं हुई।

एवं क्षयमास से पूर्व चैत्र में मृत व्यक्ति का वार्षिक श्राद्ध आगे शुद्ध चैत्र में होगा। इसके बीच में २ मलमास होने पर भी. आश्विन की वृद्धि नहीं है, चैत्र की ही वृद्धि है। अतः १४ मास—किसी भी स्थिति में नहीं हो सकते। इसलिए कहा भी है—

"त्रयोदशं तु श्रुतिराह मासं चतुर्दशः क्वापि न दृष्टपूर्वः।"

इसी उदाहरण को मनीषिमान्य म० म० गोकुलनाथ उपाध्याय ने अपनी 'मास मीमांसा' में स्पष्ट दिखलाया है।

एवं क्षयमास में विशेषता—

क्षयमास में दो मास मिलकर, एक ही मास (३० तीस ही तिथि) में बीतते हैं। इसलिए अपचय होने से 'क्षय' संज्ञा होती है। अथवा—दो में एक के नाम का लोप हो जाने से 'क्षय' या 'लुप्त' संज्ञा होती है। जैसे ऊपर दर्शित उदाहरण में एक ही मास में धनु और मकर की संक्रान्ति होने से, मार्गशीर्ष और पौष के लक्षण होने के कारण, दोनों संज्ञा की प्राप्ति तो हुई; किन्तु धनुस्थ सूर्य में मास-पूर्ति (अमान्त) नहीं होने से 'मार्गशीर्ष' संज्ञा का लोप होकर, मकरस्थ सूर्य में अमान्त होने से 'पौष' नाम रहा।

उदाहरण—

जैसे, प्रयाग में गङ्गा और यमुना की पृथक् दो धाराओं का सङ्गम होकर, आगे एक धारा हो जाती है और लघु धारा (यमुना) का नाम लोप होकर, केवल गङ्गा नाम रह जाता है। त्रिवेणी के आगे एक ही धारा को कोई गङ्गा, कोई यमुना और कोई दोनों का मिश्रण मानते हैं। तथा अधिकांश विज्ञजन एक ही धारा में दक्षिण भाग को यमुना और उत्तर भाग को गङ्गा मानते हैं। बहुत से लोग समस्त धारा को गङ्गा भी मानते हैं और यमुना भी मानते हैं। एवं समस्त जनों के मत उचित ही प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार उक्त उदाहरण में मार्गशीर्ष और पौष—दोनों (३० तिथियों में ही) निश्चित है।

अब ***विचारणीय विषय*** इसमें यह है कि यदि इस क्षयमास में किसी का जन्म अथवा मरण हो तो उसका आगे वर्धापन और वार्षिक श्राद्ध किस मास में होगा ? इसमें प्राय: बहुमत से यही निणय हुआ है कि जब ३० तीसों तिथि में दोनों मास हैं तो प्रत्येक तिथि के पूर्वार्ध में मार्गशीर्ष और उत्तरार्ध में पौष मानकर क्रिया सम्पादित की जाय।

यह तो क्षयमास में जन्म-मरण से आगे के लिए ठीक है, किन्तु पूर्व मार्गशीर्ष और पौष में मृत व्यक्ति की श्राद्ध क्रिया क्रम से क्षयमासीय तिथि के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में ही होनी चाहिये। परञ्च यदि तिथि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रात्रि में पावे तो रात्रि में श्राद्ध कर्म के निषेध से उसकी क्रिया का लोप हो जायगा ?

इस संशय का अपाकरण मनीषिमान्य म० म० गोकुलनाथ उपाध्याय ने अपनी मास-मीमांसा नामक निबन्ध में किया है कि—"जब क्षयमास में मार्गशीर्ष और पौष दोनों के लक्षण हैं, तो ३० तीसों तिथि मार्गशीर्ष भी है और पौष भी है। इसलिए पूर्व मार्गशीर्ष में मृत व्यक्ति की मृततिथि में मार्गशीर्ष पद से और पौष में मृत व्यक्ति की तिथि में क्षयमास को ही पौष पद से उल्लेख कर क्रिया करनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था में न तो क्रिया का लोप होगा, न मास के ही लोप का प्रसङ्ग आयगा। क्योंकि इसमें दो मास का सङ्कर (मिश्रण) ही क्षय कहा गया है किसी का लोप नहीं होता है।"

जैसे, एक ही बर्तन में एक सेर दूध और एक सेर पानी मिलाकर रखने से, कोई उसे दूध कहता है और कोई पानी कहता है। दोनों का कहना ठीक ही माना जाता है। यथा, बृहद्दैवज्ञरञ्जन में—

"यत्र मासि रविसंक्रमद्वयं तत्र मासयुगलं क्षयाह्वयम्।
व्योम-राम-दिवसैर्भवेच्छुभे यज्ञकर्मणि च तं विवर्जयेत् ॥
एक एव यदा मासः संक्रान्तिद्वयसंयुतः।
मासद्वयगतं श्राद्धं तस्मिन्नेव प्रशस्यते ॥"
"तिथ्यर्धे प्रथमे पूर्वो द्वितीयेऽर्धे तथोत्तरः।
मासाविति बुधैश्चिन्त्यौ क्षयमासस्य मध्यगौ ॥"

इत्यादि सयुक्ति स्पष्ट आर्षवचनों के प्रमाण रहते हुए ज्योतिष एवं धर्मशास्त्र तत्त्वानभिज्ञ किसी पञ्चाङ्गकार ने उपाध्यायजी की पंक्तिका तत्त्वार्थ नहीं जानकर, पूर्व अधिमास को आश्विन और शुद्ध आश्विन को कार्त्तिक आदि लिखकर, क्षयसंज्ञ मास को भी मार्गशीर्ष और माघ को

पौष इत्यादि लिखकर, अल्पज्ञ जनों में द्विविधा उत्पन्न कर दिया। विज्ञजनों को चाहिये कि अब भी मध्यस्थ बुद्धि से ऐसे शास्त्र एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध पञ्चाङ्गों को अमान्य घोषित करके शास्त्र-मर्यादा की रक्षा करें। अन्यथा यह दृष्टान्त बनकर अल्पज्ञों में धर्मघातक हो जायगा।

सम्भाव्य अधिकमास और क्षयमास की सूची

साधारण जनों के सुबोधार्थ संवत् २०१५ से आगे किस-किस संवत्सर में कौन-कौन मास अधिक होगा, उसकी सूची दी जाती है—

संवत्	अधिमास	संवत्	अधिमास	संवत्	अधिमास
२०१५	श्रावण	२०६१	श्रावण	२१०७	श्रावण
२०१८	ज्येष्ठ	२०६४	ज्येष्ठ	२११०	आषाढ़
२०२०	{ आश्विन चैत्र	२०६७	वैशाख	२११३	वैशाख
२०२३	श्रावण	२०६९	भाद्रपद	२११५	भाद्र
२०२६	आषाढ़	२०७२	आषाढ़	२११८	आषाढ़
२०२९	वैशाख	२०७५	ज्येष्ठ	२१२१	ज्येष्ठ
२०३१	भाद्र	२०७७	आश्विन	२१२३	फाल्गुन
२०३४	आषाढ़	२०८०	श्रावण	२१२६	श्रावण
२०३७	ज्येष्ठ	२०८३	ज्येष्ठ	२१२९	आषाढ़
२०३९	{ आश्विन फाल्गुन	२०८५	{ कार्तिक मार्ग क्षय	२१३२	वैशाख
२०४२	श्रावण	२०८६	चैत्र	२१३४	भाद्र
२०४५	ज्येष्ठ	२०८८	भाद्र	२१३७	आषाढ़
२०४८	वैशाख	२०९१	आषाढ़	२१४०	ज्येष्ठ
२०५०	भाद्र	२०९४	ज्येष्ठ	२१४२	कार्तिक क्षयमास
		२०९६	आश्विन	२१४५	श्रावण
२०५३	आषाढ़	२०९९	भाद्र	२१४८	आषाढ़
२०५६	ज्येष्ठ	२१०२	ज्येष्ठ	२१५१	वैशाख
२०५८	आश्विन	२१०४	फाल्गुन	२१५३	भाद्र

यह अधिमास की सूची भारतीय गणित पद्धति सिद्ध मध्यम मान] से ही दी गयी है। स्पष्ट मान से कदाचित् १ मास आगे-पीछे भी हो सकते हैं।

अधिमास पात होने का समय।

चान्द्र और सौर मासों का अन्तर ही अधिमास होता है। अतः एक सौर वर्ष में सौर और चान्द्र मान का अन्तर सावयव ११ तिथि तुल्य होता है। अतः मध्यम मान से एक अधिमास के बाद लगभग साढ़े ३२ मास पर पुनः अधिमास होने की सम्भावना रहती है। इसलिए विभिन्न आचार्यों ने ३० मास से ३४ मास तक अधिमास होने की सम्भावना कही है।

एवं भास्करादि आचार्यों ने एक क्षयमास के बाद पुनः १४१ वर्ष पर तथा कदाचित् १९ वर्ष पर भी क्षयमास की सम्भावना बतायी है। तदनुसार संवत् २०२० के बाद सम्भाव्य क्षयमासों की सूची—

[मध्यम मान गति से]—

संवत्	क्षयमास	संवत्	क्षयमास	संवत्	क्षयमास
२०२०	मार्गशीर्ष	२१८०	पौष	२६४९	मार्गशीर्ष
२०३९	पौष	२२२६	मार्गशीर्ष	२६६८	पौष
२०८५	मार्गशीर्ष	२२४५	पौष	२७९०	मार्गशीर्ष
२१०४	मार्गशीर्ष	२२८३	मार्गशीर्ष	२८०९	पौष
२१२३	मार्गशीर्ष	२३०२	मार्गशीर्ष	२९३१	मार्गशीर्ष
२१४२	कार्तिक	२३६७	मार्गशीर्ष	२९५०	पौष
२१६१	मार्गशीर्ष	२५०८	मार्गशीर्ष	२९९१	मार्गशीर्ष

यह सूची मध्यम मान से लिखी गयी है। स्थान विशेष एवं स्पष्ट मान से कभी नहीं भी होती है, और कभी आगे पीछे का मास हो

सकता है। यह तत् तत् कालिक स्पष्ट गणित द्वारा निश्चय करना चाहिये।

किस शाक वर्ष में कौन-सा मास अधिमास होगा ? इसका ज्ञान मकरन्द में लिखा है—

शाकः षड्रसभूपकैर्विरहितो नन्देन्दुभिर्भाजितः
शेषेऽग्नौ च मधुः शिवे तदपरो ज्येष्ठोऽम्बरे चाष्टके।
आषाढ़ो नृपके नभश्च शरके विश्वे नभस्यस्तथा
बाहौ चाश्विनसंज्ञको मुनिवरैः प्रोक्तोऽधिमासः क्रमात् ॥

शाक वर्ष संख्या में १६६६ घटाकर १६ का भाग देने से ३ शेष में चैत्र, ११ शेष में वैशाख, १० में ज्येष्ठ, ८ में आषाढ़, १६ में श्रावण, ५ और १३ शेष में भाद्रपद तथा २ शेष में आश्विन अधिमास होता है।

ऐसे अन्य विद्वानों ने अन्य प्रकार बनाये हैं। जो स्पष्टमान से कभी अन्तरित भी हो जाता है।

भास्करादि आचार्यों ने कार्तिक; मार्गशीर्ष और पौष—इन तीन मासों में ही क्षयमास, तथा चैत्रादि सात मासों में ही अधिमास होना लिखा है। किसी के मत से फाल्गुन भी अधिमास कहा गया है। तथा माघ में न तो अधिमास और न क्षयमास ही होता है।

किन्तु कमलाकर भट्ट ने सूर्य चन्द्र के उच्च स्थान के चलन से गति-वैलक्षण्य के कारण सब मासों में ही अधिमास और क्षयमास की सम्भावना युक्तिसहित बतायी है।

वेद में चैत्र आदि मासों के नाम क्रमशः —

१ मधु, २ माधव, ३ शुक्र, ४ शुचि, ५ नभस्, ६ नभस्य, ७ इष, ८ ऊर्ज, ६ सहा: १० सहस्य, ११ तपस् , १२ तपस्य।

जिस वर्ष में क्षयमास होता है उस वर्ष में क्षयमास से पूर्व अधिमास का "संसर्प" नाम, क्षय मास का "अंहस्पति" तथा अग्रिम अधिमास का "मलिम्लुच" कहा गया है।

[इति मासनिरूपण]

[५] अथ पक्षनिरूप ।

"बुधैश्चन्द्रमसो मासे द्वौ पक्षौ परिकीर्तितौ ।
दर्शान्तात् पूर्णिमां यावत् शुक्लोऽन्यः कृष्णपक्षकः ॥
चन्द्रस्य शुक्लवृद्धत्वाच्छुक्लो देवगणप्रियः ।
शुक्लस्यापचयात् पक्षः कृष्णाख्यः पितृतुष्टिदः ॥"

प्रत्येक चान्द्रमास में दो पक्ष होते हैं। दर्शान्त से पूर्णिमान्त पर्यन्त 'शुक्लपक्ष' और पूर्णिमान्त से दर्शान्त तक 'कृष्णपक्ष' कहलाता है। सुधा-रश्मि (चन्द्र) के शुक्ल वृद्धि होने के कारण शुक्लपक्ष देवों का प्रिय और शुक्ल के ह्रास होने के कारण कृष्णपक्ष पितृगण का प्रिय कहा गया है।

चन्द्रमा के पूर्णत्व और क्षीणत्व—

"शुक्लाष्टमीदलादूर्ध्वं यावत् कृष्णाष्टमीदलम् ।
पूर्णः पूर्णबलो ज्ञेयश्चन्द्रः क्षीणस्ततोऽन्यतः ॥"

शुक्लपक्ष अष्टमी के उत्तरार्ध से कृष्णपक्ष सप्तमी के पूर्वार्ध तक चन्द्रमा पूर्ण और पूर्णबली एवं शेष तिथियों में क्षीण समझा जाता है।

विशेष—

"कृष्णपक्षोदितं कर्म शुक्लपक्षेऽपि कारयेत् ।
कृष्णे तु पञ्चमीं यावत् कर्म शुक्लोदितं चरेत् ॥"

कृष्णपक्ष विहित कर्म को शुक्लपक्ष में करना और शुक्लपक्ष विहित कर्म कृष्णपक्ष की पञ्चमी पर्यन्त करना चाहिये।

[इति पक्षनिरूपण]

— o —

[६] अथ तिथ्यादिनिरूपण

"तिथिर्वारश्च नक्षत्रं योगश्चेति चतुष्टयम् ।
व्रत-यज्ञादिकृत्येषु स्थूलं सूक्ष्ममिति द्विधा ॥
तत्राशुद्धमपि स्थूलं सूक्ष्मशुद्ध्या विशुद्ध्यति ।
सूक्ष्ममात्रेऽपि शुद्धेऽतो बुधः कृत्यं समाचरेत् ॥"

तिथि, वार, नक्षत्र और योग—ये चारों 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। 'स्थूल' के अशुद्ध रहने पर भी 'सूक्ष्म' की शुद्धि से समय शुद्ध हो जाता है। अतः केवल 'सूक्ष्म' की शुद्धि देखकर विज्ञों को कार्य कर लेना चाहिये।

तिथि स्वरूप [सूर्यसिद्धान्त]--

"अर्काद् विनिःसृतः प्राचीं यद्यात्यहरहः शशी ।
तच्चान्द्रमानमंशैश्च ज्ञेया द्वादशभिस्तिथिः ॥"

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में—

"आदित्याद् विप्रकृष्टस्तु भागद्वादशकं यदा ।
चन्द्रमाः स्यात् तदा राम ! तिथिरित्यभिधीयते ॥"

दर्शान्त में स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा के योग होने के बाद शीघ्र गति के कारण, सूर्य से पूर्व की ओर चलने से जो अन्तर हो जाता है वह "चान्द्रमान" कहलाता है। उसमें प्रत्येक द्वादश, द्वादश अंश अन्तर होने पर एक-एक 'प्रतिपदा' आदि तिथि होती है। इस प्रकार परम अन्तर ६ राशि (१८० अंश) होने पर चन्द्रमा पूर्ण बिम्ब होजाता है। इस लिये १५ वीं तिथि का नाम 'पूर्णिमा' होता है। पूर्णिमान्त के आगे पुनः १५ तिथि होने पर सूर्य और चन्द्रमा का योग (दर्शान्त) होता है, वहाँ मास की पूर्ति (समाप्ति) हो जाती है।

सूर्य और चन्द्रमा के दो भेद होते हैं—(१) बिम्ब और (२) स्थान। सूर्य का 'बिम्ब' और 'स्थान' दोनों एक ही होता है तथा चन्द्रमा का 'बिम्ब' और 'स्थान' पृथक् होते हैं।

सूर्य अपनी गति से जिस मार्ग में चलता है उसका नाम 'क्रान्ति-मण्डल' एवं चन्द्रमार्ग का नाम 'विमण्डल' है। भ-गोल में दोनों के मार्ग का सम्पात 'पात' कहलाता है। जब चन्द्रमा 'पात' बिन्दु में जाता है तब उसका भी 'स्थान' और 'बिम्ब' एक ही होता है; अन्यथा पृथक् रहता है। अहर्गणादि साधित चन्द्रमा 'स्थानात्मक' होता है उसीको ज्यौतिषाचार्यों ने 'स्पष्ट चन्द्र' नाम से व्यवहृत किया है।

ग्रह और नक्षत्र प्रवह वायु की गति से पश्चिमाभिमुख जिस मार्ग से भ्रमण करता है वह 'अहोरात्रवृत्त' तथा 'कालवृत्त' कहलाता है।

चन्द्रबिम्ब से क्रान्तिवृत्त (सूर्य के मार्ग) में निकटतम बिन्दु चन्द्र का स्थान 'स्पष्ट चन्द्र' कहलाता है।

ग्रह-नक्षत्र के भिन्न-भिन्न गोल होने पर भी वे सब एक ही गोल में ही दृश्य (प्रतिभासित) होते हैं। वह 'भगोल' अथवा 'दृग्गोल' कहलाता है। सबसे समीप चन्द्रगोल है। इसलिये सब ग्रह चन्द्रगोल में ही भासित होते हैं। यथा सूर्यसिद्धान्त में—

"अन्तरुन्नतवृक्षाश्च वनप्रान्ते स्थिता इव।
दूरत्वाच्चन्द्रकक्षायां दृश्यन्ते सकला ग्रहाः ॥"

इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य के अन्तर दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थानान्तर और (२) बिम्बान्तर।

सूर्य-चन्द्र के बिम्ब केन्द्रगत वृत्त 'सित (शुक्ल) वृत्त' कहलाता है।

चन्द्रबिम्बमण्डल के भी ३० विभाग ३० तिथियाँ कही गयी हैं। वह कलात्मिका होती है।

जलमय चन्द्रबिम्ब होने के कारण, सूर्य-रश्मि के सम्पर्क से, सूर्य की ओर सदा अर्धाधिक बिम्ब शुक्ल होता है। चन्द्रबिम्ब में भी

३० तिथि (३० कला) मानी गयी है। सूर्यदिशि १६ कला 'शुक्ल' और दूसरे भाग में १४ कला 'कृष्ण' वर्ण प्रतीत होती है।

भू-पृष्ठ स्थित जनों को अपने-अपने दृष्टिस्थान से चन्द्र-बिम्ब का आधा भाग ही दृश्य होता है।

सूर्य से जैसे-जैसे चन्द्रमा अन्तरित होता है उस-उस प्रकार चन्द्र-बिम्ब के अपने-अपने दृश्य-भाग में शुक्ल की भी वृद्धि होती है, परमान्तर (६ राशि=१८० अंश) पर सम्पूर्ण दृश्यभाग शुक्ल हो जाता है। इसी शुक्लभाग का १५ वाँ विभाग एक कलात्मक 'तिथि' कहलाता है।

जब सूर्य और चन्द्रमा का कालवृत्तीय अन्तरांश १२ होते हैं तो एक कला तिथि होती है। अतः दर्शान्त के बाद कालवृत्तीय अन्तरांश १२ होने पर चन्द्रबिम्बीय प्रतिपदन्त होता है, तब चन्द्रमा में शुक्ल दृश्य होता है। इस लिये इस दृश्य कलात्मक तिथि का साधन 'सितवृत्तीय' एवं 'कालवृत्तीय' अन्तरांश द्वारा किया जाता है। इस तिथिका उपयोग दृष्टफलार्थ 'चन्द्रशृङ्गोन्नति' आदि में किया जाता है।

तथा क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश से जो तिथि होती है वह अदृष्ट फलार्थ व्रत, पर्व, यज्ञ और पितृकार्य में उपयुक्त मानी गयी है। उसका साधन भू-केन्द्रीय दृष्टि से समस्त भू-पृष्ठ वासियों के लिये समान (एकरूप तुल्य) ही होता है। किन्तु दृष्टफलार्थ भू-पृष्ठीय अपने-अपने दृष्टि स्थान से दृक्कर्मसंस्कारादि द्वारा तिथि पृथक् होती है।

इस लिये क्रान्तिवृत्तीय तिथि और चन्द्रबिम्बीय तिथि का प्रारम्भ और अन्त सदा साथ-साथ नहीं होते हैं। कहीं स्थान-विशेष में कभी क्रान्तिवृत्तीय प्रतिपदा में ही चन्द्रबिम्बीय द्वितीया; और क्रान्तिवृत्तीय द्वितीया में भी चन्द्रबिम्बीय प्रतिपदा ही रहती है। अतः कहीं कभी क्रान्तिवृत्तीय प्रतिपदा में ही बिम्बीय द्वितीया प्रारम्भ हो जाने से चन्द्रशुक्ल दृश्य हो जाता है। उसका दर्शन संहिता में शुभप्रद कहा गया है। इसके जानने का प्रकार आगे दिखलाया जायगा।

यहाँ धर्मकृत्योपयोगी तिथियों का साधन प्रकार दिखलाया जाता है।

∵ चूँकि सूर्यचन्द्रान्तर १२ राशि = ३६० अंश = २१६०० कला तुल्य होता है तो ३० तिथि होती है।

∴ अतः १ तिथि का भोग = $\frac{३६० \text{ अंश}}{१२} = \frac{२१६०० \text{ कला}}{७७२०} = १२$ अंश = ७२० कला तुल्य होता है।

एवम् चन्द्रमा जब १२ राशि = २७ नक्षत्र का भोग करता है उसमें २१६०० कला होती है। अतः १ नक्षत्र का भोग = ८०० कला तुल्य होता है। इसलिये सूर्यसिद्धान्त में तिथि और नक्षत्र साधन के लिये तिथि और नक्षत्र के भोग-मान कह कर साधन प्रकार बताया गया है।

भभोगोऽष्टशती लिप्ताः खाश्विशैलास्तथा तिथेः।" इति।

तिथिसाधन प्रकार

सूर्योनचन्द्रलिप्तास्तु तिथयो भोगभाजिताः।
गता गम्याश्च षष्टिघ्न्यो नाड्यो गत्यन्तरोद्धृताः॥"

जिस समय में तिथि का ज्ञान करना हो उस समय के स्पष्ट चन्द्रमा में स्पष्ट सूर्य को घटाकर कलात्मक बनावे। उसमें तिथि के भोग ७२० के भाग देने से लब्धि गत तिथि शेष कला वर्तमान तिथि की गतकला, उसको ७२० कला में घटाने से वर्तमान तिथि की भोग्यकला होती है। गत कला को ६० से गुणा करके, उसमें स्पष्ट सूर्य-चन्द्रके गत्यन्तर से भाग देने से लब्धि वर्तमान तिथि की गत घट्यादि; एवं भोग्यकला को ६० से गुणाकर गत्यन्तर से भाग देने से भोग्य घट्यादि समझे। इस प्रकार जब चाहे तब तिथि का ज्ञान करे।

एवं प्रातःकालिक सूर्य और चन्द्रमा द्वारा जो वर्तमान तिथि की भोग्य घटी होती है उसको लोग पञ्चाङ्ग में लिखते हैं।

उदाहरण—किसी दिन प्रातःकालिक स्पष्ट सूर्य राश्यादि २। १५। ३०। ३५ स्पष्ट गति ६० कला। तथा स्पष्ट चन्द्र = ५। २५। ३५। ४५ स्प० ग० = ७६० कला तो चन्द्र में सूर्य को घटाने से

राश्यादि अन्तर ३ । २ । १० । १० कला बनाने से ५५ । २५ । १० इसमें तिथिभोग ७२० के भाग देने से लब्धि ७ गत तिथि सप्तमी, वर्तमान अष्टमी की गत कलादि ६२० । १० इसको तिथिभोग ७२० में घटाने से भोग्यकलादि=९९ । ५० । गत कला को ६० से गुणा करने से ३७२१० । इसमें गत्यन्तर कला ७३० के भाग देने से अष्टमी की गत घट्यादि ५० । ५८ । एवं भोग्यकला ९९ । ५० को ६० से गुणा करने से ५९९० । इसमें गत्यन्तरकला ७३० के भाग देने से लब्धि भोग्य घट्यादि=८ । १२ अर्थात् इष्टदिन उदयकाल से अष्टमी का मान घट्यादि ८।१२ लिखा जाता है। गत और भोग्य घट्यादि का योग =५९ । १० यह तिथि का सम्पूर्ण भोगमान समझना ।

आवश्यक ज्ञातव्य—

आगम पुराणादि में सूर्य-चन्द्रान्तर को चान्द्रमान (तिथि) कहा गया है। अन्तर मानने में महर्षियों में दो मत हैं—(१) एक बिम्ब-केन्द्रीय-अन्तर (२) प्रान्तीय अन्तर । कोई केन्द्रीय अन्तराभाव को दर्शान्त मानते हैं। कोई बिम्बीय अन्तराभाव को दर्शान्त मानते हैं। बिम्ब योगकाल से वियोगकाल तक अन्तराभाव माना जाता है। इसमें बिम्बयोग कला तुल्य अन्तर होता है। अत: इसमें अनुपात से समय का मान $= \frac{\text{६० घ० × बिम्बयोग}}{\text{गत्यन्तर कला}} = \frac{\text{६० × ६५}}{\text{७३०}}$

$= \frac{\text{२६}}{\text{५}}$ घटी। अर्थात् स्वल्पान्तर से पाँच घड़ी, २० पल । अत: केन्द्रीय तिथ्यन्त से आगे पीछे ३, ३ घड़ी तिथिसन्धि सिद्ध होती है।

तिथ्यादि मान ग्रहण करने में मतभेद—

प्रत्यक्ष एवं आगम वचन है कि ग्रहों की गति में चञ्चलता होने के कारण, कालान्तर में ग्रह-गणित पद्धति में भेद होने से सूर्यादि ग्रहों में भी अन्तर हो जाता है। इसलिये समय-समय पर वेध से परीक्षा करके उस अन्तर का परिमार्जन कर लेना चाहिये ।

"ग्रहाणां गतिचाञ्चल्यात् काले गणितपद्धतौ ।
अन्तरं जायते तस्मात् कुर्यात् तत्परिमार्जनम् ॥
यदा यया सुपद्धत्या यान्ति दृक्तुल्यतां ग्रहाः ।
तदा तयैव संसाध्या ग्रहास्तिथ्यादयस्तथा ॥"

स्पष्टार्थ ।

अतः पूर्वपद्धति में अन्तर होने के कारण सूर्यांश पुरुष ने अपने सिद्धान्त रचनाकाल में कहा है—

"तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः ।
प्रयान्ति तत्प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात् ॥"

एवं आचार्यवर्य भास्कर ने भी लिखा है—

"यात्रा-विवाहोत्सव-जातकादौ खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम् ।
स्यात्प्रोच्यते तेन नभश्चराणां स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या ॥"

भास्कर के बाद भी सभी ज्यौतिषग्रन्थ रचयिताओं का यही मत है । दृग्गणितैक्य सिद्ध करने की क्रिया को 'दृक्कर्म' तथा 'बीजकर्म' कहते हैं । जिसे सभी ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में लिखा है ।

कुछ ज्यौतिषतत्त्वविज्ञों का मत है कि—

"अदृष्टफलसिद्ध्यर्थं निर्बीजार्कोक्तमेव हि ।
ग्राह्यं, दृष्टफलार्थं यत् तत्सबीजग्रहात् सदा ॥"

अर्थात् अदृष्ट फल (व्रत, पर्व, यज्ञ, विवाह, पितृ कार्य आदि) में बिना बीज संस्कृत रवि-चन्द्र से तिथि का साधन करना । किन्तु दृष्ट-फल (ग्रहण, चन्द्रशृंगोन्नति, ग्रहोदयास्त आदि) ज्ञानार्थ बीजदृक्कर्मादि जितने संस्कार से दृग्गणितैक्य हो सब संस्कार करना चाहिये ।

इन दो मतों के कारण भारत में दो मत हो गये हैं । जिससे पञ्चाङ्गकारों में दो मत हो जाने के कारण व्रत, पर्वादि में अनर्थकारी विवाद उपस्थित हुआ करता है ।

यहाँ निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अबीज रवि-चन्द्र और सबीज रवि-चन्द्र से साधित तिथियों में युगान्तर में भी ५ घड़ी से अधिक अन्तर नहीं हो सकता है। यह ज्यौतिष-कमल-भास्कर भास्कराचार्य कथित बीजकर्म से स्पष्ट है। यथा—

"खाभ्रखार्कैर्हृताः कल्पयाताः समाः शेषकं भागहारात् पृथक् पातयेत्। यत् तयोरल्पकं तद् द्विशत्या भजेत् लिप्तिकाद्यं फलं तत् त्रिभिः सायकैः पञ्चभिः पञ्चभूभिः कराभ्यां हतं भानु-चन्द्रेज्य-शुक्रेन्दुपातेष्वृणम् ॥"

आगम तथा प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि सूर्यसिद्धान्तादि भारतीय गणित-पद्धति में कल्पादि से छ हजार वर्ष तक क्रम से अन्तर बढ़ता है। आगे पुनः छ हजार वर्ष में उस अन्तर का ह्रास होकर निरन्तर हो जाया करता है।

अतः कल्पादि से गतवर्ष संख्या में १२००० का भाग देकर जो शेष बचे, उसे १२००० में घटाकर पुनः जो द्वितीय शेष बचे, इन दोनों में जो अल्प हो, उसमें २०० का भाग देकर, कलादि लब्धि को ५ स्थान में रखकर, पृथक् ३,५,५,१५,२ से गुणा करने में क्रमसे रवि, चन्द्र,गुरु,शुक्र और चन्द्रपात का बीजफल ऋणात्मक होते हैं। इसप्रकार

$$\left.\begin{array}{l}\text{कलादि रविबीजफल} = \dfrac{\text{शेष} \times ३}{२००}।\\ \text{कलादि चन्द्रबीजफल} = \dfrac{\text{शेष} \times ५}{२००}।\end{array}\right\}\text{ इससे स्पष्ट सिद्ध है कि}$$

शेषमान जितना अधिक होगा उतना ही बीजफल अधिक होगा और जितना अल्प होगा उतना ही बीजफल भी अल्प होगा। शेष छ हजार से अल्प ही रहता है परम शेष ६००० हो सकता है। अतः उपर्युक्त बीजफल में परम शेष के उत्थापन देने से

$$\text{रवि परम फल} = \frac{६००० \times ३'}{२००} = ९०' = १ \text{ अंश } ३० \text{ कला । तथाः}$$

$$\text{चन्द्र परम फल} = \frac{६००० \times ५}{२००} = १५०' = २ \text{ अंश } ३० \text{ कला ।}$$

दोनों का अन्तर १ अंशमात्र ।

अर्थात् तिथि साधन में अबीज और सबीज में १ अंश से अधिक अन्तर नहीं हो सकता है। यदि १२ अंश अन्तर में १ तिथि ६० घड़ी तो १ अंशमें क्या ? $= \frac{६० \times १}{१२} =$ ५ घड़ी = परम तिथ्यन्तर। यह बिम्ब केन्द्रीय और बिम्ब प्रान्तीय अमान्त के अन्तर से अल्प ही होने के कारण धर्मकृत्यों में बाधक नहीं हो सकता है। विज्ञजन प्रतीत्यर्थ गणित द्वारा देखें। अमान्त से तिथि की प्रवृत्ति होती है। रवि-चन्द्र के अन्तराभाव का नाम अमान्त है। उसके दो भेद हैं—(१) केन्द्रीय अन्तराभाव, (२) बिम्बप्रान्तीय अन्तराभाव। दोनों ही महर्षि सम्मत हैं। बिम्ब प्रान्तीय योग से बिम्ब प्रान्तीय वियोग तक रवि-चन्द्र बिम्बकला योग तुल्य अन्तर रहता है। जैसे सूर्यग्रहण में स्पर्श और मोक्ष समय में केन्द्रान्तर=बिम्बयोग=६५ कला स्वल्पान्तरात्। अतः अनुपात से इसके बीच में बिम्बीय अन्तराभाव काल $= \frac{६० \times ६५}{\text{गत्यन्तर कला}} = \frac{६० \times ६५}{७३०} = \frac{३९०}{७३} = ५ + \frac{२५}{७३} =$ घट्यादि। अर्थात् सवा पाँच घड़ी के लगभग। इससे सिद्ध है कि केन्द्रीय और प्रान्तीय दर्शान्त के बीच ही बीजकर्म की ह्रास-वृद्धि होती रहती है। अतः बीज संस्कार क्रिया का आयास व्यर्थ समझकर ही ज्यौतिषविज्ञों ने उसके त्याग का आदेश दिया है।

इसलिए यदि उभय मतवाले पञ्चाङ्गकार भारतीय आर्ष सिद्धान्त की मर्यादा की रक्षा के लिए तिथि सूर्यसिद्धान्तादि आर्षपद्धति सिद्ध ग्रहण करें, तथा अन्य दृष्ट फलार्थ तिथि, ग्रहण, ग्रहयुति आदि में दृग्गणितैक्यपद्धति सिद्ध ग्रहण कर लें तभी भारतीय मर्यादा सुरक्षित रह सकेगी।

जिज्ञासुओं के अभ्यासार्थ तिथियों की संज्ञा—

(१) प्रतिपद् (२) द्वितीया (३) तृतीया (४) चतुर्थी (५) पञ्चमी (६) षष्ठी (७) सप्तमी (८) अष्टमी (९) नवमी (१०) दशमी (११) एकादशी (१२) द्वादशी (१३) त्रयोदशी (१४) चतुर्दशी (१५) पञ्चदशी ।

विशेष—शुक्लपक्ष की पञ्चदशी 'पूर्णिमा' और कृष्ण पक्ष की पञ्चदशी 'अमावास्या' कहलाती है,

अमावास्या के २ भेद हैं—

"सिनीवाली-कुहूभेदादमावास्या द्विधा स्मृता ।
सा दृष्टेन्दुः 'सिनीवाली' सा नष्टेन्दुकला 'कुहूः' ॥"

जिस अमावास्या में चन्द्रकला दृश्य हो वह 'सिनीवाली' तथा जिसमें चन्द्रकला दृश्य नहीं होती है वह 'कुहू' कहलाती है ।

विशेष—ग्रहगोलस्थिति एवं तिथि के क्रान्तिवृत्तीय और चन्द्र-बिम्बीय दो भेदों को सम्यक् नहीं जानने वाले पण्डितजन भी जानते हैं कि अमावास्या और प्रतिपदा में चन्द्रमा दृश्य नहीं होता है। पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि सूर्य से कालवृत्तीय १२ अंश आगे होने पर चन्द्रबिम्ब दृश्य होता है और सूर्य से कालवृत्तीय १२ अंश पीछे अदृश्य हो जाता है ।

परञ्च धर्मकृत्योपयोगी स्पष्ट रविचन्द्रमा के क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश से १२,१२ की तिथि होती है । जब कालवृत्तीय १२ अंश होता है तब क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश १२ से कम और अधिक भी होता है । इसलिये स्थानविशेष में, अमावास्या में भी चन्द्रबिम्बकला दृश्य होती है तथा तदनन्तर प्रतिपदा में भी चन्द्रमा दृश्य होता है । संहिताग्रन्थों में प्रतिपदोदित चन्द्रमा के दर्शन से दर्शक को उस मास में विशेष शुभ फल लिखा है । इसलिये ही पञ्चाङ्गों में प्रथमोदित

शुक्लपक्ष में चन्द्रदर्शन लिखने की परिपाटी है। अतः महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य में लिखा है कि—

"प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ।"

परञ्च तिथिभेद को नहीं जानने के कारण महापण्डित मल्लिनाथ ने प्रतिपदा में चन्द्रदर्शन असम्भव जानकर उक्त पद की व्याख्या में "प्रतिपद् इति द्वितीयोपलक्षणम्" लिख दिया। प्रतीत होता है कि मल्लिनाथ को अमरकोशोक्त अमावास्याभेद विस्मृत हो गया क्योंकि जिस अमावास्या में चन्द्रदर्शन होता है तदनन्तर प्रतिपदा में भी चन्द्रदर्शन अवश्य होता है। मल्लिनाथ ही क्या? इस बात को बहुत से ज्यौतिषी भी नहीं जानते हैं। अतः उन लोगों के प्रतीत्यर्थ किस स्थान में दर्शान्त के बाद, कितने समय में, किस तिथि में चन्द्रदर्शन होता है?—इसके ज्ञान का प्रकार सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है—

"अष्टादशशताभ्यस्ताः कालांशाः स्वोदयासुभिः ।
विभज्य लब्धाः क्षेत्रांशास्तैर्दृश्यादृश्यताऽथवा ।।"

अर्थात् ग्रह के कालांश (दृश्यांश) को १८०० से गुणा कर, अपने देशीय राश्युदयासु का भाग देने से, लब्धि क्षेत्रांश (क्रान्तिवृत्तीयान्तरांश) होता है। सूर्य से उतना आगे जानेपर चन्द्रबिम्बकला दृश्य होती है, तथा उतना ही अंश पीछे रहने पर चन्द्रकला अदृश्य हो जाती है। जैसे,

$$\text{क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश} = \frac{१८००' \times \text{कालांश}}{\text{स्वदेश राश्युदयासु}} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots [१]$$

$$\text{चूँकि} \frac{१८००'}{\text{स्वदेश राश्युदयासु}} = \frac{३०० \text{ पल}}{\text{राश्युदय पल}} \text{। तथा चन्द्रकालांश} = १२$$

अतः [१] इस स्वरूप में उत्थापन देने से क्रान्तिवृत्तीयान्तरांश=

$$\frac{३०० \times १२}{\text{राश्युदय पल}} \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots \quad \ldots [२]$$

इससे यह उपपन्न होता है कि—

"कालांशास्त्रिशतीनिघ्नाः स्वस्वोदयपलैर्हृताः ।
लब्धांशाः क्रान्तिवृत्तीयास्तैर्दृश्यादृश्यताऽथवा ॥"

अर्थात् कालांश को ३०० से गुणा कर, गुणनफल में स्वदेशीय राश्युदय पल के भाग देने से लब्धि चन्द्रदर्शन-अदर्शन समय में क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश होते हैं ।

सर्वसाधारण जनता को उदयासु का ज्ञान नहीं रहता है, किन्तु अपने-अपने स्थानीय पलभाद्वारा स्वस्वदेशीय राश्युदय पल का ज्ञान प्रायः सब लोग रखते हैं। अतः यहाँ काशी के उदय पलद्वारा उदाहरण दिखलाया जा रहा है ।

राशि	लङ्कोदय		चरपल		काश्युदय पल
१ मेष	२७८	—	५७	=	२२१
२ वृष	२९९	—	४६	=	२५३
३ मिथुन	३२३	—	१९	=	३०४
४ कर्क	३२३	+	१९	=	३४२
५ सिंह	२९९	+	४६	=	३४५
६ कन्या	२७८	+	५७	=	३३५

ऊपर दर्शित (२) समीकरण रूप से स्पष्ट सिद्ध है कि जिस राशिका-उदयपल ३०० से अधिक है तो उस राशिस्थित चन्द्र के दर्शन-समय में क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश १२ से अल्प होगा। अतः वहाँ प्रतिपदन्तकाल से पूर्व ही (अर्थात् प्रतिपदा के भीतर ही) चन्द्रदर्शन होगा। तथा जहाँ उदयपल ३०० से अल्प है वहाँ चन्द्रदर्शन-समय में क्रान्तिवृत्तीय अन्तरांश १२ से अधिक होगा। इसलिए वहाँ प्रतिपदन्त के बाद द्वितीया आदि अग्रिम तिथि में चन्द्रदर्शन होगा। इससे स्पष्ट है कि कुम्भ, मीन, मेष और वृषराशि स्थित चन्द्र में प्रतिपदन्त के बाद

और शेष कर्कादि राशि में प्रतिपदा के भीतर ही चन्द्रदर्शन निश्चित रूप से होता है। जैसे,

काशी में जब सिंह में चन्द्रमा रहेगा तो क्रान्तिवृत्तीयान्तरांश $= \frac{३००\times१२}{३४५} =$ १० अंश, २६ कला अर्थात् प्रतिपदा के भीतर ही चन्द्रदर्शन होगा क्योंकि क्रान्तिवृत्तीय १२ अंश पर प्रतिपदन्त होता है।

तथा जहाँ पलभा २० अङ्गुल है वहाँ मीन और मेष के उदयपल = ७८ होते हैं अतः वहाँ उदयकालिक क्रान्तिवृत्तीयान्तरांश $= \frac{३००\times१२}{७८}$ $=४६^\circ$। १० इसमें १२ के भाग से गत तिथि ३, वर्तमान चतुर्थी। अर्थात् वहाँ शुक्लपक्ष चतुर्थी में जाकर चन्द्रदर्शन होगा।

अतः स्पष्ट सिद्ध है कि दृक्सिद्ध रवि-चन्द्र से तिथि-मान सदा चञ्चल रहता है। अतः धर्मकृत्यों में अदृष्टफलार्थ भूकेन्द्रीय अबीज संस्कृत रवि-चन्द्र द्वारा तिथि-मान ग्रहण करना—यह भारतीय ज्यौतिषतत्त्वज्ञों का कथन आगम और युक्ति से प्रत्यक्ष तथ्य है। जो कोई अपने तर्क से व्रत-पर्वादि में भी दृक्सिद्ध रवि-चन्द्र से तिथि-ग्रहण करने के समर्थक हैं, वे अपनी अज्ञता मात्र प्रकट करते हैं।

दर्श (अमावास्या) की विशेषता—

"पूर्वापराभ्यां सहितस्तिथिभ्यां
निहन्ति दर्शो निचयं गुणानाम्।
तमेव हित्वाऽमृतसिद्धियोग—
स्तिथेरशेषानपि हन्ति दोषान्॥"

अमावास्या (दर्श) अपने पूर्व तथा पर तिथियों के सहित (अर्थात् कृष्णपक्ष १४, ३०, शुक्ल पक्ष १—ये) गुणों को नष्ट करनेवाली होती हैं। किन्तु अमावास्या को छोड़कर, १४, १—इनमें सिद्धियोग (शनि में १४, शुक्र में १) हो तो समस्त दोषों को नष्ट करती है अर्थात् यज्ञ और पितृकार्य को छोड़कर दर्श में सब शुभकार्य निन्द्य हैं।

पूर्णिमा के भी दो भेद होते हैं—

"कलाहीने साऽनुमतिः पूर्णे 'राका' निशाकरे ।"

जिस पूर्णिमा के भीतर ही चन्द्रबिम्ब कलाहीन हो वह 'अनुमति' और जिसमें आरम्भ से अन्त तक चन्द्रबिम्ब पूर्ण हो वह 'राका' कहलाती है।

दोनों अमावास्या और दोनों पूर्णिमा की यज्ञादि विधि पृथक् कही गयी है।

तिथियों के देवता--

"वह्निर्ब्रह्मा पार्वती विघ्नराजो, नागः स्कन्दो भास्करः शङ्करश्च ।
दुर्गा देवी चान्तकृद् विश्व-विष्णू, कामः शम्भुश्चेन्दुरीशास्तिथीनाम्

स्पष्टार्थबोधक चक्र--

तिथि	स्वामी	तिथि	स्वामी
१	अग्नि	९	दुर्गा
२	ब्रह्मा	१०	यम
३	गौरी	११	विश्वेदेव
४	गणेश	१२	विष्णु
५	नाग	१३	काम
६	स्कन्द	१४	शिव
७	सूर्य	१५	चन्द्र
८	शङ्कर	३०	चन्द्र

तिथि-स्वामि-ज्ञान का प्रयोजन—

"स्वस्वदेवप्रतिष्ठायां मन्त्रसंग्रहणे तथा ।
पवित्रदमनारोपे ग्राह्या तस्य तिथिर्बुधैः ॥"

उक्त तिथि-स्वामियों की प्रतिष्ठा अपनी तिथि में प्रशस्त होती है। तथा यात्रादि शुभकार्य में तिथिदोषशान्त्यर्थ उसके स्वामी की आराधना (पूजनादि) करनी चाहिये। तथा जिस देवता का मन्त्र (दीक्षा) ग्रहण करना हो उसकी तिथि में वह (दीक्षा) प्रशस्त होती है। एवं पवित्रार्पण और दमनारोपण में इसका प्रयोजन होता है।

तिथियों की नन्दादि संज्ञा—

उक्त १५ तिथियों में तीन-तीन के गुण समान होने के कारण गुणानुसार मुनियों ने ५ पाँच ही संज्ञा की है।

"नन्दा च भद्रा च जया च रिक्ता,पूर्णेति सर्वास्तिथयः क्रमात् स्युः।
कनिष्ठ-मध्येष्ट-फलास्तु शुक्ले, कृष्णे भवन्त्युत्तम-मध्य-हीनाः ॥"

स्पष्टार्थ चक्र में देखिये—

शुक्लपक्ष	नन्दा	भद्रा	जया	रिक्ता	पूर्णा	कृष्णपक्ष
कनिष्ठ	१	२	३	४	५	श्रेष्ठ
मध्य	६	७	८	९	१०	मध्य
श्रेष्ठ	११	१२	१३	१४	१५	कनिष्ठ

नन्दादि तिथियों के कृत्य—

"नन्दासु चित्रोत्सव-वास्तु-तन्त्र-क्षेत्रादि कुर्वीत तथैव नित्यम्।
विवाह-भूषा-शकटाध्वयाने, भद्रासु कार्याण्यपि पौष्टिकानि ॥"

नन्दा तिथियों (१, ६, ११) में चित्र (कला), वास्तु आदि कार्य सिद्ध होते हैं। भद्रा तिथियों (२, ७, १२) में विवाहादि कार्य सिद्ध होते हैं।

"जयासु संग्राम-बलोपयोगि—कार्याणि सिद्ध्यन्ति विनिर्मितानि।
रिक्तासु तद्वद्रिपु-बन्ध-घात-, विषाग्नि-शस्त्राणि च यान्ति सिद्धिम् ॥"

जया (३, ८, १३) तिथियों में संग्रामादि कार्य; तथा रिक्ता (४, ९, १४) तिथियों में शत्रुओं को बाधा पहुँचाना, घातादि कार्य सिद्ध होते हैं।

**"पूर्णासु माङ्गल्य-विवाह-यात्रा,-सपौष्टिकं शान्तिककर्म कार्यम्।
सदैव दर्शे पितृकर्म मुक्त्वा, नान्यद् विदध्याच्छुभ-मङ्गलानि ॥"**

पूर्णा (५, १०, पूर्णिमा) तिथियों में विवाहादि मङ्गल कार्य सिद्ध होते हैं। किन्तु अमावास्या में पितृकर्म के अतिरिक्त अन्य मङ्गल कार्य नहीं करना चाहिये।

अथ मन्वादि-युगादि तिथियाँ—

**"मन्वाद्यास्त्रितिथी मधौ, तिथि-रवी ऊर्जे, शुचौ दिक्-तिथी
ज्येष्ठेऽन्त्ये च तिथि,-स्त्विषे नव, तपस्याश्वाः, सहस्ये शिवाः।
भाद्रेऽग्निश्च सिते, त्वमाष्ट नभसः कृष्णे, युगाद्याः सिते
गोऽग्नी बाहुल-राधयोर्मदन-दर्शौ भाद्र-माघासिते ॥"**

चैत्र शुक्ल ३, १५; कार्तिक शुक्ल १२, १५; आषाढ शुक्ल १०, १५; ज्येष्ठ शुक्ल १५; फाल्गुन शुक्ल १५; आश्विन शुक्ल ९; माघ शुक्ल ७; पौष शुक्ल ११; भाद्रशुक्ल ३; श्रावण कृष्ण ३०, ८—इन तिथियों में मन्वन्तरारम्भ होने के कारण—ये मन्वादि तिथियाँ कहलाती हैं।

एवं कार्तिक शुक्ल ९, वैशाखशुक्ल ३, भाद्रकृष्ण १३, माघ कृष्ण ३०—ये चार युगादि तिथियाँ हैं।

इनका माहात्म्य—

**मन्वाद्याश्च युगाद्याश्च पुण्यदास्तिथयः स्मृताः।
तासु दत्तं हुतं किञ्चित् सर्वं बहुफलं भवेत् ॥"**

स्पष्टार्थ।

पक्षरन्ध्र तिथियाँ और उनकी त्याज्य घटी—

**"वेदाङ्काष्ट-नवार्केन्द्र—पक्षरन्ध्रतिथौ त्यजेत्।
वस्वङ्कमनु-तत्त्वाशा-शरा नाडीः पराः शुभाः ॥"**

४, ६, ८, ९, १२, १४-ये पक्षरन्ध्र (स-दोष) तिथियाँ हैं। इनमें क्रमसे ८, ९, १४, २५, १०, ५ घड़ी आरम्भ से दोषयुत होती हैं। अतः शुभकर्म में त्याज्य कही गयी हैं; शेष घड़ी शुभ होती है।

इस प्रकार उक्त तिथियाँ तथा कृष्ण अमावास्या और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का पूर्वार्ध--ये असत् तथा शेष तिथि (२, ३, ५, ७, १०, ११, १३, पूर्णिमा)—ये सत् तिथि कहलाती हैं।

तिथियों के शुद्ध, क्षय और अधिक तीन भेदों के लक्षण—

"यत्र वारस्य पूर्तिः स्यात्, सा शुद्धा तिथिरुच्यते।
पूर्त्यभावे क्षयाख्या सा, पूर्तिद्वित्वेऽधिकाग्रिमा॥"

जिस तिथि में रवि आदि वार की पूर्ति (समाप्ति अर्थात् सूर्योदय) हो वह शुद्ध तिथि, जिसमें सूर्योदय नहीं हो वह क्षय (लुप्त) तिथि; तथा जिसमें दो सूर्योदय हों तो दोनों दिन वही तिथि मानी जाती है। उनमें अग्रिम अधितिथि कहलाती है।

तथा—

"यां तिथिं समनुप्राप्य ह्युदयं याति भास्करः।
सा तिथिः सकला ज्ञेया स्नान-दानादिकर्मसु॥
कर्मणो यस्य यः कालस्तत् कालव्यापिनी तिथिः।
उदये या तिथिः साऽतः स्नानादौ कीर्त्यते बुधैः॥"

जिस तिथि में सूर्योदय होता है वही रवि आदि वार के साथ पञ्चाङ्ग में लिखी जाती है। तथा जिस कर्म के लिये जो काल कहे गये हैं, उस काल में जो तिथि हो, उसी का उच्चारण सङ्कल्प में किया जाता है। अतः स्नानादि में उदयव्यापिनी तिथि ही गृहीत होती है।

अथ क्षण (सूक्ष्म) तिथि निरूपण—

"तिथेः पञ्चदशो भागः क्षणसंज्ञा तिथिः स्मृता।
तत् तत् तिथिं समारभ्य गण्याः पञ्चदश क्रमात्॥

तासु तिथ्युक्तकर्माणि बुधैः कार्याणि यत्नतः ।
यतः स्थूलतिथेः सूक्ष्मा प्रबला कथिता बुधैः ॥"

तिथि का १५ वाँ भाग 'सूक्ष्म तिथि' है। प्रत्येक तिथि में, आरम्भ से, उसी तिथि के क्रम से, १५ तिथियों के भोग होते हैं। तिथियों में कथित कर्म, सूक्ष्म तिथि में भी यत्नपूर्वक करना चाहिये क्योंकि स्थूलतिथि से सूक्ष्म तिथि प्रबल कही गयी है।

स्पष्ट ज्ञानार्थ चक्र--

यदि तिथि की सम्पूर्ण भोग घड़ी ६० है तो सूक्ष्मतिथि ४ घड़ी हुई। उसी क्रम से उदाहरण चक्र में देखिये।

घड़ी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
४	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
८	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१
१२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२
१६	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३
२	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४
२४	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५
२८	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६
३२	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७
३६	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८
४०	१०	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९
४४	११	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
४८	१२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
५२	१३	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
५६	१४	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
६०	१५	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
घड़ी	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.	ति.

जैसे यहाँ प्रतिपद में प्रथम ४ घड़ी प्रतिपदा, उसके बाद ८ घड़ी तक द्वितीया, उसके बाद १२ घड़ी तक तृतीया इत्यादि एवं द्वितीया में प्रथम ४ घड़ी द्वितीया, उसके बाद ८ घड़ी तक तृतीया, उसके बाद १२ घड़ी तक चतुर्थी इत्यादि। एवं सब तिथियों में समझना।

यदि असत् तिथि में कोई आवश्यक कार्य हो तो उसमें सत् तिथि की घड़ियों में उस कार्य को कर लेने से सिद्धि होती है। तथा सत् तिथि के असत् तिथि के भाग में कार्य करने में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त होती है। यह विज्ञजनों ने अनुभव करके देखा है।

असत् तिथियों का परिहार—

"नक्षत्र-योग-शुद्ध्यैव तिथिदोषो विनश्यति।
अथवा विप्रवर्याय भक्त्या तण्डुलदानतः॥"

तथा—**"तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं च चतुर्गुणम्।**
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्॥
द्वात्रिंशल्लक्षणो योगस्ताराः षष्टिगुणाः स्मृताः।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तो लग्नं कोटिगुणं स्मृतम्॥"

अर्थ स्पष्ट है।

कुछ तिथियों में निषेध—

"षष्ठ्यष्टमी-भूत-विधुक्षयेषु नो सेवेत ना तैल-पले क्षुरं रतम्।
नाभ्यञ्जनं विश्व-दश-द्विके तिथौ धात्रीफलैः स्नानममाद्रिगोष्सवत्।"

षष्ठी में तेल, अष्टमी में मांस, चतुर्दशी में क्षौर और अमावास्या में रतिक्रिया (मैथुन कर्म) न करे। त्रयोदशी, दशमी, द्वितीया में अभ्यङ्ग (शरीर के मलोद्वर्तन) न करे। अमावास्या, सप्तमी, नवमी—इन तिथियों में आँवले के फलसे स्नान न करे।

यह निषेध केवल पुरुषों के लिये ही है।

परिहार--

"शनौ षष्ठ्यां स्मृतं तैलं महाष्टम्यां पलाशनम् ।
क्षौरं शुक्लचतुर्दश्यां दीपमाल्यां च मैथुनम् ॥"

शनिवार की षष्ठी में तेल, आश्विन शुक्ल अष्टमी में मांस, शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी में क्षौर और दीपावली की अमावास्या में रतिक्रिया प्रशस्त है।

विशेष–शुभ तिथि भी किसी-किसी वार और नक्षत्र के योग से शुभ होती है; एवं अशुभ तिथि भी शुभ हो जाती है। यह "शुभाशुभविवेक" में दिखलाया गया है।

मुनियों का आदेश है कि--

"गुणस्य दोषस्य च तारतम्यं, विचारणीयं विबुधैः प्रयत्नात् ।
कश्चिद् गुणो दोषशतं निहन्ति,सर्वांश्च दोषान् विनिहन्ति लग्नम्॥"

अर्थात् गुण यदि प्रबल हो तो दोषों को नष्ट कर देता है इस लिये गुण और दोष के तारतम्य से कार्य करना चाहिये। नक्षत्रादि की शुद्धि से तिथि का दोष नष्ट हो जाता है। अथवा-आवश्यक कार्य में योग्य ब्राह्मण को भक्तिपूर्वक तण्डुल के दान से तिथि-दोष नष्ट हो जाते हैं।

[इति तिथिनिरूपण]

[७] अथ वारनिरूपण

"वाराः सप्त, रविः सोमो मङ्गलश्च बुधस्तथा ।
गुरुः शुक्रः शनिश्चेति, स्थूलाः सूक्ष्मा द्विधा मताः ॥
अहोरात्रमितः स्थूलः सूक्ष्मो होराप्रमाणकः ।
स्व-स्व-सूर्योदयाद्वारो ग्राह्यो यज्ञादिकर्मसु ॥
वारोक्तकर्मसंसिद्ध्यै ग्राह्यो लङ्कोदयाद्रवेः ।
धात्रा सृष्टिः कृता यस्माल्लङ्कायां भास्करोदये ॥"

रवि, सोम, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि-ये सात वार हैं। ये स्थल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के होते हैं। एक तो पूर्ण अहोरात्र (=६० घड़ी अथवा २४ घण्टा) दूसरा, केवल १ होरा (घण्टा) मात्र। यज्ञ, सूतक आदि कर्म में अपने-अपने सूर्योदय-काल से सबके पृथक्-पृथक् होते हैं। किन्तु यात्रा, विवाहादि कार्यों में विहित अथवा निषिद्ध वार भूमण्डलवासियों के लिये, लङ्का में सूर्योदय-काल से ही ग्राह्य है, क्योंकि लङ्का में सूर्योदय के समय में ही ब्रह्मा ने सृष्टि का प्रारम्भ किया है।

लङ्का में सूर्योदय-काल जानने का सबसे सरल प्रकार (मुहूर्तचिन्तामणि)--

"पादोनरेखा पर-पूर्वयोजनैः पलैर्युतोनास्तिथयो दिनार्धतः।
ऊनाधिकास्ताद्विवरोद्भवः पलैरूर्ध्वं तथाधो दिनपप्रवेशनम् ॥

यदि देशान्तर-योजन-ज्ञान हो तो उसमें चतुर्थांश घटा देने से देशान्तर पल हो जाता है। इस प्रकार देशान्तर पल रेखा से पश्चिम हो तो १५ घड़ी में जोड़ने, यदि पूर्व हो तो घटाने से जो हो, वह यदि अपने दिनार्ध से अल्प हो तो, जितना अल्प हो उतने ही समय अपने सूर्योदय के पश्चात्; तथा जितना अधिक हो उतने ही समय अपने सूर्योदय से पूर्व वार का प्रवेश समझना चाहिये।

उदाहरण--

स्थान काशी। पूर्व देशान्तर योजन=९२। आषाढकृष्ण ११ सोमवार। दिनार्ध १६। ५६। उक्त रीति से दे. अं. योजन ९२ के चतुर्थांश २३ को घटाने से ६९ पल=१ घड़ी ९ पल। इसको पूर्व होने के कारण, १५ घड़ी में घटाने से, शेष १३। ५१। यह अपने दिनार्थ १६। ५६ से ३ घड़ी ५ पल अल्प है। अत: स्थानीय सूर्योदय से ३ घड़ी ५ पल पश्चात् सोमवार का प्रारम्भ होगा और तभी से यात्रादि कार्य में सोमवार का फल समझना, उससे पूर्व रविवार ही समझा जाता है। इसी प्रकार पश्चिम देशान्तर फल को १५ घड़ी में

जोड़कर क्रिया करने से वार-प्रवेश का काल जानना। वार-प्रवेश काल से ही सूक्ष्म वार (होरात्मक वार) की प्रवृत्ति होती है जिसका ज्ञान सोदाहरण आगे देखिये।

वार-क्रम—

रविवार के बाद सोम, मङ्गल आदि का क्रम क्यों हुआ ? दूसरे प्रकार से क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर यह है कि प्रलय के अन्त में जब सूर्य का उदय हुआ तो भारतीय महर्षियों ने पहिली होरा 'सूर्य' की मानी और उसके बाद दूसरी होरा 'शुक्र' की मानी जो उससे निकटवर्ती ग्रह है। उसके बाद तीसरी होरा बुध' की मानी जो शुक्र के समीपस्थ है। इसी प्रकार चौथी होरा 'चन्द्रमा' की, पाँचवीं होरा 'शनि' की, छठी होरा 'गुरु' की, सातवीं होरा 'मङ्गल' की मानी। पुनः आठवीं रवि की इसी क्रम से २१ वीं होरा मङ्गल की, २२ वीं होरा 'रवि' की, २३ वीं होरा शुक्र का और २४ वीं होरा 'बुध' की हुई। उसके बाद जब सूर्योदय हुआ तो पहली होरा 'चन्द्रमा' की हुई। इस लिये भारतीय महर्षियों ने 'रविवार' के बाद दूसरे दिनका नाम 'सोमवार' रखा। नीचे चक्र देखने से वार-क्रम एकदम स्पष्ट हो जायगा।

१ ली होरा	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
२ री होरा	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु
३ री होरा	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल
४ थी होरा	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि
५ वीं होरा	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र
६ ठी होरा	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध
७ वीं होरा	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
८ वीं होरा	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
९ वीं होरा	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु
१० वीं होरा	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल
११ वीं होरा	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि
१२ वीं होरा	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र

१३ वीं होरा	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध
१४ वीं होरा	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
१५ वीं होरा	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
१६ वीं होरा	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु
१७ वीं होरा	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल
१८ वीं होरा	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि
१९ वीं होरा	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र
२० वीं होरा	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध
२१ वीं होरा	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
२२ वीं होरा	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
२३ वीं होरा	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल	बुध	गुरु
२४ वीं होरा	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मङ्गल

रव्यादि वारों के शुभत्व, अशुभत्व—

"शुक्रेज्य-बुध-चन्द्राणां वाराः सर्वत्र शोभनाः ।
रवि-भूसुत-मन्दानां शुभकर्मसु केषुचित् ॥"

शुक्र, बृहस्पति, बुधवार सब कार्यों में प्रशस्त होते हैं। रवि, मङ्गल और शनिवार शुभ कार्य में वर्जित हैं; किन्तु किसी-किसी शुभ कार्य में प्रशस्त होते हैं।

रवि आदि वारों में कृत्य—

"राजाभिषेकोत्सव-यान-सेवा गो-वह्नि-मन्त्रौषधि-शस्त्रकर्म ।
सुवर्ण-ताम्रौर्णिक-चर्म-काष्ठ-संग्राम-पण्यादि रवौ विदध्यात् ॥"

रविवार में—राजाभिषेक, उत्सव, यात्रा, नौकरी, गोसेवा, अग्निसम्बन्धी कार्य, मन्त्र, औषध, शस्त्र, सुवर्ण, ताँबा, ऊन, चमड़ा, लकड़ी, युद्ध और क्रय-विक्रयादि का व्यवहार करना चाहिए।

"शङ्खाब्ज-मुक्ता-रजतेक्षु-भोज्य-स्त्री-वृक्ष-कृष्यम्बु-विभूषणानि ।
गीत-क्रतु-क्षीरविकार-शृङ्ग-पुष्पाक्षरारम्भणमिन्दुवारे ॥"

सोमवार में—जल सम्बन्धी शङ्ख, सीप, मोती आदि का व्यवहार करना चाहिए।

"भेदानृत-स्तेय-विषाग्नि-शस्त्र-बन्धाभिधानाहव-शाठ्य-दम्भान्।
सेनानिवेशाकर-धातु-हेम-प्रवालकार्यादि कुजेऽह्नि कुर्यात्॥"

मङ्गलवार में—भेद (शत्रुओं में फूट कराना), मिथ्यादि क्रूर कार्य, युद्ध, खनिज पदार्थ, सुवर्ण मूँगे आदि का व्यवहार करना चाहिये।

"नैपुण्य-पण्या-ध्ययनं कलाश्च शिल्पादि-सेवा-लिपि-लेखनानि।
धातुक्रिया-काञ्चन-युक्ति-सन्धि-व्यायाम-वादाश्च बुधे विधेयाः॥"

बुधवार में—उच्च शिक्षा, व्यापार, अध्ययन आदि कार्य करना चाहिये।

"धर्मक्रिया पौष्टिक-यज्ञ-विद्या-माङ्गल्य-हेमाम्बर-वेश्म-यात्राः।
रथाश्व-भैषज्य-विभूषणाद्यं सर्वं विदध्यात् सुरमन्त्रिणोऽह्नि॥"

गुरुवार में—सब प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान करने चाहिये।

"स्त्री-गीत-शय्या-मणि-रत्न-गन्ध-वस्त्रोत्सवालङ्करणादि कर्म।
भू-पण्य-गो-कोश-कृषि-क्रियाद्यं कार्यं विदध्याद्भृगुजस्य वारे॥"

शुक्रवार में—स्त्री, सङ्गीत, शय्यादि करना चाहिये।

लोहाऽश्म-सीस-त्रपु-नीलवस्तु-पापानृत स्तेय-विषासवाद्यम्।
गृहप्रवेशो द्विपबन्ध-दीक्षास्थिराणि कर्माणि शनौ विदध्यात्॥"

शनिवार में—लोहा, पत्थर, सीसा, रांगा एवं नीले (काले) पदार्थ, चोरी आदि निकृष्ट कर्म, गृह प्रवेश, हाथी बाँधना और मन्त्रग्रहण आदि स्थिर कार्य करना चाहिये।

रवि आदि की स्थिर आदि संज्ञा--

**"रविः स्थिरः, शीतकरश्चरः, स्यान्महीज उग्रः, शशिजश्च मिश्रः।
लघुः सुरेज्यो, भृगुजो मृदुः स्यात्, तीक्ष्णः शनि-र्नामसदृग्गुणास्ते॥"**

रवि की स्थिर, चन्द्रमा की चर आदि संज्ञाएं हैं। इनमें नाम के समान ही गुण हैं।

वार-दोष का परिहार—

**"न वारदोषाः प्रभवन्ति रात्रौ देवेज्य-दैतेज्य-दिवाकराणाम्।
दिवा न चन्द्रार्कज-भूसुतानां, सर्वत्र निन्द्यो बुधवारदोषः॥"**

गुरु, शुक्र और रवि का दोष रात्रि में नहीं होता और चन्द्र मङ्गल तथा शनि का दोष दिन में नहीं होता है। बुधवार में जो दोष कथित है—वह दिन और रात्रिमें भी होता है।

मङ्गल तथा बुधवार के कर्तव्य—

**ऋणं भौमे न गृह्णीयान्न देयं बुधवासरे।
ऋणच्छेदं कुजे कुर्याद् बुधे च धनसङ्ग्रहम्॥"**

मङ्गलवार में ऋण नहीं लेना चाहिये और बुधवार को ऋण नहीं देना चाहिये। मङ्गलवार को ऋण चुकाना और बुधवार को धनसञ्चय करना चाहिये।

क्षण वार की संख्या और क्रम—

**चतुर्विंशमिता होरा वारवेशात् तदीश्वराः।
रविः शुक्रो बुधश्चन्द्रः शनिर्जीवः कुजः क्रमात्॥"**

प्रति वार में वार-प्रवेश-काल से २४ होराएं होती हैं। उनके स्वामी क्रम से-रवि, शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु और मङ्गल होते हैं। ७ के वाद ८ वीं होरा से पुनः इसी क्रम से गणना करके समझना।

इसका सरल ज्ञान प्रकार—

**"होरा वाराधिपस्याद्या तत्षष्ठस्य द्वितीयका।
तत्षष्ठस्य तृतीयैवं क्रमाज्ज्ञेयास्तदग्रिमाः॥"**

किसी भी वार में वार प्रवेश से प्रथम होरा उसी वारेश की, द्वितीय होरा वारेश से (रवि-आदि क्रमगणना से) छठे की, एवं तृतीय उससे छठे की; आगे इसी प्रकार छठे छठे की होरा होती है।

उदाहरण—५४-५५ पृष्ठ में मुद्रित स्पष्ट चक्र में देखिये।

जैसे, रविवार में प्रथम होरा रवि की, द्वितीय होरा रवि से छठे शुक्र की, इसी प्रकार सब वार में समझना।

क्षण वार (होरा) का प्रयोजन—

"यस्य ग्रहस्य वारे यत् कर्म किञ्चित् प्रकीर्तितम्।
तत् तस्य क्षणवारेऽपि कर्तव्यं यत्नतो बुधैः॥"

जिस ग्रह के वार में विहित अथवा निषिद्ध जो कर्म कहा गया है वह उसके क्षण वार में भी करना, क्योंकि स्थूल वार से सूक्ष्म वार प्रबल होता है।

प्रथम उदाहरण—

जैसे, रविवार में पूर्व दिशा में दिग्बल होने से यात्रा उत्तम कही गयी है और शनिवार में दिशा शूल होने से यात्रा अशुभ कही गयी है। अत: शनिवार को पूर्व की यात्रा नहीं करना। यदि शनिवार के दिन पूर्व की यात्रा आवश्यक हो तो रवि अथवा शुक्र की होरा में यात्रा करने से दिशाशूल का दोष न होकर, दिग्बल होने से शुभ फल ही होगा।

द्वितीय उदाहरण—

जैसे, रविवार में पश्चिम-दिशाशूल कहा गया है। यदि स्थूल (अहोरात्र रूप) रविवार में, पश्चिम जाना आवश्यक हो तो उस दिन सोम अथवा शनि के क्षण वार में, दिग्बल होने के कारण, यात्रा करनी चाहिये। जैसे, पृष्ठ ५४-५५के चक्र को देखिये –४,५,११,१२, १८,१९ वीं होरा—सोम और शनि की हैं। इनमें अपनी सुविधा के अनुसार, पश्चिम की यात्रा म स्थूल वार का दोष नहीं होगा।

[इति वारनिरूण]

[८] अथ नक्षत्रनिरूपण

नक्षत्र और ग्रहों का परिचय पूर्व में दिया जा चुका है। जिस कक्षा (गोल) में नक्षत्र देखने में आते हैं उसको विज्ञजन 'नक्षत्र-गोल'='भ-चक्र' किंवा 'भ—गोल' कहते हैं। इसका विशद वर्णन सिद्धान्तस्कन्ध में पाया जाता है। इसमें अधिकांश नक्षत्र तो पृथ्वी से असंख्य योजन की दूरी पर हैं। कुछ ही नक्षत्र ऐसे हैं–जिनकी दूरी गणित द्वारा जानी जा सकती है।

ये नक्षत्र परस्पर अनन्त योजन दूरी पर रहते हुए भी एक ही कक्षा-गोल-में प्रतिभासित होते हैं। उस कक्षा-गोल को 'दृग्-गोल' कहते हैं। उस दृग्गोल में ही सब ग्रह और नक्षत्र दृश्य होते हैं। ग्रहों में सबसे समीप 'चन्द्रमा' की कक्षा, उसके ऊपर क्रम से (भारतीय ज्योतिर्विदों के मत से) बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति और शनि–इन सात ग्रहों के कक्षा-गोल हैं। इन ग्रह-गोलों के ऊपर 'भ-गोल' है।

ये सब गोल अनन्त परिमाण 'आकाश-गोल' ('ख-गोल') के अन्तर्गत हैं। अत: ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति जानने के लिये भू-गोल, दृग्-गोल, ग्रह-गोल, भ-गोल तथा ख-गोल का ज्ञान आवश्यक होता है। यहाँ हम नक्षत्रों के स्वरूप, गुण तथा भेदों को, पृथ्वी पर होनेवाले शुभाशुभ फलों के ज्ञान के निमित्त दिखलाते हैं।

भास्कराचार्य ने भ-गोल की स्थिति बतलायी है—

"सृष्ट्वा भ-चक्रं कमलोद्भवेन, ग्रहैः सहैतद् भगणादिसंस्थैः।
शश्वद्भ्रमे विश्वसृजा नियुक्तं, तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे॥"

विश्व-रचयिता ब्रह्मा ने, ३६० अंश परिमाण परिधिवाले भ-चक्र स्थित १८० अंश अन्तरित उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवतारा गत धुरी (अक्ष) पर भ-चक्र को स्थिर कर, ध्रुवतारा से ९० अंश पर स्थित,

'रेवती' नामक तारा के साथ ही सूर्य आदि सातों ग्रहों को, अनवरत समगति से पश्चिमाभिमुख भ्रमण शक्ति देकर, नियुक्त किया।

भ्रमण करते हुए भ-चक्र में नक्षत्र तो अपने-अपने स्थान में स्थिर रहते हैं, किन्तु सूर्य आदि ग्रह ईश्वरप्रदत्त स्व-शक्ति से पूर्वाभिमुख चलित होते रहते हैं। जिससे उन ग्रहों का सब नक्षत्रों से सम्पर्क होता रहता है। इसी कारण से ही समय में प्रतिक्षण विभिन्नता होती रहती है।

नक्षत्रों की संख्या, नाम और भेद—

भ-चक्र के भ्रमण करने से रेवती तारा का भ्रमण-मार्ग 'काल-वृत्त' (नाडी-वृत्त) कहलाता है—जो ध्रुव से ९० अंश पर रहता है। तथा सूर्य का स्व-गति से पूर्वाभिमुख भ्रमण-मार्ग 'क्रान्ति-वृत्त' कहलाता है। काल-(नाडी-) वृत्त और क्रान्तिवृत्त का सम्पात बिन्दु भ-गोल सन्धि' है उसी बिन्दुसे भ-चक्र के तुल्य से २७ विभाग २७ नक्षत्र माने गये हैं। उनमें प्रथम विभाग में असंख्य छोटे-बड़े नक्षत्रों के बीच तीन प्रकाशवान् नक्षत्र हैं। उन तीन ताराओं की स्थिति से, अश्व (घोड़े के मुख) सदृश आकार, भासित होता है। इस लिये उस विभाग का 'अश्विनी' तथा आगे के विभागों में भी ताराओं की स्थिति-वश जैसी आकृति है, तदनुसार उनके रूप कहे गये हैं। यथा, मुहूर्तचिन्तामणि में—

अश्विनी आदि नक्षत्रों के रूप—

"अश्व्यादि रूपं तुरगास्य योनि-
क्षुरोऽन एणास्य-मणि-र्गृहं च।
पृषत्क-चक्रे भवनं च मञ्चः
शय्या करो मौक्तिक-विद्रुमं च॥
तोरणं बलिनिभं च कुण्डलं
सिंहपुच्छ-गजदन्त-मञ्चकाः ।

त्र्यस्रि च त्रिचरणाभ-मर्दलौ
वृत्त-मञ्च-यमलाभ-मर्दलाः ॥"

[१] अश्वमुख, [२] योनि, [३] क्षुर, [४] शकट, [५] मृग मुख, [६] मणि, [७] गृह, [८] बाण, [९] चक्र, [१०] भवन, [११] मञ्च, [१२] शय्या, [१३] हाथ, [१४] मुक्ता, [१५] मूँगा, [१६] तोरण (बन्दनवार), [१७] भातका समूह, [१८] कुण्डल, [१९] सिंह की पूँछ, [२०] हाथी का दाँत, [२१] मञ्च,] २२] त्रिकोण, [२३] तीन चरण, [२४] मृदङ्ग, [२५] वृत्त, [२६] मञ्च, [२७] यमल (जुड़वा,), [२८] मृदङ्ग।

गोल-सन्धि से आगे २७ विभागों में इतने २८ स्वरूप देखने में आते हैं। उनमें २१ वें और २२ वें विभाग के बीच तीन आकृति से दो ही नक्षत्र (उत्तराषाढ और श्रवण) माने जाते हैं। किसी-किसी कार्य-विशेष में, इन दोनों के बीच में 'अभिजित्' नामक एक और नक्षत्र माना गया है। वस्तुतः नक्षत्र २७ ही हैं।

उक्त भचक्र के २७ विभागों (नक्षत्रों) के गुणरूपानुसार नाम—

[१] अश्विनी, [२] भरणी, [३] कृत्तिका, [४] रोहिणी, [५] मृगशिरा, [६] आर्द्रा, [७] पुनर्वसु,]८] पुष्य, [९] श्लेषा, [१०] मघा, [११] पूर्वफाल्गुनी, [१२] उत्तरफाल्गुनी, [१३] हस्त, [१४] चित्रा, [१५] स्वाती, [१६] विशाखा, [१७] अनुराधा, [१८] ज्येष्ठा, [१९] मूल, [२०] पूर्वाषाढ़,]२१] उत्तराषाढ़, [२२] श्रवण, [२३] धनिष्ठा, [२४] शततारा, [२५] पूर्वभाद्र, [२६] उत्तरभाद्र, [२७] रेवती।

विशेष—भचक्र में ३६० अंश=२१६०० कलायें हैं अतः एक-एक नक्षत्र भाग में ८०० कला होती है। प्रति नक्षत्र में ४ चरण होते हैं। अतः प्रति चरण में २०० कला होती है। २१ वें उत्तरा-

षाढ़ के अन्तिम (चतुर्थ) चरण और २२ वें (श्रवण) के प्रारम्भ में पन्द्रहवें भाग (१३ कला २० विकला) के बीच में ३ ताराओं की स्थिति से एक त्रिचरणाकार रूप है--जिसका, कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः उसको भी बहुत से लोगों ने बहुत कार्य में एक नक्षत्र के रूप में मान लिया है। इसको लेकर २८ नक्षत्र माने जाते हैं। किन्तु चन्द्रतारादि विचार में उसकी गणना नहीं होती है।

इन नक्षत्रों में प्रकाशवती ताराओं की संख्या—

"त्रि-त्र्यङ्ग-पञ्चाग्नि-कु-वेद-वह्नयः शरेषु-नेत्राऽश्वि-शरेन्दु-भू-कृताः।
वेदाग्नि-रुद्राऽश्वि-यमाग्नि-वह्नयोऽब्धयः शतं द्वि-द्वि-रदाभ-तारकाः॥

अश्विन्यादि २८ नक्षत्रों में क्रम से ३, ३, ६, ५, ३, १, ४, ३, ५, ५, २, २, ५, १, १, ४, ४, ३, ११, २, २, ३, ३, ४, १००, २, २, ३२ प्रकाशवती ताराओं की संख्या है।

इन नक्षत्रों का परिचय देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र को बतलाया था—जिसका विशद वर्णन महर्षियों एवं आचार्यों ने अपनी-अपनी संहिता में किया है। उसको विज्ञजनों के सुबोधार्थ विस्तार-भय से, संस्कृत के श्लोकों को न लिखकर, केवल हिन्दी भाषा में ही लिख देना उचित समझते हैं—

[१] अश्विनी—

अश्वमुख आकार, प्रकाशवती ३ ताराएँ, अश्विनीकुमार देवता, क्षिप्र और लघु नाम। यह अल्प काल में साध्य सूती स्नान, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, हाथी-घोड़ा सम्बन्धी कार्य, तथा सब दिशाओं में यात्रा, अध्ययन, गीत, नृत्य, राजदर्शन राजाभिषेक आदि समस्त शुभ कार्यों में प्रशस्त है।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला सुन्दर, सुशील, आभूषण-प्रिय, अपने कुल और ग्राम में प्रधान, परोपकारिता आदि गुणों से सम्पन्न होता है।

[२] भरणी—
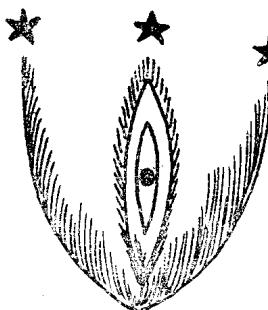
भगाकृति, तीन ताराएँ, यम देवता, उग्र और क्रूर संज्ञा। यह क्रूर (हिंसा) विषसम्बन्धी, अग्निसम्बन्धी, शस्त्र-निर्माण, चुगल-खोरी, शठता, धूर्तता (प्रवञ्चन) आदि कार्य में प्रयुक्त होता है। इस नक्षत्र में यात्रा आदि शुभ कार्य निन्द्य हैं।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला जातक भी उग्र स्वभाव, तेजस्वी, परोत्कर्ष को न सहन करनेवाला, साथ ही दुष्टों को दमन करने वाला भी होता है।

[३] कृत्तिका—
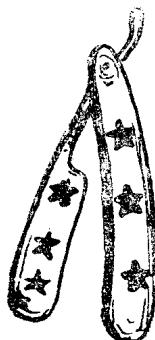
क्षुराकृति, छ ताराएँ, अग्निदेवता, तीक्ष्ण और दारुण नाम। इसमें अग्न्याधान एवं अग्नि सम्बन्धी पाक, हवन आदि, विष सम्बन्धी, शस्त्र-निर्माण आदि दारुण कार्य सिद्ध होते हैं। इसमें ऋण देना; परन्तु ऋण नहीं लेना चाहिये।

इस नक्षत्र में उत्पन्न जातक तेजस्वी, योद्धा, दुर्वृत्त पुरुषों का दमन करने वाला और क्रोधी होता है।

[४] रोहिणी—
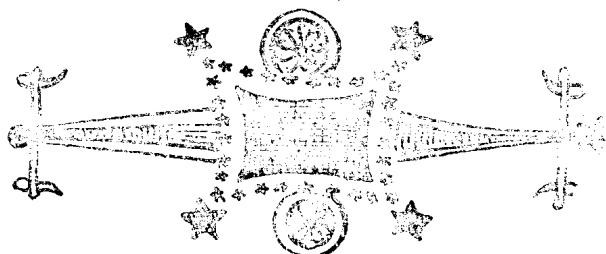
शकटाकार, पाँच ताराएँ, ध्रुव और स्थिर नाम, ब्रह्मा देवता। यह समस्त

स्थिर कार्यों (चिर काल साध्य कार्यों) जैसे गृह, आराम (उद्यान), विवाह, बधूप्रवेश-आदि में प्रशस्त है। इसमें यात्रा मध्यम होती है इस नक्षत्र में उत्पन्न पुरुष सुरूप, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वत्र विजयी, दृढ़प्रतिज्ञ, प्रतापी होता है।

[५] मृगशिरा—

मृगशीर्षाकृति, तीन ताराएँ, चन्द्रदेवता, मृदु और मैत्र नाम। इसमें गृह और कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य, सब दिशाओंकी यात्रा, गर्भाधान आदि, विवाह, द्विरागमन, राजाभिषेक, आदि समस्त शुभ कार्य प्रशस्त कहे गये हैं। इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला जातक मृदुल स्वभाव, सुन्दर शरीर, प्रिय वक्ता, दानी, परोपकारी आदि सद्गुणों से सम्पन्न होता है।

[६] आर्द्रा—

मणि सदृश आकार, एक तारा, रुद्र देवता, तीक्ष्ण और दारुण नाम। इसमें हिंसादि दारुण कार्य एवं जितने निन्द्य कर्म हैं—सब सिद्ध होते हैं। इस नक्षत्र में जन्म लेने वाला कृषि कर्म में कुशल, कठोर और मेधावी होता है।

[७] पुनर्वसु—

गृहाकृति, चार ताराएँ, अदिति देवता, चर और चल नाम। इसमें हाथी, घोड़े आदि की सवारी, वाटिका यात्रा, पुनर्भूविवाह, दीक्षा, औषधी निर्माण तथा सेवन, देव-प्रतिष्ठा (देवमूर्तियों के स्थापन) आदि शुभ कार्य प्रशस्त कहे गये हैं।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला जातक बुद्धिमान्, यशस्वी तथा उत्तम स्वभाव वाला होता है।

[८] पुष्य—
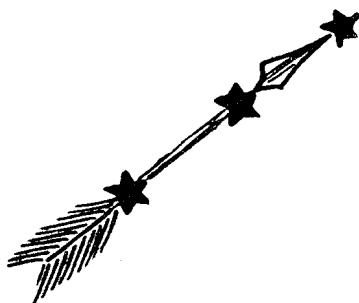
शरा- (बाणा-) कृति, तीन ताराएँ, बृहस्पति देवता, क्षिप्र और लघु नाम। यह समस्त नक्षत्रों में श्रेष्ठ माना गया है। इसमें विवाह को छोड़ कर, सब कार्य प्रशस्त कहे गये हैं तथा सब दिशाओं की यात्रा शुभप्रद होती है।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला सुरूप, बुद्धिमान्, सकल विद्या-निष्णात, दीर्घायु, सुखी और पुण्यात्मा होता है।

पुष्यके विषयमें ज्योतिषतत्व,

परकृतमखिलं निहन्ति पुष्यो
न खलु निहन्ति परस्तु पुरस्तु पुष्यदोषम्।
ध्रुवममृतकरेऽष्टमेपि पुष्ये
विहितमुपैति सदैव कर्म सिद्धिः॥

[९] श्लेषा—
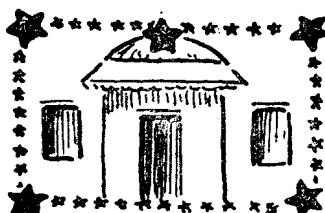
तोरणाकृति, पाँच ताराएँ, सर्प देवता, तीक्ष्ण और दारुण संज्ञा।

इसमें जितने दारुण (शस्त्र, विष आदि का निर्माण, मारण-मोहन-उच्चाटन-स्तम्भनादि) कार्य हैं उनके करने से सिद्धि होती है।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला कुटिल हृदय, धनवान् और बुद्धिमान् होता है।

[१०] मघा—

भक्तसमूह (भात की ढेर) की आकृति, पाँच ताराएँ, पितृदेवता, उग्र और क्रूर नाम ।

जितने क्रूर कर्म श्लेषा के सम्बन्ध में कहे गये हैं वे सब इसमें भी सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला उग्र स्वभाव, प्रतापी, धनी, दीर्घायु और यशस्वी होता है ।

[११] पूर्वफाल्गुनी—

मञ्च आकृति, दो तारा, भग देवता, उग्र और क्रूर नाम ।

इसमें समग्र उग्र—अस्त्र-शस्त्र-निर्माण, विषसम्बन्धी, अग्नि-सम्बन्धी—कार्य सिद्ध होते हैं ।
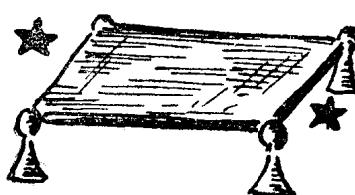
इस नक्षत्र में उत्पन्न जातक तेजस्वी, उग्र, मेधावी, और क्रोधी होता है ।

[१२] उत्तरफाल्गुनी—

शय्या आकृति, दो तारा, अर्यमा देवता, ध्रुव और स्थिर संज्ञा ।
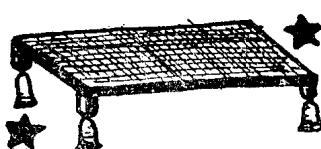
इसमें सब स्थिर (चिर काल साध्य) कार्य—यज्ञ, विवाह, उपनयनादि, गृहकर्म आदि सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेने वाला गम्भीर, धैर्यवान्, विवेक से कार्य करने वाला किन्तु दीर्घसूत्री होता है ।

[१३] हस्त—
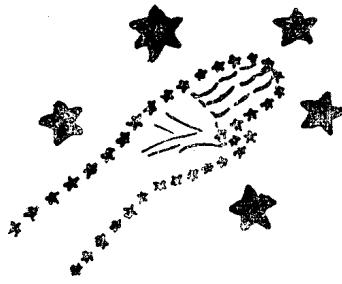
मनुष्य के हस्त सदृश आकृति, पाँच ताराएँ, सूर्य देवता, क्षिप्र और लघु नाम ।

इसमें चौल, उपनयन, वेदारम्भादि मङ्गल कार्य और अल्प-काल में सम्पन्न होने वाले समस्त कार्य प्रशस्त होते हैं ।

इस नक्षत्र में उत्पन्न होने वाला प्रत्युत्पन्न मति (हाजिर-जवाब), मेधावी, धनी और सुखी होता है ।

[१४] चित्रा—

मोती के आकार का, एक तारा, त्वष्टा (विश्वकर्मा) देवता, मृदु और मैत्र नाम ।

इसमें जितने मृदु कार्य हैं तथा मैत्री करना आदि सब सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला अनेक गुणों से युक्त, चित्रकला में प्रवीण तथा कोमल स्वभाव का व्यक्ति होता है ।

[१५] स्वाती—
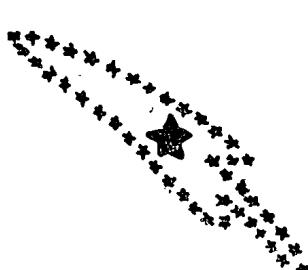
विद्रुम (मूँगा) सदृश आकृति, एक तारा, वायु देवता, चर और चल नाम ।

इसमें विवाहादि मङ्गल कार्य सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला बलवान्, चञ्चल स्वभाव, यशस्वी और सुखी होता है ।

[१६] विशाखा—
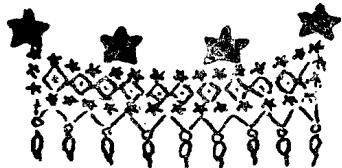
तोरण (बन्दनवार) आकृति, चार तारा, इन्द्राग्नि देवता (द्विदैवत), मिश्र और साधारण नाम ।

इस में मिले-जुले तथा साझेवाले (सहकारिता) कार्य एवं अग्नि सम्बन्धी सब कार्य सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला तेजस्वी, पराक्रमी और विवादों में मध्यस्थता करनेवाला होता है ।

[१७] अनुराधा—

अन्नकूट आकृति, चार तारा, मित्र देवता, मृदु और मैत्र नाम । इसमें विवाहादि मङ्गल कार्य एवं मैत्री करना शुभप्रद कहा गया है ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला सब से प्रेम करनेवाला, बुद्धिमान्, विद्वान्, कीर्तिमान्, लोकप्रिय होता है ।

[१८] ज्येष्ठा—
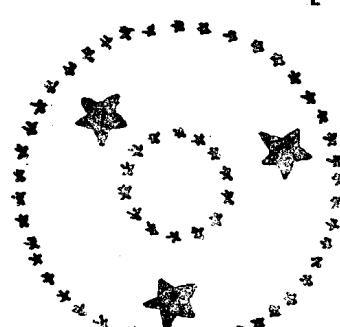
कुण्डल आकृति, तीन तारा, इन्द्र देवता, तीक्ष्ण और दारुण संज्ञा ।

इसमें राजा, राज्यपाल आदि उच्च-पदासीन व्यक्तियों से साक्षात्कार करना, वाहनों के तथा अभिचार आदि कार्य सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला पराक्रमी, धनवान् और तीक्ष्ण स्वभाव वाला होता है । अन्तिम चरण में जन्म अशुभ होता है ।

[१९] मूल—

सिंहपुच्छाकृति, ११ तारा, राक्षस देवता, तीक्ष्ण संज्ञा।

इसमें विवाह आदि मङ्गल कार्य सिद्ध होते हैं तथा इसमें समस्त दारुण कार्यों के करने का आदेश है।

इस नक्षत्र के तीन चरण तक जन्म अशुभ और चतुर्थ चरण शुभप्रद होता है।

[२०] पूर्वाषाढ—

गजदन्त (हाथी के दाँत) की आकृति, दो तारा, जल देवता, उग्र और क्रूर नाम।

इस में सब उग्र कार्य तथा जलाशय (वापी, कूप, तडाग, पुष्करिणी, सरोवर) खनन आदि कार्य सिद्ध होते हैं।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला मृदु स्वभाव, आलसी और दयालु होता है।

[२१] उत्तराषाढ—

मञ्चाकृति, दो तारा विश्वेदेव देवता, ध्रुव और स्थिर संज्ञा।

इसमें गृहनिर्माणादि समस्त स्थिर कार्य तथा विवाह प्रशस्त होते हैं।
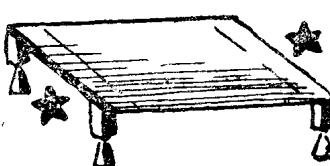
इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला गम्भीर, विवेकी, यशस्वी पुरुष होता है।

[२२] अभिजित्—

त्रिकोणाकृति, तीन तारा, गोविन्द देवता, क्षिप्र, और लघु नाम ।

इस में विवाहादि सकल मङ्गल कार्य सिद्ध होते हैं ।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला जातक सुन्दर, गुणवान् तथा धनवान् होता है ।

[२३] श्रवण—

त्रिचरणाकृति, तीन तारा, विष्णु देवता, चर नाम ।

इसमें यात्रादि जितने चल कार्य हैं सब सिद्ध होते हैं । इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला श्रद्धालु, देवता और ब्राह्मण का भक्त तथा यशस्वी होता है ।

[२४] धनिष्ठा—

मृदङ्ग आकृति, चार तारा, वसु देवता, चर संज्ञा ।

इस में भी सब चल (अल्प-काल-साध्य) कार्य सिद्ध होते हैं तथा दक्षिण को छोड़कर सब दिशाओं की यात्रा शुभप्रद होती है ।
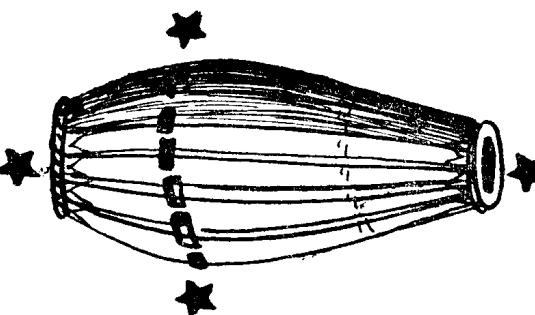
इस नक्षत्र में जन्म लेने वाला कुटुम्बी और बन्धुओं से भरा-पूरा परिवार वाला तथा सुखी होता है ।

[२५] शतभिषा—
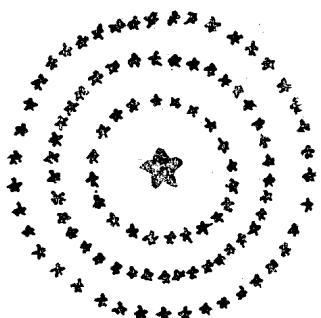
वर्तुलाकृति, शत (सौ) तारा, वरुण देवता, चर नाम।

इस में भी समस्त चल (अल्प काल साध्य) कार्य सिद्ध होते हैं।

इस नक्षत्र में जन्म लेने वाला व्यक्ति चञ्चल स्वभाव का तथा मृदु भाषी होता है।

[२६] पूर्व भाद्रपद—
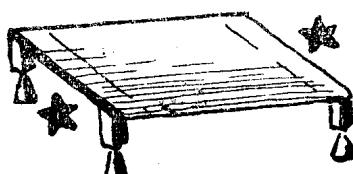
मञ्चाकृति, दो तारा, अजैकपाद देवता, उग्र नाम।

इसमें भी सम्पूर्ण उग्र कर्म सिद्ध होते हैं।

इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला मध्य प्रकार के गुण आदि से युक्त होता है।

[२७] उत्तर भाद्रपद—

यमल (जुड़वा) आकृति, दो तारा, अहिर्बुध्न्य देवता, ध्रुव नाम।

इसमें विवाह तथा गृहारम्भ आदि सब स्थिर कार्य सिद्ध होते हैं। इसमें तृण, काष्ठ (सरपत, बाँस-बल्ली) का गृह निषेध है।

[२८] रेवती—
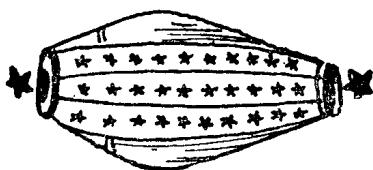
मृदङ्गाकृति, बत्तीस तारा, पूषा देवता, मृदु नाम।

इसमें सब मङ्गलकार्य तथा दक्षिण को छोड़कर सब दिशाओं की यात्रा आदि कार्य प्रशस्त कहे गये हैं।

इसके प्रथम चरण में जन्म होना अशुभ कहा गया है।

विशेष—श्लेषा के अन्त, मघा के आदि, ज्येष्ठा के अन्त और मूल के आदि, तथा रेवती के अन्त और अश्विनी के अन्त में मिलाकर चार-चार घड़ी की भ-सन्धि में जन्म अशुभ कहा गया है।

विशेष—कृत्यों में नक्षत्रों के शुभाशुभत्व तत्तत्प्रकरण में दिखलाये गये हैं।

इनमें पुष्य नक्षत्र सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यथा ज्यौतिषतत्त्व में—

"ग्रहेण विद्धोऽप्यशुभान्वितोऽपि विरुद्धतारोपि विलोमगोऽपि।
करोति पुंसां सकलार्थसिद्धिं विहाय पाणिग्रहणं हि पुष्यः॥"

ग्रहों से विद्ध होने अथवा पापग्रहों से युक्त होने, अशुभ (३,५,७ संख्यक) तारा होने, चन्द्र के विलोम (पृष्ठ) होने पर भी, पुष्य नक्षत्र—मानवों का, विवाह कृत्य को छोडकर, अन्य सब कार्यों में—सिद्धिप्रद होता है।

धनिष्ठादि पञ्चक विचार (दैवज्ञवल्लभ)—

"कार्यं न दारु-तृण-सङ्ग्रहमन्तकाशा-
यानं परेतदहनं गृहगोपनञ्च।

शय्या-वितानमिह वासवपञ्चके च
केचिद् वदन्ति परतो वसुभोत्तरार्धात् ॥"

गृह निर्माण के निमित्त लकड़ी (धरन, बड़ेर) तृण (फूस, सरपत) को काटना इकट्ठा करना, दक्षिण दिशा की यात्रा, मृत व्यक्ति का पुत्तलदाह (पुतला जलाना), गृहों को तृण से छाजन करना, शय्या और वितान (तम्बू छोलदारी पण्डाल)—धनिष्ठा से पाँच नक्षत्रों (धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद तथा रेवती) में नहीं करना चाहिये। बहुत से लोगों का कथन है कि धनिष्ठा के उत्तरार्ध से रेवती पर्यन्त ही त्याज्य है।

गर्ग—

"धनिष्ठापञ्चके चन्द्रे सूर्ये पैत्र्यादि-पञ्चके।
छेदनं नैव कर्तव्यं गृहार्थं तृण-काष्ठयोः ॥"

चन्द्र जब तक धनिष्ठा से पाँच नक्षत्र में और सूर्य मघा से पाँच नक्षत्र में रहें तब तक गृह के लिए तृण और काष्ठ का छेदन नहीं करना चाहिये।

आवश्यक में विशेषता—

"विज्ञस्त्वावश्यके कार्ये पञ्चके पञ्च नाडिकाः।
त्याज्याः क्रमात् तृतीयाद्य-द्व्यन्तपादावसानगाः ॥"

बहुत से आचार्यों का कथन है कि धनिष्ठा के तृतीय चरण, शतभिषा के चतुर्थ चरण, पूर्वभाद्र के द्वितीय चरण, उत्तरभाद्र के ४ चरण, और रेवती के चतुर्थ चरण में केवल पाँच-पाँच घड़ी त्याज्य है; बाकी में दोष नहीं।

नक्षत्रों के देवता, आकृति आदि—

(१)

नक्षत्र	अश्विनी	भरणी	कृत्तिका	रोहिणी	मृग	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	श्लेषा	मघा
देवता	दस्र	यम	अग्नि	ब्रह्मा	चन्द्र	शिव	अदिति	गुरु	सर्प	पितर
आकृति	अश्वमुख	योनि	क्षुर	शकट	मृग	मणि	गृह	शर	चक्र	गृह
तारा	३	३	६	५	३	१	४	३	५	५
संज्ञा	क्षिप्र	उग्र	मिश्र	ध्रुव	मृदु	तीक्ष्ण	चर	लघु	तीक्ष्ण	उग्र
योनि	अश्व	गज	मेष	सर्प	सर्प	श्वान	मार्जार	मेष	मार्जार	मूषक
गण	देव	नर	राक्षस	नर	देव	नर	देव	देव	राक्षस	राक्षस
नाडी	आद्य	मध्य	अन्त	अन्त	मध्य	आदि	आदि	मध्य	अन्त	अन्त
शरांश	१०	१०	४॥	४॥	१०	११	६	०	७	०
दिशा	उ०	उ०	उ०	द०	द०	द०	उ०	उ०	द०	उ०

(२)

नक्षत्र	पू०फा०	उ०फा०	हस्त	चित्रा	स्वाती	विशाखा	अनु०	ज्येष्ठा	मूल	पू०षा०	उ०षा
देवता	भग	अर्यमा	रवि	त्वष्टा	वायु	इन्द्र-अग्नि	मित्र	इन्द्र	राक्षस	जल	विश्वे०
आकृति	मञ्च	शय्या	हाथ	मुक्ता	मूँगा	तोरण	अन्नकूट	कुण्डल	सिंहपु.	गजदन्त	मञ्च
तारा	२	२	५	१	१	४	४	३	११	२	२
संज्ञा	उग्र	ध्रुव	लघु	मृदु	चर	मिश्र	मृदु	तीक्ष्ण	तीक्ष्ण	उग्र	ध्रुव
योनि	मूषक	गो	महिष	व्याघ्र	महिष	व्याघ्र	मृग	मृग	श्वान	वानर	नकुल
गण	नर	नर	देव	राक्षस	देव	राक्षस	देव	राक्षस	राक्षस	नर	नर
नाडी	मध्य	आदि	आदि	मध्य	अन्त	अन्त	मध्य	आदि	आदि	मध्य	अन्त
शरांश	१२	१३	११	१।४५	३७	१।२०	१।४५	३।३०	८।३०	५।०	५
दिशा	उ०	उ०	द०	द०	उ०	द०	द०	द०	द०	द०	द०

(३)

नक्षत्र	अभिजित्	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिषा	पू० भा०	उ० भा०	रेवती
देवता	विधि	गोविन्द	वसु	वरुण	अजपाद	अहिर्बु०	पूषा
आकृति	त्रिकोण	त्रिचरण	मृदङ्ग	वृत्त	मञ्च	यमल	मृदङ्ग
संज्ञा	लघु	चर	चर	चर	उग्र	ध्रुव	मृदु
तारा	३	३	४	१००	२	२	३२
योनि	नकुल	वानर	सिंह	अश्व	सिंह	गो	गज
गण	देव	देव	राक्षस	राक्षस	नर	नर	देव
नाडी	×	अन्त	मध्य	आदि	आदि	मध्य	अन्त
शरांश	६२	३०	३६	०।२०	२४	२६	०
दिशा	उ०	उ०	उ०	द०	उ०	उ०	उ०

विशेष—[बिम्ब, स्थान, शर, आकृति, शरांश]--

ग्रहों के सदृश ही नक्षत्रों के दो भेद होते हैं—(१) बिम्ब (तारा), [२] स्थान । नक्षत्र विभाग में अनन्त तारागण हैं । उनमें जिन प्रकाशवती ताराओं से आकृति बनती है-वह 'बिम्ब' कहलाता है तथा बिम्ब से निकटतम क्रान्तिवृत्तीय बिन्दु--उसका 'स्थान' कहलाता है । 'बिम्ब' तथा 'स्थान' का अन्तर 'शर' कहलाता है । किसी भी ग्रह अथवा नक्षत्र का 'शर' क्रान्तिवृत्त से उत्तर अथवा दक्षिण ९०° अंश के भीतर ही होता है । नक्षत्रों के विभाग के परिज्ञान के लिये उनकी 'आकृति' तथा 'शरांश' कहे गये हैं ।

[काल मान, स्थूल नक्षत्र]--

एक-एक नक्षत्र-विभाग में स्पष्ट गतिवश चन्द्रमा जितने समय तक रहते हैं वही उस नक्षत्र का 'काल-मान' (घट्यादि) पञ्चांग में

लिखा जाता है। नक्षत्रों के शुभाशुभ फल अपने-अपने काल में ही होते हैं।

नक्षत्रों के कालमान स्पष्ट चन्द्रगतिवश ५४ घड़ी से ६६ घड़ी तक होते हैं—जिनका उल्लेख पञ्चांग में किया जाता है, वे 'स्थूल नक्षत्र' माने गये हैं। इनके अतिरिक्त 'सूक्ष्म नक्षत्र' भी होते हैं। यथा,

सूक्ष्म नक्षत्र—

प्रत्येक दिन सूर्योदय काल से नक्षत्रों के देवता के एक-एक मुहूर्त (२--२ घड़ी,) 'सूक्ष्म नक्षत्र' माने गये हैं। संहिता-ग्रन्थों में जो नक्षत्रों के फल कहे हुए हैं. वे 'स्थूल नक्षत्र' में सामान्य रूप से और 'सूक्ष्म नक्षत्र' में ही विशेष रूप से होते हैं। इस लिये महर्षियों का आदेश है कि--

"यत्र भे कर्म यत् प्रोक्तं तत् स्वामि-क्षण-भेऽपि तत्।
सर्वं शूलादिकं चापि बुधैश्चिन्त्यं प्रयत्नतः॥"

नक्षत्रों में जो कर्म कथित है, वह उस नक्षत्र के देवता के मुहूर्तरूप (क्षण नक्षत्र) में भी करना, दिक् शूलादि का विचार भी सूक्ष्म में ही करना चाहिये।

३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है, उनमें १५ दिन और १५ रात्रि माने जाते हैं। तदनुसार मुहूर्तों के स्वामी--

"गिरिश-भुजग-मित्राः पित्र्य-वस्वम्बु-विश्वे—
ऽभिजिदथ च विधातापीन्द्र इन्द्रानलौ च।
निरृतिरुदकनाथोऽप्यर्यमाथो भगः स्युः
क्रमश इति मुहूर्ता वासरे बाण-चन्द्राः॥

शिवोऽजपादादष्टौ स्युभशा अदिति-जीवकौ
विष्ण्वर्क-त्वाष्ट्र-मरुतो मुहूर्ता निशि कीर्तिताः॥"

दिवा मुहूर्त			रात्रि मुहूर्त		
१ शिव	=	आर्द्रा	१६ शिव	=	आर्द्रा
२ सर्प	=	श्लेषा	१७ अजपाद	=	पूर्वभाद्रपद
३ मित्र	=	अनुराधा	१८ अहिर्बुध्न्य	=	उत्तरभाद्रपद
४ पितर	=	मघा	१९ पूषा	=	रेवती
५ वसु	=	धनिष्ठा	२० दस्र	=	अश्विनी
६ जल	=	पूर्वाषाढ	२१ यम	=	भरणी
७ विश्वेदेव	=	उत्तराषाढ	२२ अग्नि	=	कृत्तिका
८ अभिजित्	=	"	२३ ब्रह्मा	=	रोहिणी
९ ब्रह्मा	=	रोहिणी	२४ चन्द्र	=	मृगशिरा
१० इन्द्र	=	ज्येष्ठा	२५ अदिति	=	पुनर्वसु
११ इन्द्राग्नि	=	विशाखा	२६ गुरु	=	पुष्य
१२ निऋति	=	मूल	२७ विष्णु	=	श्रवण
१३ वरुण	=	शतभिषा	२८ रवि	=	हस्त
१४ अर्यमा	=	उत्तरफाल्गुनी	२९ त्वष्टा	=	चित्रा
१५ भग	=	पूर्वफाल्गुनी	३० वायु	=	स्वाती

किसी भी कृत्य में विहित स्थूल और सूक्ष्म—दोनों ही ग्रहण करना तथा आवश्यक में दो में एक अवश्य विहित लेना चाहिये।

नक्षत्र ज्ञान प्रकार—

"भ-भोगोऽष्टशतीलिप्ताश्चन्द्रगत्या भवत्यतः।
चन्द्रलिप्ता भ-भोगाप्ता भानि भुक्त्या दिनादिकम्॥"

एक-एक नक्षत्र का भोग ८०० कला है। इस लिये (स्पष्ट-चन्द्राश्रित नक्षत्र जानने के लिये) स्पष्ट चन्द्रमा को कलात्मक बनाकर, उसमें ८०० का भाग देने से, लब्धि गत नक्षत्र और शेष वर्तमान नक्षत्र की भुक्त कला होती है। भुक्तकला को ८०० में घटाने से भोग्य कला होती है। उससे चन्द्रगति द्वारा भुक्त तथा भोग्य घडी का साधन करना चाहिये।

उदाहरण—

यदि किसी दिन प्रातः काल राश्यादि स्पष्ट चन्द्र=२।१०।२५।००। चन्द्रगति ७५०'।० है तो चन्द्रमा को कलात्मक बनाने से ४२२५'। इसमें चन्द्रगति से भाग देने से लब्धि ५ गत नक्षत्र (मृगशिरा); शेष ४७५ आर्द्रा की भुक्तकला, इसको ६० से गुणाकर २८५००; इसमें चन्द्रगति ७५० के भाग देने से उदयकाल में भुक्त घटी ३८।०।

एवम् भुक्तकला को ८०० में घटाने से भोग्य कला ३२५ भोग्यकला को ६० से गुणा करने से १९५००; इसमें गति ७५० के भाग देने से सूर्योदय से आगे की भोग्य घड़ी २६।०; इसीको लोग पञ्चाङ्ग में लिखते हैं। भुक्त और भोग्य घड़ी मिलाकर, आर्द्रा का पूर्ण भोगमान ६४ घड़ी समझना।

नक्षत्रों की ध्रुव, स्थिर, आदि संज्ञाएँ—

पुनः विशेष—उक्त नक्षत्रों में ७ प्रकार के ही गुण (धर्म) पाये जाते हैं। अतः जिन-जिन में समान धर्म हैं, उन सबों की लाघवार्थ एक ही संज्ञा कही गयी है। यथा—

"उत्तरात्रयरोहिण्यो ध्रुवाख्याश्च स्थिराः स्मृताः।
स्वात्यादित्ये श्रुतेस्त्रीणि चराख्यानि चलानि च ॥
पूर्वात्रयं मघायाम्यं क्रूराख्यं चेति पञ्चकम्।
कृत्तिका च विशाखा च द्वावेते मिश्रसंज्ञके ॥

हस्तोऽश्विन्यभिजित् पुष्यो लघुसंज्ञं चतुष्टयम् ।
चित्रा मित्रं मृगोऽन्त्यं च मृदुसंज्ञं प्रकीर्तितम् ॥
ज्येष्ठा मूलं शिवः श्लेषा तीक्ष्णमेतच्चतुष्टयम् ।
स्व-स्व-संज्ञानुसारेण सर्वमेतत् फलप्रदम् ॥"

ध्रुव तीनों उत्तर और रोहिणी—ये 'ध्रुव' और 'स्थिर' संज्ञक हैं। स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा—ये 'चर' और 'चल' संज्ञक हैं। तीनों पूर्वा, मघा और भरणी—ये पाँचों 'क्रूर' संज्ञक हैं। कृत्तिका और विशाखा—ये दो 'मिश्र' संज्ञक हैं। अश्विनी, अभिजित्, हस्त और पुष्य—ये 'लघु (क्षिप्र)' संज्ञक हैं। चित्रा, अनुराधा, मृगशिरा और रेवती—ये 'मृदु' संज्ञक' हैं। ज्येष्ठा, मूल, आर्द्रा और श्लेषा—ये 'तीक्ष्ण' संज्ञक हैं। ये अपने-अपने नाम-तुल्य ही फल देनेवाले हैं।

अन्य विशेषतायें तत्तत्प्रकरण में वर्णित हैं।

[इति नक्षत्रनिरूपण]

• •

[९] अथ योगनिरूपण

योग की परिभाषा—

"सूर्येन्दुगतिसंयोगः खाभ्राष्टकलिकामितः ।
योगो, विष्कम्भकाद्यास्ते सप्तविंशतिसम्मिताः ॥"

सूर्य तथा चन्द्र का गति-योग जब ८०० कला तुल्य होता है तो एक 'योग' कहलाता है। भ-चक्र में 'विष्कम्भ' आदि नाम से उनकी संख्या २७ होती है। यथा—

योगों के नाम—

[१] विष्कम्भ, [२] प्रीति, [३] आयुष्मान्, [४] सौभाग्य, [५] शोभन, [६] अतिगण्ड, [७] सुकर्मा, [८] धृति, [९] शूल, [१०] गण्ड, [११] वृद्धि,

[१२] ध्रुव, [१३] व्याघात, [१४] हर्षण, [१५] वज्र, [१६] सिद्धि [१७] व्यतीपात, [१८] वरीयान्, [१९] परिघ, [२०] शिव, [२१] सिद्ध, [२२] साध्य, [२३] शुभ, [२४] शुक्ल, [२५] ब्रह्म, [२६] ऐन्द्र, [२७] वैधृति ।

ये अपने-अपने नाम-तुल्य फलप्रद हैं । इस लिये विष्कम्भ, अतिगण्ड, शूल, गण्ड, व्याघात, वज्र, व्यतीपात, परिघ और वैधृति— ये दुर्योग कहे गये हैं । शेष सब सुयोग हैं ।

दुर्योगों का परिहार—

"स-वैधृतिस्तु व्यतिपातयोगः सर्वोऽप्यनिष्टः परिघस्य चार्धम् ।
तिस्रो हि नाड्यः प्रथमः स-वज्रे व्याघातयोगे नव पञ्च शूले ।
गण्डेऽतिगण्डे च षडेव नाड्यः शुभेषु कार्येषु विवर्जनीयाः ।
शुभे विलग्ने सकलेऽपि कार्ये दुर्योगदोषा विलयं प्रयान्ति ॥"

समस्त शुभ कार्यों में समस्त व्यतिपात और वैधृति वर्ज्य हैं । परिघ योग का पूर्वार्ध, विष्कम्भ और वज्र में ३ घड़ी, व्याघात में ९ घड़ी, शूल में ५ घड़ी, गण्ड और अतिगण्ड में आरम्भ से केवल ६ घड़ी शुभ कार्य में त्याग करना चाहियें । विशेष—यह है कि यदि लग्न की शुद्धि हो तो इन दुर्योगों के दोष नष्ट हो जाते हैं ।

विशेष (सूक्ष्मयोग)—

तिथि और नक्षत्र के समान ही योग में भी उस-उस योग से प्रारम्भ करके, क्रम से २७ सूक्ष्म योग बीतते हैं । योग का जितना मान (घटचादि) हो उसका २७ वाँ भाग, एक-एक सूक्ष्म योग का मान होता है । यथा, वसिष्ठ—

"योगस्य सप्तविंशांशः सूक्ष्मयोगो बुधैः स्मृतः ।
एवमेकैकयोगेऽपि सर्वे योगा व्यवस्थिताः ॥"

अर्थ और उदाहरण स्पष्ट है ।

योगसाधन प्रकार—

सूर्य और चन्द्रमा की गतिकला का योग एक नक्षत्र-भोग के तुल्य (८००′) होने से एक योग होता है। अतः इष्ट-काल में सूर्य और चन्द्रमा के योग को कलात्मक बनाकर, एक नक्षत्र-भोग कला ८०० का भाग देने से, लब्धि विष्कम्भादि योग की गत संख्या और शेष वर्तमान योग की गत कला, उसको ८०० में घटाने से भोग्यकला होती है। गत और भोग्य कला को पृथक् ६० से गुणा करके, गुणनफल में सूर्य-चन्द्र की गतिकला के योग से भाग देने से, वर्तमान योग का गत और भोग्य घट्यादि मान होता है। इस प्रकार उदयकालिक सूर्य-चन्द्र द्वारा गत भोग्य घट्यादि का योग, उस योग का पूर्ण भोग तथा भोग्य घटीपल उदय से आगे, उसका मान पञ्चांग में लिखा जाता है।

योग जानने का प्रकार (सूर्यसिद्धान्त)—

"सूर्येन्दु-युति-लिप्तास्तु योगा भ-भोग-भाजिताः।
गता गम्याश्च षष्टिघ्ना भुक्तियोगेन भाजिताः॥"

स्पष्टार्थ।

वर्तमान योग जानने की रीति—

"यन्नक्षत्रे स्थितः सूर्यो यन्नक्षत्रे च चन्द्रमाः।
द्वयोर्योगात् त्यजेदेकं योगो विष्कम्भकादिकः॥"

जिस नक्षत्र में सूर्य हो तथा जिस नक्षत्र में चन्द्रमा हो—दोनों की अश्विनी आदि संख्याओं के योग में १ घटाकर, शेष तुल्य विष्कम्भादिक वर्तमान योग समझना।

उदाहरण—

जैसे, सूर्य मृगशिरा में और चन्द्रमा पुष्य में है तो अश्विनी से सूर्य नक्षत्र ५, तथा चन्द्र नक्षत्र ८, दोनों के योग = १३ में १ घटाने से, शेष १२। विष्कम्भादि गणना से १२ वाँ ध्रुव नामक योग हुआ।

[इति योगनिरूपण]

[१०] अथ करणनिरूपण

"तिथ्यर्धं करणं प्रोक्तं तानि चैकादशैव हि।
तेषु स्थिराणि चत्वारि, सप्त सन्ति चराणि च ॥"

तिथि के आधे को करण कहते हैं। मास में तिथ्यर्ध तो ६० होते हैं, किन्तु करण ११ ही हैं। उनमें ४ तो 'स्थिर' और ७ 'चर' करण हैं।

तिथियों में करणों की स्थिति—

"चतुर्दशी या शशिना प्रहीणा तदर्धभागे शकुनिर्द्वितीये।
दर्शार्धयोः स्तश्चतुरंघ्रिनागौ किंस्तुघ्नमाद्ये प्रतिपद्दले च ॥
स्थिराणि चैतानि तिथित्रयेऽस्मिन्; ततः सिताद्योत्तरखण्डतस्तु।
बवाह्वयं बालव-कौलवाख्ये ततो भवेत् तैतिलनामधेयम् ॥
गराभिधानं वणिजं च विष्टिरित्याहुरार्याः करणानि सप्त।
चराणि, चैतानि पुनः पुनश्च भ्रमन्ति शेषेषु तिथिष्वजस्रम् ॥"

कृष्णपक्ष चतुर्दशी के उत्तरार्ध में 'शकुनि', अमावास्या के पूर्वार्ध में 'चतुष्पद', उत्तरार्ध में 'नाग' और शुक्ल प्रतिपदा के पूर्वार्ध में 'किंस्तुघ्न'—ये ४ करण इन्हीं तीन तिथियों में स्थिर रहते हैं। तथा शुक्लपक्ष प्रतिपदा के उत्तरार्ध से 'बव', 'बालव', 'कौलव', 'तैतिल', 'गर', 'वणिज' और 'विष्टि' (भद्रा)—ये ७ करण शेष तिथ्यर्धों में पुनः पुनः ८ आवृत्ति से भ्रमण करते हैं।

किसी भी तिथि में चर करण जानने का प्रकार—

"द्विघ्नी गततिथिः सप्तभक्ता शेषमितं भवेत्।
बवाद्यं करणं पूर्वे दलेऽन्यस्मिन् तदग्रिमम् ॥"

तिथि में करण जानना हो तो शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से गत तिथि संख्या को २ से गुणा करके, ७ के भाग देने से, जो शेष बचे उतने संख्यक बवादि करण समझना चाहिये।

उदाहरण—

शुक्ल पक्ष अष्टमी में करण जानना हो तो गत तिथिसंख्या ७ को, २ से गुणा करने से १४ हुआ, इसमें ७ के भाग देने से, ० [शून्य] अर्थात् ७ वाँ विष्टि नामक करण अष्टमी के पूर्वार्ध में और उससे अग्रिम बव उत्तरार्ध में हुआ।

विशेष—

भाग देने पर यदि शेष ० [शून्य] हो जाय तो ० [शून्य] को हर (भाजक) तुल्य समझना चाहिये।

बवादि करणों में कृत्य—

"कुर्याद् 'बवे' शुभ-चर-स्थिर-पौष्टिकानि,
धर्मक्रिया द्विजहितानि 'बालवाख्ये।'
सम्प्रीति-सिद्ध-करणानि च 'कौलवे' स्युः
सौभाग्य-संश्रुति-शुभानि च 'तैतिलाख्ये॥'
कृषि-बीज-गृहाश्रयजानि 'गरे'
'वणिजे' ध्रुवकार्यवणिक्पतयः।
न हि 'विष्टिदलं' विदधाति शुभं
परघात-विषादिषु सिद्धिकरम्॥
कार्यं पौष्टिकमौषधादि 'शकुनौ' मूलानि मन्त्रांस्तथा
गोकार्याणि 'चतुष्पदे' पितृसुरानुद्दिश्य राज्यानि च।
'नागे' स्थावर-दारुणानि हरणं दौर्भाग्यकर्माण्यतः
'किंस्तुघ्ने' शुभवृद्धि-पुष्टिकरणं माङ्गल्यसिद्धिक्रिया॥"

अर्थ स्पष्ट है।

करण-चक्र—

शुक्ल पक्ष			कृष्ण पक्ष		
तिथि	पूर्वार्ध	उत्तरार्ध	तिथि	पूर्वार्ध	उत्तरार्ध
प्रतिपदा	किंस्तुघ्न	बव	प्रतिपदा	बालव	कौलव
द्वितीया	बालव	कौलव	द्वितीया	तैतिल	गर
तृतीया	तैतिल	गर	तृतीया	वणिज	विष्टि
चतुर्थी	वणिज	विष्टि	चतुर्थी	बव	बालव
पञ्चमी	बव	बालव	पञ्चमी	कौलव	तैतिल
षष्ठी	कौलव	तैतिल	षष्ठी	गर	वणिज
सप्तमी	गर	वणिज	सप्तमी	विष्टि	बव
अष्टमी	विष्टि	बव	अष्टमी	बालव	कौलव
नवमी	बालव	कौलव	नवमी	तैतिल	गर
दशमी	तैतिल	गर	दशमी	वणिज	विष्टि
एकादशी	वणिज	विष्टि	एकादशी	बव	बालव
द्वादशी	बव	बालव	द्वादशी	कौलव	तैतिल
त्रयोदशी	कौलव	तैतिल	त्रयोदशी	गर	वणिज
चतुर्दशी	गर	वणिज	चतुर्दशी	विष्टि	शकुनि
पूर्णिमा	विष्टि	बव	अमावास्या	चतुष्पद	नाग

इन करणों में भद्रा का विशेष महत्त्व कहा गया है। प्रतिमास ८ तिथ्यर्धों में ही भद्रा रहती है। यथा—

"शुक्ले पूर्वार्धेऽष्टमी-पञ्चदश्यो-
भंद्रैकादश्यां चतुर्थ्यां परार्धे।
कृष्णेऽन्त्यार्धे स्यात् तृतीया-दशम्योः,
पूर्वे भागे सप्तमी-शम्भुतिथ्योः ॥"

शुक्लपक्ष ८, १५ तिथि के पूर्वार्ध, ४, ११ तिथि के उत्तरार्ध में; तथा कृष्णपक्ष ३, १० तिथि के उत्तरार्ध और ७, १४ तिथि के पूर्वार्ध में भद्रा रहती है।

क्रम से इनके नाम—

"कराली नन्दिनी रौद्री सुमुखी दुर्मुखी तथा।
त्रिशिरा वैष्णवी हंसी विष्टेः संज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥"

तिथि के पूर्वार्ध में दिवा भद्रा और उत्तरार्ध में रात्रि भद्रा कहलाती है। दिवाभद्रा दिनमें और रात्रिभद्रा रात्रि में 'क्रमागत' और इससे विपरीत 'अ-क्रमागत' कहलाती है।

दिवा भद्रा रात्रि में और रात्रिभद्रा दिनमें शुभप्रदा होती है। यथा, बृहस्पति—

"दिवा भद्रा यदा रात्रौ रात्रि भद्रा यदा दिवा।
भद्रादोषस्तदा न स्यात् सा भद्रा भद्रदायिनी ॥"

तथा—"विष्टिस्तु सर्वथा त्याज्या क्रमेणैवागता तु या।
अक्रमेणागता भद्रा सर्वकार्येषु शोभना ॥"

अर्थात् पूर्वार्ध की भद्रा दिन में और उत्तरार्ध की भद्रा रात्रि में त्याज्य है। इससे विपरीत पूर्वार्ध की भद्रा रात्रि में और उत्तरार्ध की भद्रा दिन में समस्त कार्यों में प्रशस्त होती है।

यहाँ बहुतसे तत्त्वानभिज्ञ जन समस्त (तिथ्यर्ध) भद्रा को त्याज्य समझते हैं। यह प्रामादिक समझना। भद्रा शब्द से केवल भद्रा का मुखभाग ५ घड़ी मात्र त्याज्य है। यथा, उक्त आठों तिथियों में क्रम से—

"पञ्च-द्वयद्रि-कृताष्ट-राम-रस-भू-यामादिघटयः शराः
विष्टेरास्यमसद् गजेन्दु-रस-रामाद्रयश्वि-बाणाब्धिषु।

यामेष्वन्त्यघटीत्रयं शुभकरं पुच्छं तथा वासरे
विष्टिस्तिथ्यपरार्धजा शुभकरी रात्रौ तु पूर्वार्धजा ॥"

स्पष्ट अर्थ चक्र में देखिये—

	शुक्लपक्ष				कृष्णपक्ष			
तिथि	चतुर्थी	अष्टमी	एकादशी	पूर्णिमा	तृतीया	सप्तमी	दशमी	चतुर्दशी
प्रहर	५	२	७	४	८	३	६	१
मुख घटी	५	५	५	५	५	५	५	५
प्रहर	८	१	६	३	७	२	५	४
पुच्छ घटी	३	३	३	३	३	३	३	३
दिशा	प०	अ०	उ०	नै०	ई०	द०	वा०	पू०

भद्रा-मुख, भद्रा-पुच्छ—

सम्पूर्ण तिथिमान (घड़ी पल) को अहोरात्र मानकर, उसके आठ विभाग को आठ पहर मानकर, मुख और पुच्छ घटी का ज्ञान करना चाहिये। तथा त्याज्य भद्रा' शब्द से केवल भद्रा के मुखभाग का ही ग्रहण होता है। अतः भद्रा में केवल मुखघटीमात्र त्याज्य है तथा पुच्छघटी तो सब कार्य में अत्यन्त शुभप्रद ही होती है। यथा—

"पृथिव्यां यानि कर्माणि शुभान्यप्यशुभानि वा।
तानि सर्वाणि सिद्ध्यन्ति विष्टिपुच्छे न संशयः ॥"

जहाँ पूर्णिमा के कृत्यों में कहा गया है कि—

"भद्रायां द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा।"

अर्थात् शुभ कार्य के समान ही भद्रा में होलिकादाह एवं रक्षाबन्धन उपाकर्म--ये दो नहीं करने चाहिये। वहाँ भी 'भद्रा' शब्द से 'मुखघटी' मात्र समझना चाहिये।

यहाँ कुछ शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ जन समझते हैं कि 'भद्रा में केवल दो ही (श्रावणी और फाल्गुनी) मात्र नहीं करना, अन्य कर्म में भद्रा का दोष नहीं होता है'—ऐसा अर्थ मुनिवचनों के विरुद्ध हैं।

कुछ प्राचीन आचार्यों ने उक्त ८ तिथियों की भद्रा का मुख आठ दिशाओं में बताया है। यथा, श्रीपति—

"जल-शिखि-शशि-रक्षः-शर्व-कीनाश-वायु-
त्रिदशपति-ककुप्सु प्रोक्तमास्यं हि विष्टेः।
नियतमृषिभिराशासंख्ययामैः क्रमेण
स्फुटमिह परिहार्यं मङ्गलेष्वेतदेव ॥"

बहुतसम्मत अन्य परिहार—

"कुम्भ-कर्कद्वये मर्त्ये स्वर्गेऽब्जेऽजात् त्रयेलिगे।
स्त्री-धनु-जूक-नक्रेऽधो भद्रा तत्रैव तत्फलम् ॥"

वार के अनुसार भद्रा के नाम—

"सोमे शुक्रे च 'कल्याणी' शनिवारे तु 'वृश्चिकी।'
गुरौ 'पुण्यवती' सूर्य-बुध-भौमेषु 'भद्रिका' ॥"

इस से केवल शनिवार की भद्रा अशुभ मानी गयी है।

भद्रा की दिशा—

"मनु-वसु-मुनि-तिथि-युग-दश-शिव-गुण-तिथीषु पूर्वाद्याः।
आयाति विष्टिरेखा पृष्ठे शुभदा पुरस्त्वशुभाः ॥"

स्पष्टार्थ चक्र

तिथि	१४	८	७	१५	४	१०	११	३
दिशा	पूर्व	अग्नि०	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान०

यात्रा में पृष्ठस्थ भद्रा शुभ और सम्मुख अशुभ होती है।

वस्तुतः करण (भद्रा) का दोष तुच्छ दोषों में माना जाता है। यह अन्य गुणों के रहने पर स्वयमेव नष्ट हो जाता है। यथा—

"भ-तिथि-करण-दोषा वार-योगोद्भवा वा
सपदि शशिनि शस्ते नाशमायान्ति सर्वे।
सकल-विविधदोषाः सद्गुणत्वं व्रजन्ति
भवति यदि सुकार्ये चित्तशुद्धिर्नराणाम् ॥"

किसी भी कार्य में यदि चन्द्रमा प्रशस्त हो तो तिथि, नक्षत्र, करण, वार, और योगों का दोष नाश हो जाता है। यदि किसी भी कार्य में मनुष्य की मनःशुद्धि हो तो समस्त दोषों का नाश हो जाता है और कार्य की सिद्धि होती है।

[इति करणनिरूपण]

[११] अथ चन्द्रतारादि निरूपण

प्रत्येक कार्य में चन्द्रमा और तारा की अनुकूलता देखी जाती है। जन्म अथवा नाम नक्षत्र से तारा तथा चन्द्रमा का विचार किया जाता है। अतः नक्षत्र द्वारा राशि निरूपण—

चन्द्रमा के भ्रमण भ-चक्र के २७ विभागों में नक्षत्र और चन्द्र-रश्मि-सम्पर्क से २७ प्रकार का फल देखने में आया। तथा प्रत्येक विभाग (नक्षत्र) में ४-४ प्रकार के फलभेद देखे गये। अतः प्रत्येक नक्षत्र में ४, ४ चरण अथवा अंश के अनुसार पृथक् फलादेश किये हैं।

अतः आगमवेत्ताओं ने जन्मकालिक नक्षत्र के चरणानुसार फल-ज्ञानार्थ प्रत्येक नक्षत्र के चरणों में अक्षरों की कल्पना की। तथा उसके ज्ञानाथ, "अ ब क ह ड़ा, म ट प र ता, न य भ ज खा, ग श द च ला" एक शतपदचक्र बनाकर, उक्त सूत्रों के प्रत्येक अक्षर के साथ 'अ, इ, उ, ए, ओ'–इन पाँच स्वरों के योग से नक्षत्र-चरणों में अक्षरों का न्यास किया--जिसका विशदवर्णन स्वर-ग्रन्थों में दिया गया है। जिसको शतपद चक्र अथवा अबकहड़ा चक्र कहा जाता है। यथा—

शतपदचक्र—

अ	व	क	ह	डा	म	ट	प	र	ता
ई	बी	की	ही	डी	मी	टी	पी	री	ती
ऊ	बू	कू घ ङ छ	हू	डू	मू	टू	पू ष ण ठ	रू	तू
ए	बे	के	हे	डे	मे	टे	पे	रे	ते
ओ	बो	को	हो	डो	मो	टा	पो	रो	तो
न	य	भ	ज	खा	ग	श	द	च	ला
नी	यी	भी	जी	खी	गी	शी	दी	ची	ली
नू	यू	भू ध फ ढ	जू	खू	गू	शू	दू थ झ ञ	चू	लू
ने	ये	भे	जे	खे	गे	शे	दे	चे	ले
नो	यो	भो	जो	खो	गो	शो	दो	चो	लो

यहाँ हम विज्ञजनों के अभ्यासार्थ प्रत्येक नक्षत्रगत चरण के अक्षरों को लिख देते हैं, जिससे उन्हें कण्ठस्थ कर लेने में सुविधा हो।

चू चे चो ला=अश्विनी [१] ली लू ले लो=भरणी [२] आ ई ऊ ए=कृत्तिका [३]। ओ वा बी बू=रोहिणी [४]। बे बो का की=मृगशिरा [५]। कू घ ङ छ=आर्द्रा [६]। के को हा हो=पुनर्वसु [७]। हू हे हो डा=पुष्य [८]। डी डू डे डो=श्लेषा [९]। मा मी मू मे=मघा [१०]। मो टा टी टू=पूर्व-फाल्गुनी [११]। टे टो पा पी=उत्तर फाल्गुनी [१२]। पू षा णा ठा=हस्त [१३]। पे पो रा री=चित्रा [१४] रू रे रो ता=स्वाती [१५]। ती तू ते तो=विशाखा [१६]। ना नी नू ने=अनुराधा [१७]। नो या यी यू=ज्येष्ठा [१८]। ये यो भा भी=मूल [१९]। भू धा फा ढा=पूर्वाषाढ [२०] भे भो जा जी=उत्तराषाढ [२१]। खी खू खे खो=श्रवण [२२]। गा गी गू गे=धनिष्ठा [२३]। गो सा सी सू=शतभिषा [२४]। से सो दा दी=पूर्व भाद्रपद [२५]। दू थ झ ञ=उत्तर भाद्रपद [२६]। दे दो चा ची=रेवती [२७]।

विशेष [अभिजित् के सम्बन्ध में]--

किसी ने उत्तराषाढ और श्रवण के मध्य-स्थित 'अभिजित्' के ४ चरण बना लिये। जैसे, "जू जे जो ख"=अभिजित्। तथा उसके बाद "खी खू खे खो"=श्रवण यह पाठ रखा। किन्तु यह बहु सम्मत नहीं है, क्योंकि २७ नक्षत्रों (१२ राशियों) में १०८ भाग मानकर ही समस्त जातक में व्यवहार होते हैं।

तथा—अकारादि स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ को एवं ऋ=री, ऌ=ली, व=ब, श=स, इन दो-दो को एक चरण में ही माना गया है। यथा,

"अआ इई उऊ एऐ ओऔ द्वौ द्वौ मिथः समौ।
ऋरी, लृली तथा विज्ञेयौ तुल्यौ वबौ सशौ ॥"

इसका प्रयोजन—

जन्मकालिक नक्षत्र के चरणानुसार, जातक के जीवन-मरण का शुभाशुभ फल, संहिता और जातक ग्रन्थों में वर्णित है। अतः नक्षत्र के चरण-ज्ञान के निमित्त इस प्रकार अक्षरों की कल्पना की गयी है। जिस चरण में जन्म होता है, उस चरण के 'अक्षर' आदि में रखकर, जातक का नाम नामकरण के समय में रखा जाता है।

विशेष—

जिस व्यक्ति के जन्म-नक्षत्र का ज्ञान न हो, उसके नामकरण विधि से जो कुछ नाम रखा जाता है, उसी आह्वान (पुकारने) के नाम के आदि-अक्षर से उसका फलादेश करने का, दैवज्ञों का आदेश है।

उदाहरण—

जैसे, मृगशिरा के द्वितीय चरण में किसी व्यक्ति का जन्म हुआ तो उसका नाम 'वेदानन्द" अथवा "वैद्यनाथ" आदि रखना चाहिये। तथा जिसके नामकरणके समय में "ऋद्धिनाथ" अथवा "रीतिनन्दन" नाम रखे गये हों तो-दोनों से चित्रा नक्षत्र का तृतीय चरण समझना चाहिये और आगे कथित रीति से राशि जानकर, चन्द्र एवं तारा का विचार करना चाहिये।

विशेष यदि नाम के आदि में संयुक्त अक्षर हो तो उसमें प्रथम वर्ण से नक्षत्र समझना। यथा—

"यदि नाम्नि भवेद्वर्णः संयुक्ताक्षरलक्षणः।
ग्राह्यस्तदादिमो वर्ण इत्याहुः पूर्वसूरयः।" स्पष्ट।

उदाहरण—यथा 'श्रीकान्त' नाम में श, 'ब्रह्मदेव' नाम में ब, इत्यादि।

तथा—उक्त शतपद चक्र में—जो वर्ण केवल अकार स्वरमात्र से युक्त है, उस वर्ण को ईकारादि सब स्वर से युक्त समझना।

यथा—आर्द्रा के चतुर्थ चरण में 'छ' है—तो छी, छू आदि से भी आर्द्रा का चतुर्थ चरण ही मानना।

स्वरवेत्ताओं ने ग, ङ-जञ, डण इन दो-दो में समान धर्म जान कर, नाम के वर्ण स्वर ग्रहण करने में केवल, ग, ज, ड को ग्रहण किया और ङ, ञ, ण इन तीनों को छोड़ दिया है। उसके लिये कहा है कि—

"न प्रोक्ता ङ-ञ-ण वर्णा नामादौ सन्ति ते नहि।
चेद् भवन्ति तदा ज्ञेया ग-ज-डास्ते यथाक्रमम्॥"

अर्थात्—नाम के आदि में प्रायः ङ, ञ, ण नहीं देखे जाते हैं। इसलिये इन तीनों के पृथक् स्वर नहीं कहे गये हैं। यदि कहीं नाम के आदि में ये तीनों (ङ, ञ, ण) हों तो उनके स्थान में क्रम से ग, ज, ड मानकर क्रिया करें।

यहाँ कुछ लोगों में यह भ्रम हो गया कि—यदि आर्द्रा के तृतीय चरण में किसी का जन्म हो तो ङकारादि अक्षर नाम नहीं मिलेगा—अतः वहाँ गकारादि अक्षर "गजानन" आदि नाम रखना। तथा ऐसे करने लगे और करते भी हैं। परञ्च ऐसे नाम से तो धनिष्ठा के प्रथम चरण का बोध होगा। एवं शतपदचक्र में तो ङकार प्रोक्त ही है। अतः विज्ञजन उक्त भ्रम में न पड़ें। आर्द्रा के तृतीय चरण में जन्म लेनेवालों का नाम नक्षत्र राशिज्ञानार्थ ङकारादि ही रखें; पुकारने का नाम यथा रुचि रखना चाहिये—

नक्षत्र से राशि ज्ञान प्रकार—

भ-चक्र (उक्त २७ नक्षत्र) के १२ विभाग १२ राशियाँ मानी गयी हैं। एक-एक विभाग में अनेक नक्षत्रों के पुञ्ज होने के कारण ही 'राशि' यह अन्वर्थ संज्ञा है। पुञ्ज, समूह, राशि—ये पर्यायवाची शब्द हैं। भचक्र में २७ नक्षत्र १०८ चरण हैं अतः प्रत्येक राशि में

सवा दो-दो नक्षत्र (९, ९ चरण) होते हैं। बृहज्जातक में वराह-मिहिर ने कहा है—

"मेषाश्विप्रथमा नवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयः।"

अर्थात् भ-चक्र में मेष और अश्विनी आदि के ९, ९ चरण की १२ राशियाँ हैं। इसके अनुसार—

१ मेष—अश्विनी ४ चरण+भरणी ४ चरण+कृत्तिका १ चरण।

२ वृष—कृत्तिका ३ चरण+रोहिणी ४ चरण+मृगशिरा २ चरण।

३ मिथुन—मृगशिरा २ चरण+आर्द्रा ४ चरण+पुनर्वसु ३ चरण।

४ कर्क—पुनर्वसु १ चरण+पुष्य ४ चरण+श्लेषा ४ चरण।

५ सिंह—मघा ४ चरण+पूर्वफा० ४ चरण+उत्तरफा० १ चरण।

६ कन्या—उत्तरफा० ३ चरण+हस्त ४ चरण+चित्रा २ चरण।

७ तुला—चित्रा २ चरण+स्वाती ४ चरण+विशाखा ३ चरण।

८ वृश्चिक—विशाखा १ चरण+अनुराधा ४ चरण+ज्येष्ठा ४ चरण।

९ धनु—मूल ४ चरण+पूर्वाषाढ़ ४ चरण+उत्तराषाढ़ १ चरण।

१० मकर—उत्तराषाढ़ ३ चरण+श्रवण ४ चरण+धनिष्ठा २ चरण।

११ कुम्भ—धनिष्ठा २ चरण+शतभिषा ४ चरण+पू०भा० ३ चरण।

१२ मीन—पू०भा० १ चरण+उ० भा० ४ चरण+रेवती ४ चरण।

ग्रन्थ-विस्तार के भय से राशियों के स्वामी, दिशा, तत्त्व आदि विषयों को गद्य अथवा पद्य में न लिखकर, विज्ञजनों के बोधार्थ चक्र द्वारा ही प्रदर्शित कर दिया गया है। यथा,

राशि स्वामी, दिशादि ज्ञानार्थ चक्र—

राशिनाम	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
स्वामी	मंगल	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध	शुक्र	मंगल	गुरु	शनि	शनि	गुरु
दिशा	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर
वर्ण०	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	विप्र	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	विप्र	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	विप्र
योनि	चतु.	चतु.	द्विपद	जल.	वन.	द्विपद	द्विपद	कीट	द्वि.च.	चतु.जल.	द्वि.	जल०
प्रकृति	पित्त	वात	सम	कफ	पित्त	वात	सम	कफ	पित्त	वात	सम	कफ
तत्त्व	अग्नि	पृथ्वी	वायु	जल	अग्नि	पृथ्वी	वायु	जल	अग्नि	पृथ्वी	वायु	जल
चरादि	चर	स्थिर	द्विस्व.	चर	स्थिर	द्विस्व.	चर	स्थिर	द्विस्व.	चर	स्थिर	द्विस्व.
पु. स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
क्रूरसौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सौम्य	क्रूर	सोम्य	क्रूर	सौम्य

अथ चन्द्र विचार—

"जन्मभान्नामभाद् वापि या संख्या चन्द्र-भावधिः ।
चन्द्रस्तत्संख्यको ज्ञेयस्ततस्तत् फलमादिशेत् ॥"

अपनी जन्म-राशि अथवा नामराशि से इष्ट दिन समय की चन्द्र-राशि तक जो संख्या हो वही चन्द्र की संख्या होती है, तदनुसार फल समझना ।

"अशुभः सर्वकार्येषु चतुर्थो द्वादशोऽष्टमः ।
अन्यसंख्यागतश्चन्द्रः सर्वकार्येषु शोभनः ॥"

किसी भी कार्य के आरम्भ काल में उक्त प्रकार से ४, ८, १२ वाँ चन्द्र अशुभ और अन्य संख्यागत चन्द्र शुभ होता है ।

जन्म राशि की प्रधानता--

"व्रतबन्ध-विवाहादि - सर्वमङ्गलकर्मसु ।
चन्द्रतारादिसंशुद्धिं चिन्तयेज्जन्मभाद्बुधः ॥"

उपनयन-विवाह आदि समस्त माङ्गलिक कार्यों में अपने जन्म-नक्षत्र और जन्म-राशि से तारा और चन्द्रमा की शुद्धि देखनी चाहिये ।

नाम राशि की प्रधानता--

"गृहे ग्रामे विवादे च युद्धे द्यूतादिकर्मसु ।
व्यापारेषु तथाऽन्येषु नामराशेः प्रधानता ॥"

गृह तथा ग्राम सम्बन्धी विचार, युद्ध, वाद-विवाद, जुआ और अन्य व्यापारादि कार्यों में नाम-राशि की प्रधानता होती है ।

चन्द्र की दिशा—

"राशेर्दिशैव तद्राशि-स्थितचन्द्रस्य कीर्तिता ।
शुभोऽसौ सम्मुखे दक्षे वामे पृष्ठे न शोभनः ॥"

जिस राशि की जो दिशा है उस राशि में स्थित चन्द्रमा की भी वही दिशा होती है । यात्रादि के समय सम्मुख और दक्षिण भाग में चन्द्रमा शुभप्रद और पृष्ठ तथा वाम भाग में चन्द्रमा अशुभ होता है ।

"द्वितीयः पञ्चमः कृष्णे नवमश्च न शोभनः ।
तारा बलवती चेत् स्यात् तदात्रापि शुभः शशी ॥"

कृष्णपक्ष में २, ५, ९ चन्द्र अशुभ होते हैं । यदि तारा बलवती (शुभ) हो तो २, ५, ९ में भी शुभ होता है ।

कार्यमात्र में चन्द्र-शुद्धि देखी जाती है । अपनी जन्मराशि से ४, ८, १२ चन्द्र अशुभ, २, ५, ९ मध्यम; शेष १, ३, ६, ७, १०, ११ शुभ होते हैं ।

चन्द्रमा की अन्य विशेषतायें तत्तत्प्रकरण में दिखलायी गयी हैं ।

[इति चन्द्र विचार]

अथ तारा विचार

तारा की महत्ता

सूर्य और चन्द्रमा को छोड़कर, समस्त आकाशस्थ तेजोमय पिण्ड, 'नक्षत्र' अथवा 'तारा' कहलाते हैं। चन्द्रमा नक्षत्रपति किंवा ताराधिपति कहलाता है। सूर्य आदि समस्त ग्रह—ताराओं के सम्पर्क से ही पृथ्वीपर सुभिक्ष, दुर्भिक्षादि शुभाशुभ फल देते हैं। अतः ग्रहों से भी बढ़कर ताराओं का प्रभाव देखा गया है। भ-गोल-(ग्रहनक्षत्र स्थिति-) वेत्ताओं ने लिखा है कि—

"कुजादिभ्यो बली सूर्यो बली सूर्याच्च चन्द्रमाः।
चन्द्राद् बलवती तारा तस्मात् तारा गरीयसी ॥"

अर्थात् मङ्गल आदि ग्रहों से सूर्य बलवान्, सूर्य से चन्द्रमा बली और चन्द्रमा से भी तारा बलवती होती है।

इस लिये शुभाशुभ फल देने में तारा की ही प्रधानता मानी गयी है। अन्य ग्रह तो कार्य-विशेष में ही अपना फल देते हैं। किन्तु तारा (नक्षत्र) और तारा-पति (चन्द्रमा) समस्त शुभाशुभ कार्य में अपना फल देते हैं। अतः किसी भी कार्य में यदि चन्द्रमा और तारा—ये दोनों अनुकूल हों तो उस कार्य में अवश्य सिद्धि होती है। इस लिये सकल ज्यौतिष ग्रन्थ प्रणेताओं ने प्रत्येक कार्य में चन्द्र और तारा बल देखने का आदेश दिया है। चन्द्रमा यदि निर्बल भी हो तो तारा के बल से बली हो जाता है तथा पूर्ण बली चन्द्रमा भी, तारा की प्रतिकूलता में अक्षम हो जाता है। कहा भी है —

"विहाय ताराबलमोषधीशः पक्षद्वयेऽपीष्टफलो न यस्मात्।
अप्राप्य जायानुमतिं हि लोके न कार्यसिद्धौ पुरुषः समर्थः ॥"

जैसे इस लोक में पुरुष—पत्नी की अनुमति के बिना—किसी कार्य को सिद्ध करने में अक्षम होता है, उसी प्रकार तारा की अनुकूलता

के बिना, पूर्ण बली चन्द्रमा भी--कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है।

ऊर्ध्वमुख, अधोमुख, तिर्यङ्मुख नक्षत्र--

अनुसन्धानकर्ता वैज्ञानिकों में बहुतों ने शुभाशुभ फल में नक्षत्र को ही प्रधान कारण माना है। अतः तिथ्यादि शुद्धि का विचार नहीं कर, केवल नक्षत्र को ही देखकर, अधिकांश कार्य कर लेने का आदेश दिया है। जैसे,

अनुसन्धाताओं ने ऊपर जानेवाले (पर्वत-शिखर-आरोहण, वृक्ष-रोपण आदि) कार्यों को जिन नक्षत्रों में सफल देखा, उनका नाम 'ऊर्ध्वमुख' रखा। यथा—

ऊर्ध्वमुख नक्षत्र—रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य, उत्तरा त्रय, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा।

अधोमुख नक्षत्र--भरणी, कृत्तिका, श्लेषा, मघा, पूर्वफाल्गुनी, पूर्वाषाढ, पूर्वभाद्रपद, विशाखा, मूल।

इनमें नीचे जानेवाले (पाताल विवर प्रवेश, कूप-खनन आदि) कार्य सिद्ध होते हैं।

तिर्यङ्मुख नक्षत्र--अश्विनी, पुनर्वसु, हस्त, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा।

इनमें सम्मुख उपस्थित समस्त कृषि, व्यापारादि कार्य सिद्ध होते हैं।

बृहत्, सम, जघन्य नक्षत्र—

एवम् मासफल के अनुसन्धान में सौर-मास (सूर्य-संक्रान्ति) तथा चान्द्र-मास (प्रथम चन्द्रदर्शन) समय में जिन-जिन नक्षत्रों मे समर्घ, महर्घ और समता देखने में आयी तदनुसार उनकी बृहत्, सम और जघन्य (निकृष्ट) संज्ञा रखी। यथा—

बृहत् नक्षत्र—पुनर्वसु, विशाखा, ध्रुवसंज्ञक।

सम नक्षत्र--मृदु, क्षिप्र, धनिष्ठा, श्रवण, कृत्तिका, मघा, तीनों पूर्वा, मूल।

जघन्य नक्षत्र—श्लेषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, शतभिषा।

अन्धाक्ष, मन्दाक्ष, मध्याक्ष, स्वक्ष नक्षत्र—

जिन-जिन नक्षत्रों में चोरी गयी अथवा नष्ट हुई वस्तु—बिना यत्न के ही मिली उनका नाम 'अन्धाक्ष' रखा; जिन-जिन नक्षत्रों में यत्न करने से प्राप्ति हुई उनका नाम 'मन्दाक्ष' रखा; जिन-जिन नक्षत्रों में नष्ट वस्तु का पता चल गया परन्तु प्राप्ति न हुई उनका नाम 'मध्याक्ष' और जिन-जिन नक्षत्रों में नष्ट वस्तु का पता तक नहीं लगा उनका नाम 'स्वक्ष' (सुलोचन) रखा।

अन्धाक्षादि बोधक चक्र—

अन्धाक्ष	पुष्य	उत्तर फाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढ	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी
मन्दाक्ष	श्लेषा	हस्त	अनुराधा	उत्तराषाढ	शत०	अश्वि०	मृग०
मध्याक्ष	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वभा०	भरणी	आर्द्रा
स्वक्ष	पूर्वफा०	स्वाती	मूल	श्रवण	उ०भा०	कृत्ति०	पुन०

ज्यौतिष संहिता ग्रन्थों में नक्षत्रों की प्रधानता देखने में आती है। इसी आधार पर ज्यौतिष विज्ञजन निषिद्ध तिथि, वारों (रिक्ता अमावास्या, शनि, मङ्गल) में भी केवल विवाह विहित नक्षत्र के बल पर विवाह करते हैं।

अथ प्रमुख नव ताराविचार

अनुसन्धान कर्ताओं ने जन्म-नक्षत्र से प्रथम नवक (९) नक्षत्रों में फलभेद ९ प्रकार के देखे। तथा द्वितीय नवक में भी उसी प्रकार; तथा तृतीय नवक में भी क्रम से उसी प्रकार ९ फलभेद देखकर, फलानुसार नाम रखे। यथा—

"जन्म सम्पद् विपत् क्षेम प्रत्यरिः साधको वधः।
मैत्रं तथातिमैत्रं च तारा नामसदृक्फलाः ॥"

[१] जन्म, [२] सम्पत्ति, [३] विपत्ति, [४] क्षेम, [५] प्रत्यरि, [६] साधक [७] वध, [८] मैत्र, [९] अतिमैत्र, ये नव तारायें नाम-समान ही फल देनें वाली हैं ।

इष्ट दिन में तारा नाम जानने का प्रकार—

"दिनर्क्षसंख्या जन्मर्क्षान्नवहृच्छेष–सम्मिताः ।
तारास्त्रि-पञ्च-सप्तम्यो नेष्टाश्चान्यास्तु शोभनाः ॥"

जन्म-नक्षत्र से इष्ट दिन के नक्षत्र तक जो संख्या हो, उसमें ९ का भाग देने से, शेष-तुल्य तारा होती है । उनमें ३, ५, ७ वीं तारा अशुभ और बाकी १,२,४,६,८,९ वीं तारा शुभ होती हैं ।

विशेष वचन—

"जन्माख्यं मध्यमं प्रोक्तं नेष्टं पञ्च-त्रि-सप्तमम् ।
अन्यर्क्षं शुभदं ज्ञेयं पुष्यः सर्वत्र शोभनः ॥"

प्रथम तारा मध्यम, ३-५-७ वीं अशुभ, और २-४-६-८-९ वीं शुभ होती है । पुष्य नक्षत्र नेष्ट तारा होने पर भी, समस्त कार्यों में शुभ होता है ।

अशुभ ताराओं के शान्त्यर्थ दान—

"प्रत्यरौ लवणं दद्यात्, शाकं विप्राय जन्मनि ।
गुडं विपत्तितारायां, काञ्चनं वा तिलं वधे ॥"

प्रत्यरि (५ वीं) तारा में लवण, जन्म (१) तारा में शाक, विपत्ति (३ री) तारा में गुड और वध (७ वीं) तारा में सुवर्ण अथवा तिल ब्राह्मणको दान देने से दोषों की शान्ति हो जाती है ।

एवम् उक्त जन्म आदि नव ताराओं के समान ही, जन्म आदि नव 'नाडी नक्षत्र' कहे गये हैं । यथा,

नव नाडी नक्षत्र—

"जन्माद्यं दशमं कर्म संघाताख्यं च षोडशम् ।
अष्टादशं सामुदायं त्रयोविंशं विनाशनम् ॥

मानसं पञ्चविंशर्क्ष-मभिषेकेऽभिषेकभम् ।
जातिभं जातिसंज्ञं च देशभं देशनामभम् ॥
कीर्तितानि नवैतानि नाडीसंज्ञानि कोविदैः ।
युद्ध-यात्रा-विवाहादौ विवर्ज्याणि प्रयत्नतः ॥"

जन्म-नक्षत्र से प्रारम्भ कर, प्रथम 'जन्म,' १० वाँ 'कर्म,' १६ वाँ 'संघात,' १८ वाँ 'समुदाय,' २३ वाँ 'विनाश,' २५ वाँ 'मानस'—ये छः तथा अभिषेक समय का नक्षत्र 'अभिषेक' संज्ञक, जाति (ब्राह्मणादि के, वराहसंहितादि प्रतिपादित) नक्षत्र 'जाति' संज्ञक, (देश के नाम से 'अबकहड़ा' चक्र से सिद्ध) 'देश' संज्ञक—ये नव नक्षत्र 'नाडीनक्षत्र' कहलाते हैं । युद्ध, यात्रा, विवाहादि शुभ कार्यों में ये नक्षत्र त्याज्य हैं ।

[इति चन्द्रतारादिविचार]

---

[१२] अथ लग्ननिरूपण

लग्न प्रशंसा—

"न तिथिर्न च नक्षत्रं न योगो नैन्दवं बलम् ।
लग्नमेव प्रशंसन्ति मुनयो नारदादयः ॥"

अर्थात् नारद आदि महर्षियों ने तिथि, नक्षत्र, योग और चन्द्रादि बलों से बढ़कर लग्न की प्रशंसा की है ।

लग्न का स्वरूप—

"राशीनामुदयो लग्नं ते च मेष-वृषादयः ।
राशीनां द्विविधत्वाच्च लग्नं चापि द्विधा मतम् ॥"

पूर्व क्षितिज में राशियों का उदय लग्न कहलाता है । चूँकि राशि दो प्रकार की होती है, अतः लग्न के भी दो भेद होते हैं ।

"एकं विम्बात्मकं लग्नं द्वितीयं स्थानरूपकम् ।
भूकेन्द्र-पृष्ठभेदाच्च ते द्वे चापि द्विधा द्विधा ॥"

एक नक्षत्र-समूह के विम्बोदय रूप और दूसरा, नक्षत्र के स्थानोदय रूप। वे दोनों भी भूकेन्द्रीय और भू-पृष्ठीय दृष्टिभेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

"तुल्यमानं कु-केन्द्रीयं लग्नं पञ्चघटीमितम् ।
अतुल्यमानं पृष्ठीयं पृथक् भूपृष्ठवासिनाम् ॥
अदृष्टफलसिद्धयर्थं भूकेन्द्रीयं प्रशस्यते ।
दृष्टार्थसिद्धये स्व-स्व-स्थानदृष्टयुद्भवं मतम् ॥"

भू-केन्द्रीय लग्नोदय कालमान सर्वत्र प्रत्येक राशि में पाँच-पाँच घड़ी है। परञ्च पृष्ठीय लग्न प्रत्येक स्थान में पृथक्-पृथक् विलक्षण रूप (शून्य से भी अल्प और सहस्र घड़ी से भी अधिक) होता है।

अतः यज्ञ, यात्रा, विवाहादि कार्यों में फल ज्ञान के लिए भू-केन्द्रीय तुल्योदय लग्न प्रशस्त कहा गया है, तथा दृष्टफल (ग्रहण, शृङ्गोन्नति, ग्रहोदयास्तादि ज्ञान) के लिये भू-पृष्ठीय अपने-अपने स्थानीय राश्युदय मान सिद्ध लग्न ग्रहण करने का आदेश मुनियों ने दिया है। इसका विशेष विवरण जातकस्कन्ध लग्नविवेक में किया गया है। यहाँ हम गर्ग-पराशरादि-कथित लग्न ज्ञान का प्रकार दिखलाते हैं।

बिम्बीय लग्न विन्दु से (कालवृत्तीय ३०,३० अंश रूप) एक-एक राशि के उदय की भावसंज्ञा रखी गयी है। अहोरात्र में १२ भावों के उदय होते रहते हैं। एक-एक भाव के उदय में ५, ५ घड़ी समय लगता है। इष्टकाल में विम्बीय राशि का जो बिन्दु (तारा रूप) लगा रहता है वही अदृष्ट फलार्थ 'तात्कालिक लग्न' अथवा 'तनुभाव' माना जाता है। महर्षि पराशर ने कहा है—

"सूर्योदयात् समारभ्य घटिकानां तु पञ्चकम् ।
प्रयाति जन्मपर्यन्तं भावलग्नं तदुच्यते ॥"

सूर्योदय काल से जन्मादि इष्टकाल पर्यन्त ५, ५ घटी के हिसाब से जो लग्न राश्यादि क्षितिज में रहता है वहाँ 'भाव लग्न' कहलाता है। अतः ऋषियों ने उसका प्रकार बताया है। यथा,

"इष्टं घट्यादिकं भक्त्वा पञ्चभिर्भादिकं फलम्।
योज्यमौदयिके भानौ भावलग्नं स्फुटं च तत्॥
इष्टमानं यदार्क्षं स्यात् तदैवौदयिके रवौ।
सावनं चेत् तदा योज्यं फलं तात्कालिके रवौ॥"

घटी आदि इष्टकाल में ५ का भाग देकर, राश्यादि फल जो हो, उसको उदयकालिक सूर्य में जोड़ने से राश्यादि भाव लग्न होता है। फल जोड़ने से यदि १२ से अधिक हो जाय तो उसको १२ से तष्टित कर, शेष राश्यादि लेना चाहिये।

विशेष--

इस प्रकार यदि इष्टकाल नाक्षत्र (घटी यन्त्र द्वारा साधित) हो तभी उदयकालिक सूर्य में जोड़ना। यदि सावन (शङ्कुच्छाया द्वारा) काल ज्ञात हो तो तात्कालिक स्पष्ट सूर्य में जोड़ने से लग्न राश्यादि होता है।

इस प्रकार अदृष्टफलार्थ लग्नसाधन में अयनांश तथा स्वदेशीय राश्युदय की आवश्यकता नहीं होती है।

भाव लग्न के दीप्तांश—

"दीप्तांशास्तत्-पुरः पृष्ठे विज्ञैः पञ्चदश स्मृताः।
तदन्तरगतः खेटस्तद्भावफलदः स्मृतः॥"

भाव लग्न के आगे और पीछे-१५,१५ अंश दीप्तांश होते हैं। उसके भीतर में स्थित ग्रह उस भाव का (शुभ अथवा अशुभ) फल देता है।

नाक्षत्र इष्टकाल—

घटी यन्त्र द्वारा सूर्योदय से जितना घण्टा मिनट हो, उसको ढाईगुना (५ से गुणा करके, २ का भाग) करने से घटी आदि नक्षत्र काल होता है, क्योंकि ढाई घड़ी का १ घण्टा और ढाई पल का १ मिनट होता है।

लग्न साधन का उदाहरण—

घटी यन्त्र द्वारा ज्ञात नाक्षत्र इष्टकाल=घट्यादि १३।१५।० इसमें ५ का भाग देने से लब्धि राश्यादि २।१९।३०।० इसको उदयकालिक सूर्य ७।५।१५।१६ में जोड़ने से ६।२४।३५।१६ यह प्रथम लग्न अथवा प्रथम भाव हुआ।

भाव-लग्न-साधन का प्रकारान्तर—

भाव लग्न की उपपत्ति यह है कि यदि ५ घड़ी में एक राशि (३० अंश) का उदय होता है तो इष्ट घड़ी में क्या

$$= \frac{\text{इ०घ०} \times \text{१ राशि}}{\text{५}} = \frac{\text{इ०घ०} \times \text{३० अंश}}{\text{५}} = \text{इ०घ०} \times \text{६ अंश};$$

इससे यह भी उपपन्न हुआ कि इष्ट घड़ी को ६ से गुणा कर देने से अंशादि फल होता है। इसलिये भारतीय महर्षियों ने लिखा है कि—

"षड्भिरर्कैः ख-रामैश्च स्वेष्टघट्यः पृथक् हताः।
फलमंशादिकं यत् तद् योज्यं सूर्ये पृथक् क्रमात्।
भाव-होरा-घटीसंज्ञ-लग्नानीति पृथक् पृथक्॥"

इष्ट घट्यादि को पृथक् ६, १२, ३० से गुणा करने से गुणन-फल अंशादि होते हैं। उनको पृथक्-पृथक् सूर्य में जोड़ने से क्रम से भावलग्न, होरा लग्न और घटी लग्न होते हैं। जिससे आधार पर तनु, धन आदि भाव माने गये हैं वह भाव लग्न कहलाता है।

जैमिनि आदि महर्षियों ने षड्वर्ग को छोड़कर, केवल भाव (लग्न), होरा (राश्यर्ध) लग्न तथा घड़ी लग्न—इन तीन वर्ग से फलादेश किया है। जैमिनिसूत्र देखिये।

अदृष्टफलार्थ सब राशियों के उदय समान ही ५ घड़ी तुल्य माने गये हैं। भट्ट कमलाकर ने तत्त्वानभिज्ञ यवनों द्वारा प्रचारित, अदृष्टफलार्थ अयुक्त लग्न-भावानयन के प्रचार को देखकर, अपने 'सिद्धान्ततत्त्व विवेक' में लिखा है कि—

**"महर्षिभिः स्वीयकृतौ निरुक्ता लग्नांशतुल्या रविसंख्यका ये ।
भावाः समा एव सदा फलार्थं ग्राह्यास्त एव ग्रहगोल-विद्भिः ॥"**

अर्थात् महर्षियों ने जो तुल्य राश्युदय द्वारा लग्नादि-समांश भावों का साधन किया है, जन्म-यात्रादि शुभ कार्यों में फलादेशार्थ, उन्हीं भावों का ग्रहण करना चाहिये।

ज्यौतिष-ग्रन्थों के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्ट उत्पल ने भी 'बृहज्जातक' के 'नष्टजन्माङ्ग' अध्याय में—

"एवं कलत्र-सहजात्मज-शत्रुभेभ्यः"

की टीका में लिखा है कि "जैसे लग्न से अपने अज्ञात मास-तिथि-नक्षत्रादि का ज्ञान कहा गया है, उसी प्रकार लग्न में २ राशि जोड़कर, सहज (तृतीय) भाव होगा—उससे सहोदरों का और ४ राशि जोड़ने से पञ्चम भाव होगा—उससे पुत्र का तथा ५ राशि जोड़ने से शत्रु (षष्ठ) भाव होगा – तदनुसार सहोदर, पुत्र और शत्रु का भी मास-तिथि-नक्षत्रादि का ज्ञान करना।

इससे स्पष्ट है कि मुसलमानी (यवन) शासन से पूर्व सर्वत्र तुल्योदय से ही अदृष्टफलार्थ लग्नादि भावों का साधन होता था। विस्तृत विवरण जातकस्कन्धीय 'लग्नविवेक' में देखिये।

अन्य भाव साधन तथा फलज्ञान रीति—

**"लग्नं तिथ्यंशकैर्युक्तं 'सन्धिः,' स च तिथ्यंशकैर्युतः ।
'द्वितीयभाव' इत्येवमग्रे तिथ्यंशयोजनात् ॥
'सन्धिर्भावः' पुनः सन्धिर्ज्ञेया 'भावाः ससन्धयः' ।
ग्रहे सन्धिद्वयान्तःस्थे फलं तद्भावजं भवेत् ॥
ज्ञेयं भावसमे पूर्ण—मग्रे पृष्ठेऽनुपाततः ।
सन्धि-खेटान्तरं हत्वा विंशत्या तिथिभिर्भजेत् ॥
लब्धं तद्भावजं ज्ञेयं फलं 'विंशोपकात्मकम्' ।
शुभं वाप्यशुभं जन्तोर्वाच्यं सर्वत्र कोविदैः ॥"**

प्रथम लग्न में १५ अंश जोड़ने से 'सन्धि,' पुन: उसमें १५ अंश जोड़ने से 'द्वितीय भाव,' एवं आगे १५, १५ अंश जोड़ने से तृतीयादि 'ससन्धि द्वादश भाव' होते हैं। इस प्रकार २, २ सन्धियों के बीच एक-एक-'भाव' होते हैं। जिन दो सन्धियों के बीच ग्रह हो, वह उसी भाव का फल देता है। भाव के तुल्य ग्रह के अंश हों तो पूर्णफल, उससे आगे-पीछे हो तो 'अनुपात' से फल का प्रमाण समझना। अनुपात जैसे भाव से आगे ग्रह हो तो 'अग्र सन्धि', पीछे हो तो 'पृष्ठ सन्धि' के साथ अन्तर करके, अंशादि को २० से गुणाकर, १५ का भाग देने से लब्धि, तद्ग्रहजनित 'विंशोपकात्मक' भावफल समझना।

उक्त विधिसे लग्नादि द्वादश भावचक्र—

तनु	सन्धि	धन	सं०	सहज	स.	सुहृत्	सं०	पुत्र	सं.	रिपु	सं०
९	१०	१०	११	११	०	०	१	१	२	२	३
२४	९	२४	९	२४	९	२४	९	२४	९	२४	९
३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५
१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६
जाया	**सं०**	**मृत्यु**	**सं०**	**धर्म**	**सं.**	**कर्म**	**सं०**	**लाभ**	**सं०**	**व्यय**	**सं०**
३	४	४	५	५	६	६	७	७	८	८	९
२४	९	२४	९	२४	९	२४	९	२४	९	२४	९
३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५	३५
१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६

अभ्यासार्थ भावों की संज्ञा

"तनु-धन-सहज-सुहृत्-सुत,-रिपु-जाया-मृत्यु-धर्म-कर्माऽऽयाः।
व्यय इति लग्नाद्भावास्तेभ्यस्तत्तत्फलं ज्ञेयम् ॥"

[१] तनु, [२] धन, [३] सहज, [४] सुहृत्, [५] सुत, [६] रिपु, [७] जाया, [८] मृत्यु, [९] धर्म, [१०] कर्म, [११] आय और [१२] व्यय – ये लग्न आदि १२ भावों की संज्ञाएँ हैं। इनसे तनु (शरीर) आदि भावों के ग्रहयोगानुसार फल समझना चाहिये।

जैसे, स्पष्ट गुरु राश्यादि ११ । २० । ३७ । २५ है तो यह सहज भाव और उसकी पृष्ठ सन्धि के बीच में है। अतः दोनों के अन्तर= (११ । २० । ३७ । २५)--(११ । ९ । ३५ । १६) = ९° । २ । ९ अंशादि को, २० से गुणा करने से, १८१ । ३ । ००, इसमें १५ भाग देने से १२ । ४ । १२ गुरु का विंशोपक फल हुआ। अर्थात् गुरु आधे से अधिक सहोदरों का सुख देगा--यह सिद्ध होता है; क्योंकि पूर्ण बल २० होता है। ग्रहों एवं भावों के षड्वर्ग--

"गृहं होराथ द्रेष्काणो नवांशो द्वादशांशकः।
त्रिंशांशश्चेति षड्वर्गा मुख्याः स्युः प्रतिराशिगाः ॥"

प्रति भाव में (१) गृह, (२) होरा, (३) द्रेष्काण, (४) नवांश, (५) द्वादशांश और (६) त्रिंशांश ये मुख्य षड्वर्ग होते हैं।

सुगम अभ्यासार्थ षड्वर्ग स्वामी--

"राशिरेव गृहं प्रोक्तं होरा राश्यर्धसम्मिता।
त्र्यंशो द्रेष्काण इत्युक्तश्चान्ये स्पष्टाः स्वनामतः ॥"

स्पष्टार्थ आगे चक्र से समझें।

गृहेश--

"मेष-वृश्चिकयोर्भौमः कन्या-मिथुनयोर्बुधः।
जीवो मीन-धनुःस्वामी शुक्रो वृष-तुलाधिपः ॥

मृग-कुम्भपतिः सौरिः सूर्यः सिंहाधिपः स्मृतः ।
कर्कस्याधिपतिश्चन्द्रः कथितो दैववेदिभिः ॥"

होरेश—

"रवीन्द्वोर्विषमे होरे समभे चन्द्र-सूर्ययोः ।
द्रेष्काणाः स्वत्रिकोणानां द्वादशांशाः स्व-भात् स्मृताः ॥"

विषम (मेष, मिथुनादि) राशि में प्रथम होरा सूर्य की, द्वितीय होरा चन्द्रमा की; तथा प्रत्येक राशि में अपने से त्रिकोण (१ । ५ । ६) राशियों के 'द्रेष्काण' होते हैं; तथा प्रति राशि में अपने से आरम्भ कर, क्रम से १२ राशियों के 'द्वादशांश' होते हैं।

नवमांश पति—

"मेषात् त्रिकोणे मेषाद्या वृषाच्च मकरादिकाः ।
युग्मात् त्रिकोणे जूकाद्याः कर्कटात् कर्कटादिकाः ॥"

मेष, सिंह और धनु में मेषादि ६ राशियों के; वृष, कन्या और मकर में मकरादि ६ राशियों के; मिथुन, तुला और कुम्भ में तुलादि ६ राशियों के; तथा कर्क, वृश्चिक और मीन में कर्क से ९ राशियों के क्रम से नवमांश होते हैं।

त्रिंशांशपति—

"कुजार्कीज्य-ज्ञ-शुक्राणां पञ्चेष्वष्टाद्रि-बाणकाः ।
क्रमात् त्रिंशांशका ओजे, समभे व्यत्ययात् स्मृताः ॥"

विषम राशियों में ५,५,८,७ अंश क्रम से मङ्गल, शनि, गुरु, बुध और शुक्र के त्रिंशांश होते हैं। तथा सम राशियों में इन्हीं ग्रहों और अंशों को विपरीत (उत्क्रम) से समझें। स्पष्टार्थ चक्र देखिये।

[१] गृहेश चक्र—

राशि	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
स्वामी	मंगल	शुक्र	बुध	चन्द्र	सूर्य	बुध	शुक्र	मंगल	गुरु	शनि	शनि	गुरु

[२] होरेश चक्र—

राशि	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
१५अंश	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र
३०अंश	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य	चन्द्र	सूर्य

[३] द्रेष्काणेश चक्र—

राशि	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
प्र०१०	मंगल	शुक्र	बुध	चन्द्र	सूर्य	बुध	शुक्र	मंगल	गुरु	शनि	शनि	गुरु
द्वि०२०	सूर्य	बुध	शुक्र	मंगल	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मंगल	शुक्र	बुध	चन्द्र
तृ०३०	गुरु	शनि	शनि	गुरु	मंगल	शुक्र	बुध	चन्द्र	सूर्य	बुध	शुक्र	मंगल

[४] नवमांश चक्र—

अंश कला	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
३।२०	मं०	श०	शुक्र	चं०	मं०	शनि	शुक्र	चन्द्र	मं०	शनि	शुक्र	चन्द्र
६।४०	शुक्र	श	मंगल	सूर्य	शुक्र	शनि	मं०	सूर्य	शुक्र	शनि	मंगल	सूर्य
१०।०	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध
१३।२०	चं०	मं०	शनि	शुक्र	चं०	मं०	श०	शुक्र	चन्द्र	मं०	शनि	शुक्र
१६।४०	सूर्य	शुक्र	शनि	मं०	सूर्य	शुक्र	श०	मंगल	सूर्य	शुक्र	शनि	मंगल
२०।०	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु
२३।२०	शुक्र	चन्द्र	मंगल	श०	शुक्र	चन्द्र	मं०	शनि	शुक्र	चन्द्र	मंगल	शनि
२६।४०	मं०	सूर्य	शुक्र	श०	मं०	सूर्य	शुक्र	शनि	मं०	सूर्य	शुक्र	शनि
३०।०	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु	गुरु	बुध	बुध	गुरु

[५] द्वादशांशपति चक्र

अंश कला	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
२।३०	मं०	शु०	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	शनि	शनि	गुरु
५। ०	शु०	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	शनि	गुरु	मं०
७।३०	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	शनि	गुरु	मं०	शु०
१०। ०	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध
१२।३०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध	चं०
१५। ०	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध	चं०	सूर्य
१७।३०	शु०	मं०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शु०	बुध	चं०	सूर्य	बुध
२०। ०	मं०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शु०	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र
२२।३०	गुरु	श०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०
२५। ०	श०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु
२७।३०	श०	गुरु	मं०	शुक्र	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०
३०। ०	गुरु	मं०	शु०	बुध	चं०	सूर्य	बुध	शुक्र	मं०	गुरु	श०	श०

[६] त्रिंशांशपति चक्र—

मेषादि विषम राशियों में—

अंश	५	१०	१८	२५	३०
स्वामी	मंगल	श०	गुरु	बुध	शुक्र

वृषादि सम राशियों में—

अंश	५	१२	२०	२५	३०
स्वामी	शुक्र	बुध	गुरु	श०	मं०

उदाहरण—

लग्न राश्यादि ९।२४।३५।१६ में मकर राशि है। अतः गृहेश शनि; सम राशि में द्वितीय होरा है, अतः होरेश रवि हुआ; तृतीय

द्रेष्काण है, अतः मकर से ९वीं राशि का पति द्रेष्काणेश हुआ। ८वां नवमांश होने से मकरादि सिंह का स्वामी रवि नवमांश पति हुआ। १०वाँ द्वादशांश में धनु का स्वामी गुरु द्वादशांशपति हुआ। एवं २४ वाँ अंश पर त्रिंशांशपति शनि हुआ।

प्रयोजन--

"भावानां द्युसदां चैव षड्वर्गाः फलसिद्धये।
शत्रु-नीचासतां नेष्टाः स्वोच्च-मित्र-सतां शुभाः॥"

इस प्रकार भाव और ग्रहों के शुभा-शुभ फल ज्ञानार्थ प्रति राशि में षड्वर्ग कहे गये हैं। शत्रु, नीच और पाप ग्रह के वर्ग अशुभप्रद, तथा अपना, अपने उच्च का, अपने मित्र का और शुभ ग्रह का वर्ग शुभप्रद होता है।

"अशुभां च शुभां चैव वीक्ष्य पंक्तिं पृथग् बुधैः।
शुभाधिक्ये शुभं वाच्यं, पापाधिक्येऽन्यथा फलम्॥"

एवं वर्गों में शुभ और अशुभ-दोनों पंक्ति को देख कर, यदि शुभ वर्ग अधिक हो तो शुभ और पापवर्ग अधिक हो तो अशुभ फल कहना चाहिये।

ऊपर दर्शित उदाहरण में लग्न में षड्वर्ग के स्वामी क्रम से शनि, सूर्य, बुध, सूर्य, शुक्र और शनि हैं। इनमें क्रूर ग्रह की संख्या अधिक होने से, ऐसे लग्न में जातक के तनु (शारीरिक सुख) अल्प समझना चाहिये। इसी प्रकार धन आदि भावों का भी फल समझें।

षड्वर्ग की उपपत्ति—

भूपृष्ठ पर रहनेवालों के क्षितिज से ऊपर जो नक्षत्र, राशि अथवा ग्रह रहते हैं, उन्हीं की रश्मियों का प्रभाव, उन भूपृष्ठवासियों पर पड़ता है। किसी के जन्मसमय में क्षितिज में जिन नक्षत्रों अथवा ग्रहों के जो अंश रहते हैं, उन की रश्मि उस जातक के शरीर पर प्रथम पड़ती है। अतः उस विन्दु (अंश) को 'लग्न' (अथवा

तनुभाव') कहते हैं। उदय के बाद सूर्य अहोरात्रवृत्तगत नक्षत्र राशियों के उदय क्रमशः होते हैं। अहोरात्र वृत्त में ३६० अंश होते हैं। यद्यपि वैज्ञानिकों ने प्रत्येक अंश के विभिन्न फल देखकर, पृथक् पृथक् फलादेश वतलाये हैं, किन्तु उस प्रकार आयास देखकर, ३६० अंश के १२ विभाग मानकर, ३०-३० अंश (एक-एक राशि तुल्य) १२ भावों की कल्पना से फलादेश किया है। एक-एक भाव में भी राशि के अर्ध, त्र्यंश आदि ६० विभाग के पृथक् फल कहे हैं—जो 'वर्ग' नाम' से व्यवहृत है। उन वर्गों में सौविध्य के अनुसार, किसी ने केवल १० वर्ग, किसी ने ७ वर्ग तथा अधिकांश ग्रन्थकारों ने केवल ६ वर्ग के द्वारा ही फलादेश किया है। ताजिकशास्त्र में १ से लेकर १२ वर्ग तक फलादेश वर्णित है। अस्तु, यहाँ बहुसम्मत षड्वर्ग की ही उपपत्ति दिखलायी जाती है--

पूर्व में कहा जा चुका है कि नाडीवृत्त के तुल्य १२ विभागों पर, ध्रुव प्रोत वृत्तों से जो १२ वप्रक्षेत्र बनते है, वेही १२ 'राशि' अथवा १२ 'भाव' नाम से व्यवहृत हैं—जो विम्बीय राशि अथवा भाव होते हैं। सर्वत्र सबके क्षितिज में, सब स्थानीय (क्रान्तिवृत्तीय) राशियों का उदय नहीं होता; किन्तु बिम्बीय राशियों के उदय सब के क्षितिज में होते ही हैं।

भारत आदि साक्ष देशों में बिम्बीय राशियों के कुछ-न कुछ अंश सदा उदित ही रहते हैं। अतः प्रत्येक भाव (३० अंश) के उदय में, सब राशियों का प्रभाव पड़ता रहता है। इसलिये लग्नादि भाव के प्रत्येक अंश में उक्त होरा द्रेष्काणादि सब वर्गों के प्रभाव से फल में वैलक्षण्य होना स्वाभाविक है। अतएव भावों एवं ग्रहों के शुभाशुभ फल षड्वर्गों के अनुसार ही कहने का आदेश है।

प्राचीन काल में मेषादि राशियों के वर्ग देखकर, उस राशि के स्वामी को वर्गेश मानकर, फल का विचार करते थे। पश्चात् यवन ज्यौतिषविज्ञों ने अपने अनुसन्धानीय तर्क द्वारा उसमें परिवर्तन कर दिया। उनका तर्क है कि गृह में १८०० कला; होरा में ९००; त्र्यंश

(द्रेष्काण) में ६००; नवमांश में २००; द्वादशांश में १५०; त्रिंशांश में ६० कला रहती है। इनमें सबसे बड़ा विभाग 'गृह' (राशि) है, अतः उसका स्वामी 'गृहेश' माना गया। होरादि ५ वर्गों में सबसे बड़ा भाग 'होरा' है और सबसे छोटा भाग 'त्रिंशांश' है। ग्रहों में राजा होने के कारण सूर्य और चन्द्रमा ने प्रत्येक राशि में क्रम से प्रथम और द्वितीय होरा अपने-अपने-अपने अधिकार में लिया। तथा भावों में त्रिकोण स्थान को परम पुण्य स्थान होने के कारण, त्रिकोणेश को ही 'द्रेष्काणेश' माना। तथा सबसे तुच्छ भाग (त्रिंशांश) को केवल मङ्गल आदि ५ तारा ग्रहों के अधिकार में दिया। 'नवमांश' और 'द्वादशांश' को पूर्वाचार्यवत् १२ राशियों के ही अनुसार रहने दिया।

उक्त षड्वर्गों के देखने से यह आशंका होती है कि प्रधान होने पर भी सूर्य तथा चन्द्रमा को एक-एक ही स्थान (गृह) और भौम आदि ग्रहों को दो-दो स्थान क्यों प्राप्त हुए ?

इसका समाधान यह है कि वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान से निश्चित किया कि जिसके जन्म समय में सूर्य और चन्द्रमा—दोनों अथवा एक बली रहते हैं, वह जातक राजा किंवा राजतुल्य होता है। मङ्गल बली रहता है तो वह सेनापति; बुध बली होता है तो राजकुमार सदृश; गुरु और शुक्र बली होते हैं तो मन्त्री सदृश और शनि बली रहता है तो वह भृत्य सदृश जीवन व्यतीत (नौकरी) करने वाला होता है। अतः वराहमिहिर ने भी लिखा है कि—

"राजा रविः शशधरश्च, बुधः कुमारः,
सेनापतिः क्षितिसुतः, सचिवौ सितेज्यौ।
भृत्यस्तथा तरणिजः सबला ग्रहाश्च
कुर्वन्ति जन्मसमये निजमेव रूपम्॥ स्पष्टार्थ।

कार्य से ही कारण का अनुमान होता है। यदि जन्म समय में सब ग्रह बली हों तो जातक सर्वगुणसम्पन्न होता है।

इसलिये राजा होने के कारण सूर्य और चन्द्रमा ६, ६ राशियों के अधिकारी हुए। सूय ने अपने अनुरूप पराक्रमी समझकर 'सिंह' राशि में और चन्द्रमा ने मित्र होने के कारण उसके समीप, अपने अनुरूप 'कर्क' में स्थान बनाया। एवं सिंह के आगे की छः राशि सूर्य के और कर्क से पीछे छः राशि चन्द्रमा के अधिकार में हुई। पश्चात् बुध को राजकुमार होने के कारण सूर्य ने अपने समीप 'कन्या' में और चन्द्रमा ने 'मिथुन' में स्थान दिया। तदनन्तर मन्त्री ग्रह समझकर शुक्र को सूर्य

(राशिस्वरूप तथा राश्यधिपति चक्र)।
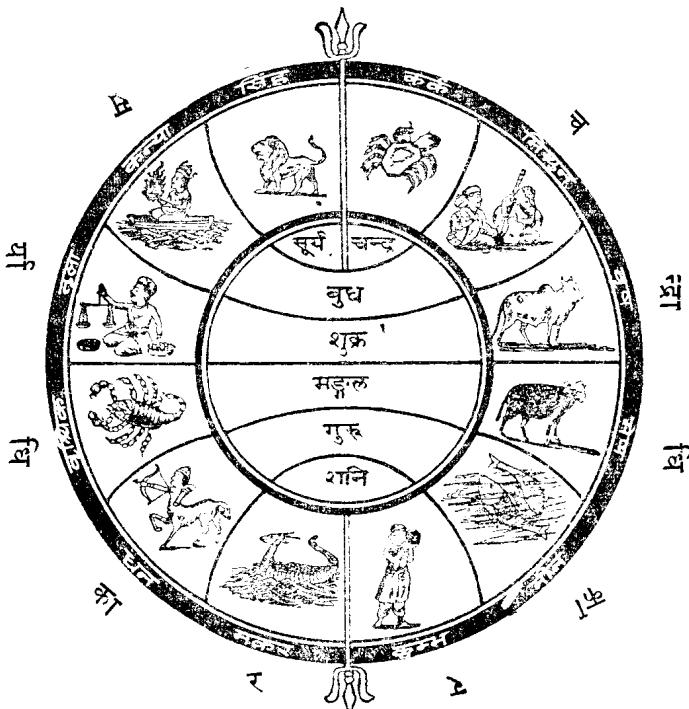
ने 'तुला' में और चन्द्रमा ने 'वृष' में स्थान दिया। पश्चात् नेता ग्रह समझकर मङ्गल को सूर्य ने 'वृश्चिक' में और चन्द्रमा ने 'मेष' में स्थान

दिया। पुन: मन्त्री ग्रह समझकर सूर्य ने 'धनु' में और चन्द्रमा ने 'मीन' में गुरु को स्थान दिया। तत्पश्चात् शनि को भृत्य ग्रह समझकर सूर्य ने 'मकर' में और चन्द्रमा ने 'कुम्भ' में स्थान दिया। इस प्रकार सूर्य को केवल सिंह और चन्द्रमा को केवल कर्क स्वतन्त्र रूप से अपना अधिकार (स्थान) रहा।

अन्य ग्रहों को दोनों के राज्य में एक-एक स्थान प्राप्त होने से वे दो-दो स्थानों के अधिकारी हुए। अन्य वर्गों की युक्ति प्रतिपादित हो चुकी है।

कालविशेष में लग्न की 'अन्धादि' संज्ञा—

"गोऽज-सिंहा दिनेऽन्धाः स्युर्युग्म-कर्काङ्गना निशि।
दिने तुलाली बधिरौ निशि तद्वद् धनुर्मृगौ॥
पङ्गुसंज्ञो दिवा कुम्भो निशि मीनस्तथाविधः।
तेष्वन्धादिलग्नेषु विवाहाद्यं विवर्जयेत्॥"

वृष, मेष, सिंह—ये दिन में; मिथुन, कर्क, कन्या—ये रात्रि में 'अन्ध' संज्ञक होते हैं। तुला, वृश्चिक—ये दिन में; धनु, मकर—ये रात्रि में 'बधिर' संज्ञक होते हैं। कुम्भ दिन में और मीन रात्रि में 'पंगु' संज्ञक होते हैं। ये अन्धादि लग्न विवाह आदि शुभ कार्य में त्याज्य हैं।

परिहार—

"लग्नात् केन्द्रे त्रिकोणे वा यद्येकोऽपि शुभग्रहः।
तदा लग्नगता दोषाः सर्वे नश्यन्त्यसंशयम्॥"

यदि लग्न से केन्द्र या त्रिकोण स्थान में एक भी शुभ ग्रह (बुध, बृहस्पति और शुक्र में से कोई भी) हो तो लग्नगत अन्धकत्वादि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं।

राशि के अन्धकत्वादि में मतान्तर भी हैं। इसलिये ये विज्ञसमाज में उपेक्षित माने जाते हैं। समस्त ज्यौतिषशास्त्रकार महर्षियों एवं आचार्यों का मत है कि सूर्य 'आत्मा', चन्द्रमा 'मन' और लग्न 'शरीर'

है। अतः यह प्रबल (शुद्ध) हो तो उस लग्न के आरम्भ से अन्त तक समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। यथा; कहा भी है—

"वर्षर्तु-मासायन-काल-दोषा वारर्क्ष-तिथ्यादि-समुद्भवाश्च ।
नश्यन्ति सूर्येन्दुबलोपपन्ने लग्ने यथाऽर्केऽभ्युदिते तमांसि ॥"

सूर्य, चन्द्र और लग्न--ये तीनों प्रबल हों तो वर्ष, मास, अयन, वार, नक्षत्र, तिथि आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। उस लग्न के समय में किसी भी कार्य के आरम्भ करने से अवश्य सिद्धि होती है।

लग्न की अन्य विशेषतायें 'समयशुद्धिविवेक' और तत्तत्प्रकरण में दिखलायी गयी हैं।

[इति लग्ननिरूपण]

[१३] अथ शुभाशुभ योगनिरूपण

मास, तिथि, वार, नक्षत्रादिकों में दो-दो अथवा तीन के परस्पर योग होने से शुभ और अशुभ फल देखने में आये। अतः उनका शुभ योग और अशुभ योग नाम रखा गया है। यथा—

तिथि-वारभव सिद्धयोग (बृहस्पति)—

"शुक्रे नन्दा बुधे भद्रा जया मङ्गलवासरे ।
शनौ रिक्ता गुरौ पूर्णा सिद्धाख्याः कार्यसिद्धिदाः ॥"

शुक्रवार में नन्दा, बुध में भद्रा, मङ्गल में जया, शनि में रिक्ता और गुरुवार में पूर्णा तिथि हो तो यह कार्यसिद्धिकारक 'सिद्धयोग' कहलाता है।

अमृतयोग—

"रवि-मङ्गलयोर्नन्दा भद्रा भार्गव-चन्द्रयोः ।
जया बुधे गुरौ रिक्ता पूर्णार्कौ चामृताह्वयाः ॥"

रविवार और मङ्गल में नन्दा, शुक्र और सोम में भद्रा, बुध में जया, गुरु में रिक्ता और शनि में पूर्णा—ये अमृत योग हैं।

विशेष--

किसी हस्तलिखित पुस्तक में नारद का वचन "शनौ पूर्णामृताह्वया" इस प्रकार देखकर किसी ने 'अमृता' इस प्रकार पदच्छेद न कर, 'मृता' समझ लिया और अपनी पुस्तक में 'शनौ पूर्णा मृतिप्रदा' इस प्रकार का पाठ बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में दो मत हो गये। उस समय रामाचार्य तो दोनों दलों की सन्तुष्टि के निमित्त अपने ग्रन्थ 'मुहूर्तचिन्तामणि' में--"नन्दा भद्रा नन्दिकाख्या जया च रिक्ता भद्रा पूर्णसंज्ञामृतार्कात्" इस प्रकार पाठ लिखकर, अपनी 'प्रमिताक्षरा' टीका में स्पष्ट लिख दिया कि "वस्तुतः यह अमृतयोग है, किसी ने भ्रम से मृता शब्द देखकर मृत्युयोग समझ लिया। उसके प्रमाण में वसिष्ठ का वचन--

"नन्दा भौमार्कयोर्भद्रा शुक्रेन्द्वोश्च जया बुधे।
शुभयोगा गुरौ रिक्ता शनौ पूर्णामृताह्वया॥"

लिखकर कहा कि यहाँ 'शुभयोगा' इस विशेषण से 'मृत' नहीं, 'अमृतयोग' ही है। तथा कश्यप के वचन में तो स्पष्ट 'अमृता' लिखा है। यथा—रामाचार्य के भ्रातृपुत्र ने 'पीयूष' धारा टीका में कश्यप का वचन—

"आदित्य-भौमयोर्नन्दा भद्रा शुक्र-शशाङ्कयोः।
जया बुधे गुरौ रिक्ता पूर्णार्कावमृता शुभा॥"

उद्धृत किया। यहाँ 'आर्कौ (शनौ) पूर्णा अमृता शुभा' एकदम स्पष्ट है। अतः इसको मृतयोग कहना अथवा मानना आर्षवचन विरुद्ध होने से अमान्य है। वस्तुतः यह 'तिथि-वार-भव-दोष' केवल हूण, बङ्ग और नेपाल देश में ही त्याज्य है, अन्यत्र नहीं। यथा, रामाचार्य ने भी लिखा है कि—

"कुयोगास्तिथि-वारोत्थास्तिथि-भोत्था भ-वार-जाः ।
हूण-बङ्ग-खसेष्वेव वर्ज्यास्त्रितयजास्तथा ॥"

इसलिये 'पीयूषधारा'कार ने इसको उन्हीं देशों के लोगों पर निर्णय करना छोड़ दिया है।

सूर्य आदि की जन्मतिथि—

"सप्तम्यां भास्करो जातश्चतुर्दश्यां च चन्द्रमाः ।
दशम्यां मङ्गलो जातो बुधश्च द्वादशीतिथौ ॥
एकादश्यां गुरुर्जातो नवम्यां भृगुनन्दनः ।
अष्टम्यां च शनिः स्व-स्व-वारे जन्मतिथिं त्यजेत् ॥"

सप्तमी में सूर्य, चतुर्दशी में चन्द्रमा, दशमी में मङ्गल, द्वादशी में में बुध, एकादशी में गुरु, नवमी में शुक्र और अष्टमी में शनि का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिये ये उनकी जन्मतिथियाँ हैं। अपने-अपने वार में जन्मतिथि शुभ कार्य में त्याज्य कही गयी है।

तिथि-वार-भव दग्धतिथि (बृहस्पति)—

"पञ्चमी मङ्गले वारे द्वितीया शुक्रवासरे ।
तृतीया बुधवारे हि चतुर्थी च बृहस्पतौ ॥
पञ्चमी शनिवारे च सोमे चैकादशी तथा ।
पञ्चदश्यर्कवारे तु तिथ्यो दग्धाः प्रकीर्तिताः ॥"

मङ्गलवार को पञ्चमी, शुक्रवार को द्वितीया, बुधवार को तृतीया, गुरुवार को चतुर्थी, शनिवार को पञ्चमी, सोमवार को एकादशी और रविवार को द्वादशी पड़े तो ये दग्धतिथियाँ कहलाती हैं।

क्रकचयोग—

"मास-रुद्र-दिशोऽङ्काष्ट-सप्त-षट्-तिथयः क्रमात् ।
त्याज्या रव्यादिवारेषु क्रकचाख्या इमा बुधैः ॥"

रविवार की द्वादशी, सोम की एकादशी, मङ्गल की दशमी, बुध की नवमी, गुरुवार की अष्टमी, शुक्र की सप्तमी, शनिवार की षष्ठी—ये क्रकच योग होते हैं।

श्रीपति का वाक्यान्तर--

"योगस्त्रयोदश स्युश्चेत् संख्ययोस्तिथि-वारयोः।
त्याज्यः क्रकचयोगोऽयमधमा प्रतिपद् बुधे ॥"

यदि रवि आदि वार और प्रतिपदादि तिथि की संख्या का योग १३ हो तो वह क्रकच योग शुभ कार्य में त्याज्य है; तथा बुधवार को प्रतिपदा अधम है।

दग्धयोग, विषयोग, अग्नियोग (मुहूर्तचिन्तामणि)—

"सूर्येशपञ्चाग्नि-रसाष्ट-नन्दा वेदाङ्ग-सप्ताश्वि-गजाङ्क-शैलाः।
सूर्याङ्ग-सप्तोरग-गो-दिगीशा दग्धा विषाख्याश्च तथाऽग्निसंज्ञाः॥"

रविवार में १२, सोम में ११, मङ्गल में ५, बुध में ३, गुरु में ६, शुक्र में ८ और शनि में ९—ये तिथियाँ 'दग्धयोग'; एवं रवि आदि वारों में क्रम से ४,६,७,२,८,९,७—ये तिथियाँ 'विषयोग' तथा रवि आदि वार में क्रम से १२, ६, ७, ८, ९, १०, ११—ये तिथियाँ 'अग्नियोग' हैं।

चान्द्रमास-तिथि-भव कुयोग (मुहूर्तचिन्तामणि)--

भाद्रे चन्द्र-दृशौ नभस्यनल-नेत्रे माधवे द्वादशी
पौषे वेद-शरा इषे दश-शिवा मार्गेऽद्रि-नागा मधौ।
गोऽष्टौ चोभयपक्षगाश्च तिथयः शून्या बुधैः कीर्तिताः
ऊर्जाषाढ-तपस्य-शुक्र-तपसां कृष्णे शराङ्गाब्धयः।
शक्राः पञ्च, सिते शक्राद्र्यग्नि-विश्व-रसाः क्रमात् ॥"

भाद्रपद में १, २; श्रावण में ३, २; वैशाख में १२; पौष में ४, ५; आश्विन में १०, ११; मार्गशीर्ष में ७, ८; चैत्र में ९, ८-ये तिथियाँ दोनों पक्ष की; तथा कार्तिक, आषाढ, फाल्गुन, ज्येष्ठ और माघ—इन

मासों के क्रम से कृष्णपक्ष की ५, ६, ४, १४, ५ और इन्हीं पाँच मासों की शुक्ल पक्ष की १४,७,३,१३,६—ये 'शून्य तिथियाँ' कही गयी हैं।

तिथि-नक्षत्र-भव कुयोग (मुहूर्तचिन्तामणि)—

"तथा निन्द्यं शुभे सार्पं द्वादश्यां, वैश्वमादिमे,
अनुराधा द्वितीयायां, पञ्चम्यां पित्र्यभं तथा।
त्र्युत्तराश्च तृतीयायामेकादश्यांश्च रोहिणी,
स्वाती-चित्रे त्रयोदश्यां, सप्तम्यां हस्त-राक्षसे।
नवम्यां कृत्तिकाऽष्टम्यां पूभा, षष्ठ्यां च रोहिणी ॥"

तथा द्वादशी में श्लेषा, प्रतिपदा में उत्तराषाढ, द्वितीया में अनुराधा, पञ्चमी में मघा, तृतीया में तीनों उत्तरा, एकादशी में रोहिणी, त्रयोदशी में स्वाती और चित्रा, सप्तमी में हस्त और मूल, नवमी में कृत्तिका, अष्टमी में पूर्वभाद्रपदा, और षष्ठी में रोहिणी—ये शुभकार्य में निन्द्य हैं।

वार-नक्षत्र-भव कुयोग—

"मघा-द्विपार्द्रा-मूलानि कृत्तिका रोहिणी करः।
क्रमाद् रव्यादिवारेषु यमघण्टा न शोभनाः ॥"

रवि आदि वारों में क्रम से-मघा, विशाखा, आर्द्रा, मूल, कृत्तिका, रोहिणी, हस्त-ये 'यमघण्ट योग' हैं जो शुभकार्य में निन्द्य हैं।

सौरमास-तिथिभव कुयोग--

"द्वितीया चाप-मीनार्के चतुर्थी वृष-कुम्भगे।
मेष-कर्कटगे षष्ठी कन्या-मिथुनगेऽष्टमी ॥
दशमी वृश्चिके सिंहे द्वादशी मकरे तुले।
एताश्च तिथयो दग्धाः शुभकर्मसु गर्हिताः ॥"

धनु-मीन के सूर्य में द्वितीया, वृष-कुम्भ में चतुर्थी, मेष-कर्क में षष्ठी, कन्या-मिथुन में अष्टमी, वृश्चिक-सिंह में दशमी, तुला-मकर में सूर्य हो तो द्वादशी--ये दग्ध तिथियाँ होती हैं, जो शुभ कार्य में त्याज्य हैं।

मास-नक्षत्र-भव कुयोग (मुहूर्तचिन्तामणि)—

"क-दास्रभे त्वाष्ट्र-वायू विश्वेज्यौ भग-वासवौ ।
वैश्व-श्रुती पाशि-पौष्णे-अजपादग्नि-पित्र्यभे ॥
चित्रा-द्वीशौ शिवाश्व्यर्काः श्रुति-मूले यमेन्द्रभे ।
चैत्रादिमासे शून्याख्यास्तारा वित्तविनाशदाः ॥"

चैत्र में रोहिणी, अश्विनी; वैशाख में चित्रा स्वाती; ज्येष्ठ में उत्तराषाढ, पुष्य; आषाढ में पूर्वफाल्गुनी, धनिष्ठा; श्रावण में उत्तराषाढ, श्रवण; भाद्रपद में शतभिषा, रेवती; आश्विन में पूर्वाभाद्रपदा; कार्तिक में कृत्तिका, मघा; मार्गशीर्ष में चित्रा, विशाखा; पौष में आर्द्रा, अश्विनी, हस्त; माघ में श्रवण, मूल और फाल्गुन में भरणी, ज्येष्ठा—ये 'शून्य नक्षत्र' अशुभ हैं।

वार-नक्षत्र-भव विविध शुभाशुभ योग (मु० चि०)—

"दस्रादर्के मृगादिन्दौ सार्पाद् भौमे कराद् बुधे ।
मैत्राद् गुरौ भृगौ वैश्वाद् गण्या वारुणभाच्छनौ ॥"

रविवार में अश्विनी से, सोम में मृगशिरा से, मङ्गल में श्लेषा से, बुध में हस्त से, गुरुवार में अनुराधा से, शुक्रवार में उत्तराषाढ से और शतभिषा से अभिजित् सहित २८ नक्षत्र गिनकर, क्रम से (निम्नलिखित) आनन्द आदि २८ योग समझें-जो अपने नाम के सदृश फल देने वाले होते हैं।

"आनन्दाख्यः कालदण्डश्च धूम्रो धाता सौम्यो ध्वांक्ष-केतू-क्रमेण
श्रीवत्साख्यो वज्रकं मुद्गरश्च छत्रं मित्रं मानसं पद्म-लुम्बौ ॥
उत्पात-मृत्यू किल काण-सिद्धि-शुभोऽमृताख्यो मुसलो गदश्च ।
मातङ्ग-रक्षश्चर-सुस्थिराख्य-प्रवर्धमानाः फलदाः स्वनाम्ना ॥"

नाम सदृश फल सहित चक्र में स्पष्ट देखिये—

रवि	सोम	मङ्गल	बुध	बृह.	शुक्र	शनि	योग नाम	फल
१ अश्वि०	मृगशि.	श्लेषा	हस्त	अनु.	उ.षा.	शत.	आनन्द	सिद्धि
२ भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभि.	पू.भा.	कालदण्ड	हानि
३ कृत्ति.	पुनर्वसु	पू.फा.	स्वाती	मूल	श्रवण	उ.भा.	धूम्र	दुःख
४ रोहि.	पुष्य	उ.फा.	विशा.	पू.षा.	धनिष्ठा	रेवती	धाता	लाभ
५ मृग०	श्लेषा	हस्त	अनु.	उ.षा.	शत.	अश्विनी	सौम्य	शुभ
६ आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभि.	पू.भा.	भरणी	ध्वांक्ष	क्षति
७ पुन०	पू. फा.	स्वाती	मूल	श्रवण	उ.भा.	कृत्तिका	केतु	शुभ
८ पुष्य	उ.फा.	विशा.	पू.षा.	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	श्रीवत्स	सुख
९ श्लेषा	हस्त	अनु.	उ.षा.	शत.	अश्विनी	मृग.	वज्र	क्षति
१० मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभि.	पू.भा.	भरणी	आर्द्रा	मुद्गर	हानि
११ पू.फा.	स्वाती	मूल	श्रवण	उ.भा.	कृत्तिका	पुनर्वसु	छत्र	सम्मान
१२ उ.फा.	विशा.	पू.षा.	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	मित्र	लाभ
१३ हस्त	अनु.	उ.षा.	शत.	अश्विनी	मृग.	श्लेषा	मानस	शुभ
१४ चित्रा	ज्येष्ठा	अभि.	पू.भा.	भरणी	आर्द्रा	मघा	पद्म	लाभ
१५ स्वाती	मूल	श्रवण	उ.भा.	कृत्तिका	पुनर्वसु	पू.फा.	लुम्ब	क्षय
१६ विशा.	पू. षा.	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उ.फा.	उत्पात	कष्ट
१७ अनु.	उ.षा.	शतभि.	अश्विनी	मृग.	श्लेषा	हस्त	मृत्यु	मरण
१८ ज्येष्ठा	अभि.	पू.भा	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	काण	कष्ट
१९ मूल	श्रवण	उ.भा.	कृत्तिका	पुनर्वसु	पू.फा.	स्वाती	सिद्धि	सिद्धि
२० पू.षा.	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उ.फा.	विशा.	शुभ	शुभ
२१ उ.षा.	शतभि.	अश्विनी	मृगशि.	श्लेषा	हस्त	अनु.	अमृत	भोग
२२ अभि०	पू.भा.	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	मुसल	क्षति
२३ श्रवण	उ. भा.	कृत्तिका	पुनर्वसु	पू.फा.	स्वाती	मूल	गद	रोग
२४ धनि.	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उ.फा.	विशा.	पू.षा.	मातङ्ग	वृद्धि
२५ शत.	अश्विनी	मृगशि.	श्लेषा	हस्त	अनु.	उ.षा.	रक्ष	कष्ट
२६ पू.भा.	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभि.	चर	लाभ
२७ उ.भा.	कृत्तिका	पुनर्वसु	पू.फा.	स्वाती	मूल	श्रवण	सुस्थिर	सुख
२८ रेवती	रोहिणी	पुष्य	उ.फा.	विशा.	पू.षा.	धनिष्ठा	प्रवर्धमान	वृद्धि

इन योगों में कालदण्ड, धूम्र, ध्वांक्ष, वज्र, मुद्गर, पद्म, लुम्ब, रक्ष, उत्पात, मृत्यु, काण, मुसल, गद—ये नाम के अनुसार अशुभ फल देने वाले हैं तथा शेष योग शुभ फलदायक हैं।

इन अशुभ योगों का वर्ज्य काल—

"ध्वांक्षे वज्रे मुद्गरे चेषु-नाड्यो
वर्ज्या वेदाः पद्म-लुम्बे गदेऽश्वाः।
धूम्रे काणे मौसके भूर्द्विचन्द्रे
रक्षो-मृत्यूत्पातकालाश्च सर्वे॥"

ध्वांक्ष, वज्र, मुद्गर में ५ घड़ी; पद्म, लुम्ब में ४ घड़ी; गद में ७ घड़ी; धूम्र में १ घड़ी; काण में २ घड़ी; मुसल में २ घड़ी आरम्भ से त्याज्य है, शेष शुभ है। रक्ष, मृत्यु, उत्पात और कालदण्ड—ये चारों समस्त त्याज्य हैं।

उक्त आनन्द-आदि में श्रेष्ठतम सर्वार्थसिद्धि योग—

"सूर्येऽर्क-मूलोत्तर-पुष्य-दास्रं
चन्द्रे श्रुति-ब्राह्म-शशीज्य-मैत्रम्।
भौमेऽश्व्यहिर्बुध्न्य-सार्पं
ज्ञे ब्राह्म-मैत्रार्क-कृशानु-चान्द्रम्॥
जीवेऽन्त्य-मैत्राश्व्यदितीज्य-धिष्ण्यं
शुक्रेऽन्त्य-मैत्राश्व्यदिति-श्रवोभम्।
शनौ श्रुति-ब्राह्म-समीर-भानि
सर्वार्थसिद्ध्यै कथितानि पूर्वैः॥"

रविवार को हस्त, मूल, उत्तर ३, अश्विनी पड़े; सोमवार को श्रवण, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, अनुराधा हो, मङ्गलवार को अश्विनी, उत्तर भाद्रपद, कृत्तिका, श्लेषा हो; बुधवार को रोहिणी, अनुराधा, हस्त,

कृत्तिका, मृगशिरा पड़े; गुरुवार को रेवती, अनुराधा, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य हो; शुक्रवार को रेवती, अनुराधा, अश्विनी, पुनर्वसु, श्रवण हो; शनिवार को श्रवण, रोहिणी, स्वाती हो तो ये सर्वार्थ सिद्ध योग होते हैं।

कार्य विशेष में सुयोग भी त्याज्य—

"गृहारम्भे कुजे दास्रं यात्रायां रोहिणीं शनौ।
विवाहे च गुरौ पुष्यं सुयोगमपि वर्जयेत् ॥"

सुयोग होने पर भी गृहारम्भ-प्रवेश में मङ्गलवार की अश्विनी, यात्रा में शनिवार की रोहिणी और विवाह में गुरुवार के पुष्य का भी परित्याग कर देना चाहिये।

मासों में शून्य राशियाँ—

"कुम्भो मीनो वृषो युग्मं मेषः कन्या त्वलिस्तुला।
धनुः कर्को मृगः सिंहश्चैत्रादौ शून्यराशयः ॥"

कुम्भ, मीन, वृष, मिथुन, मेष, कन्या, वृश्चिक, तुला, धनु, कर्क, मकर, सिंह—ये राशियाँ क्रम से चैत्र, वैशाख आदि मासों में शून्य फल देनेवाली हैं।

तिथियों में शून्य लग्न (मु० चि०)—

"पक्षादितस्त्वोजतिथौ घटैणौ
मृगेन्द्र-नक्रौ मिथुनाङ्गने च।
चापेन्दुभे कर्क-हरी हयान्त्यौ
गोऽन्त्यौ च नेष्टे तिथिशून्यलग्ने ॥"

प्रतिपदा में तुला, मकर; तृतीया में सिंह, मकर; पञ्चमी में मिथुन, कन्या; सप्तमी में धनु, कर्क; नवमी में कर्क, सिंह; एकादशी में धनु, मीन; त्रयोदशी में वृष, मीन—ये दो-दो राशियाँ लग्न को शून्य फल देने वाली होती हैं।

तिथि, वार और नक्षत्र—तीनों के योग से अशुभ योग—

"भास्करे पञ्चमी-हस्तं सोमे षष्ठी-शशाङ्कभम् ।
भौमे च सप्तमी-दास्रं बुधेऽष्टम्यां मैत्रभम् ॥
गुरौ च नवमी-पुष्यं दशमी-रेवती भृगौ ।
शनौ चैकादशी-ब्राह्मं सर्वकार्येषु वर्जयेत् ॥"

रविवार में पञ्चमीसहित हस्त नक्षत्र; सोमवार में षष्ठीसहित मृगशिरा; मङ्गलवार में सप्तमीसहित अश्विनी; बुधवार में अष्टमीसहित अनुराधा; गुरुवार में नवमी सहित पुष्य; शुक्रवार में दशमीसहित रेवती; शनिवार में एकादशी सहित रोहिणी—ये तीनों साथ-साथ पड़े तो समस्त शुभ कार्यों में त्याज्य हैं।

रविवार में केवल हस्त अथवा केवल पञ्चमी भी शुभ (अमृत और सिद्धि) योग है; परन्तु एक साथ होने से वह अशुभ योग हो जाता है—जैसे घृत और मधु का एक साथ मेल होने से विष हो जाता है।

विशेष—

जिस देश में जिन अनुसंधानकर्ता नक्षत्रविदों को तिथि-नक्षत्रादिकों के योग से जैसा शुभ अथवा अशुभ फल देखने में आया तदनुसार उनका नामकरण किया। इसलिये ज्यौतिषसंहिता ग्रन्थों में कथित तिथि नक्षत्रादि के योग से जो अशुभ योग कथित हैं, वे सार्वदेशिक नहीं हैं। यथा सर्वविदित मुहूर्तचिन्तामणिकार ने कहा है—

"कुयोगास्तिथिवारोत्थास्तिथिभोत्था भ-वार-जाः ।
हूण-बङ्ग-खसेष्वेव वर्ज्यास्त्रितयजास्तथा ॥"

तिथि-वार, तिथि-नक्षत्र, वार-नक्षत्र—इन दो-दो से अथवा तीनों से जो कुयोग कहे गये हैं वे हूण बंगाल और नेपाल में ही त्याज्य है।

तथा--

"तिथयो मासशून्याश्च शून्यलग्नानि यान्यपि ।
मध्यदेशे विवर्ज्यानि न दूष्याणीतरेषु तु ॥"

मास-शून्य-तिथि और तिथि-शून्य-लग्न केवल मध्यदेश में त्याज्य है; अखिल भारतवर्ष में नहीं ।

"पंग्वन्ध-काण-लग्नानि मासशून्याश्च राशयः ।
गौड-मालवयोस्त्याज्या अन्यदेशे न गर्हिताः ॥"

दिवा-रात्रि-विभाग में जो पङ्गु-अन्ध आदि लग्न कहे गये हैं—वे केवल गौड (बंगाल) और मालवा प्रदेश में ही त्याज्य हैं; समस्त भारत में नहीं ।

एवं बहुत विशिष्टजनों का मत है कि तिथि-नक्षत्र के प्रणेता चन्द्रमा हैं । यदि जन्मराशि के अनुसार चन्द्रशुद्धि हो तो मृत्यु क्रकच दग्ध आदि अशुभ योग भी शुभप्रद हो जाते हैं । यथा, (मु० चि०)--

"मृत्यु-क्रकच-दग्धादीनिन्दौ शस्ते शुभान् जगुः ।
केचिद्यामोत्तरं चान्ये यात्रायामेव निन्दितान् ॥"

अर्थ स्पष्ट है ।

बहुत से ज्योतिर्विदों का मत है कि यदि सूर्याश्रित नक्षत्र से चन्द्राश्रित (दिन के नक्षत्र) तक की संख्या ४, ६, ९, १०, १३ अथवा २० हो तो रवियोग कहलाते हैं जिसमें उक्त तिथि नक्षत्रादि के सब दोष नष्ट हो जाते हैं । यथा (मु० चि० में)—

सर्वदोषविनाशक रवियोग—

"सूर्यभाद्-वेद-गो-तर्क-दिग्-विश्व-नख-सम्मिते ।
चन्द्रर्क्षे रवियोगाः स्युर्दोषसंघविनाशकाः ॥"

अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है ।

[इति शुभाशुभ योग निरूपण]

[१४] अथ ग्रहनिरूपण

पूर्व में कहा जा चुका है कि आकाशस्थ तेजोमय पिण्डों में जो स्वयं गतिशील देखने में आते हैं वे 'ग्रह' और इनके अतिरिक्त अन्य 'नक्षत्र' कहलाते हैं। यों तो स्वयं गतिशील अनेक हैं परञ्च उनमें जिनकी रश्मियों से पृथ्वीपर शुभाशुभ फल होते हैं, वे प्रत्यक्ष दृश्य सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि—नाम से ७ तथा पुराणों में वर्णित राहु और केतु—ये दो अदृश्य ग्रह माने जाते हैं। इस प्रकार भारतीय ज्यौतिषशास्त्र प्रणेता महर्षिगण ९ नव ग्रह ही मानते हैं। आधुनिक (पाश्चात्य) वैज्ञानिकों ने हर्षल, नैपच्यून, प्लुटो आदि अन्य कतिपय पिण्डों की गणना ग्रह में ही की है। भारतीय ज्यौतिष प्रणेता भी इनको जानते थे किन्तु ये इतनी दूरी पर हैं जिससे इनकी रश्मि का प्रभाव पृथ्वी पर पहुँचता ही नहीं है। इनके नीचे स्थित क्रम से शनि, गुरु, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध, चन्द्र की रश्मियों के सम्पर्क से उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस लिये ये 'उप-ग्रह' मानकर उपेक्षित कर दिये गये।

ग्रहों की महत्ता—

भारतीय महर्षियों का कथन है कि राम, कृष्ण, नृसिंह, बुद्ध, वामन, परशुराम, कूर्म, वराह, मत्स्य आदि अवतारों का प्रादुर्भाव ग्रहों से ही हुआ है। यथा, लोमशसंहिता में—

"रामोऽवतारः सूर्यस्य चन्द्रस्य यदुनायकः।
नृसिंहो भूमिपुत्रस्य बौद्धः सोमसुतस्य च॥
वामनो विबुधेज्यस्य भार्गवो भृगुजस्य च।
कूर्मो भास्करपुत्रस्य सैंहिकेयस्य शूकरः॥
केतोर्मीनावतारश्च ये चान्ये तेऽपि खेटजाः॥" इत्यादि

वेद, उपनिषद् एवं समस्त दर्शनकारों के मत से आकाशस्थ सूर्य आदि-ग्रहों की सृष्टि के बाद ही पृथ्वी की सृष्टि हुई है। तथा ग्रहों के गुण सदृश अवतारों में गुण देखकर ही, वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि सूर्य से राम, चन्द्रमा से कृष्ण, मङ्गल से नृसिंह, बुध से बौद्ध, बृहस्पति से वामन, शुक्र से परशुराम, शनि से कूर्म, राहु से वराह, और केतु से मत्स्य अवतार हुए। अन्य अवतार भी ग्रहों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये परमेश्वर के सब अवतारों से ग्रहों का अधिक महत्त्व माना गया है। भारत के समस्त महर्षियों ने पृथ्वी-स्थित जन्तुओं की सृष्टि, स्थिति एवं सुख-दुख आदि सब समान रूप से ही वर्णित किया है। यथा, बृहस्पति--

"ग्रहाधीनं जगत् सर्वं ग्रहाधीना नराऽवराः।
कालज्ञानं ग्रहाधीनं ग्रहाः कर्मफलप्रदाः॥
सृष्टि-रक्षण-संहाराः सर्वे चापि ग्रहानुगाः।
पूर्वकर्मफलानां च सूचकाः खेचरा मताः॥"

समस्त चराचर जगत् ग्रहों के आधीन हैं। ग्रहों के द्वारा ही काल का ज्ञान होता है। प्राणियों को ग्रह द्वारा ही कर्मों का फल मिलता है। चराचर का सृजन, पालन और संहार ग्रहों के द्वारा ही होता है। पूर्व जन्म में किये हुए फलों का सूचक ग्रह ही है।

शुभ और पाप ग्रह—

"शुभाः पूर्णेन्दु-शुक्रेज्यास्तमोऽर्कार्कि-कुजाः खलाः।
क्षीणेन्दुरशुभो ज्ञस्तु संसर्गादशुभः शुभः॥"

पूर्ण (शुक्ल पक्ष अष्टमी से कृष्ण पक्ष सप्तमी पर्यन्त) चन्द्र, शुक्र और बृहस्पति—ये तीन शुभ ग्रह, तम (राहु, केतु), सूर्य, शनि और मङ्गल—ये ५ पापग्रह; क्षीणचन्द्र अशुभ तथा बुध पापग्रह के साथ अशुभ और शुभ ग्रह के साथ शुभ होता है। स्वतन्त्र में यह सम माना जाता है।

नव ग्रहों के रूप, गुण, जाति आदि—

(१) सूर्य—

**"सूर्यो नृपो ना चतुरस्र मध्यन्दिनेन्द्र दिक् स्वर्ण-चतुष्पदोग्रः ।
सत्त्वं स्थिरस्तिक्त-पशुक्षितिस्तु पित्तं जरन् पाटल-मूल-वन्यः ॥"**

सूर्य—क्षत्रिय जाति, पुरुष, चतुरस्र (चौकोर, तुल्य दीर्घविस्तार), मध्याह्न बली, पूर्व दिक्स्वामी, सुवर्ण, चतुष्पद का पोषक, उग्र, सत्त्वगुण, स्थिर, तिक्त रस प्रिय, पशुस्थानानुरागी, पित्त प्रकृति, वृद्ध वयस, मूल, वन-जन्तुओं का पोषक है ।

(२) चन्द्र—

**"वैश्यः शशी स्त्री जलभूस्तपस्वी गौरोऽपराह्णाम्बुग-धातु-सत्त्वम् ।
वायव्यदिक् श्लेष्म-भुजङ्ग-रूप्य-स्थूलो युवा क्षार-शुभःसिताभः ॥'**

चन्द्रमा—वैश्य जाति, स्त्री, जलार्द्र भूमिस्थान, तपस्वी, गौर वर्ण, अपराह्न में बली, जलचर, धातु, सत्त्वगुण, वायुदिशा, कफ प्रकृति, सर्प चाँदी का पोषक, स्थूल, युवा वयस, लवणरसप्रिय, शुभ, श्वेतपदार्थ का स्वामी है ।

(३) मङ्गल—

**"भौमस्तमः पित्त-युवोग्र-वन्यो मध्याह्न-धातु-र्यमदिक्-चतुष्पात् ।
ना राट्-चतुष्कोण-सुवर्णकारो दग्धावनी-व्यङ्ग-कटुश्च रक्तः ॥"**

मङ्गल—तमोगुण, पित्त प्रकृति, युवा वयस, वनप्रिय, मध्याह्न में बली, धातु, दक्षिण दिशा, चतुष्पद, पुरुष, क्षत्रिय जाति, चतुरस्र आकार, सुवर्ण कारक, दग्ध भूमि, अङ्गहीन, कटुरस प्रिय, रक्त वर्ण है ।

(४) बुध—

**"ग्राम्यः शुभो नील-सुवर्णवृत्तः शिश्विष्टकोच्चः समधातु-जीवः ।
श्मशान-योषोत्तरदिक् प्रभातं शूद्रः खगः सर्वरसो रजो ज्ञः ॥"**

बुध—ग्राम्य (ग्रामजनप्रिय), शुभ, नील वर्ण, सुवर्ण कारक, वर्तुल (गोल) आकार, बाल्य वयस, उच्चस्थानप्रिय, सम (कफ-पित्त-वात) प्रकृति, जीव, श्मशान-भूमिवास, स्त्री, उत्तर दिशा, प्रातःकाल, शूद्र जाति, पक्षियों का पोषक, सर्व-रस-प्रिय, रजोगुण है।

(५) बृहस्पति—

"गुरुः प्रभातं नृ-शुभेशदिग्-द्विजः पीतो द्विपाद्-ग्राम्य-सुवृत्त-जीवः।
वाणिज्य-माधुर्यसुरालयेशो वृद्धः सुरत्नं समधातु-सत्त्वम्॥"

गुरु—प्रातःकाल में बली, पुरुष, शुभ, ईशान दिशा, विप्र वर्ण, पीला रंग, द्विपद, ग्रामप्रिय, वर्तुलाकार, जीव, वाणिज्यकर्ता, मधुर रसप्रिय, देवालय स्थानवासी, वृद्ध वयस, रत्नकारक, सम धातु (तुल्य कफ-पित्त-वात) प्रकृति और सत्त्वगुण है।

(६) शुक्र—

"शुक्रः शुभः स्त्री जलगोऽपराह्णः श्वेतः कफी रूप्य-रजोऽम्ल-मूलम्।
विप्रोऽग्निदिङ्मध्यवयो रतीशो जलावनी-स्निग्धरुचिर्द्विपाच्च॥"

शुक्र—शुभ, स्त्री, जलचर, अपराह्ण में बली, श्वेत वर्ण, कफ प्रकृति, चाँदी, रजोगुण, अम्ल-रस-प्रिय, मूल, विप्र जाति, अग्निदिशा स्वामी, युवा वयस, क्रीडास्थान, जलार्द्रभूमिवासी, कान्तिमान् और द्विपद है।

(७) शनि—

"शनिर्विहङ्गोऽनिल-वन्य-सन्ध्या-शूद्रांगना-धातु समः स्थिरश्च।
क्रूरः प्रतीची-तुवरोऽतिवृद्धोत्करक्षितीट्-दीर्घ-सुनील-लोहम्॥"

शनि—पक्षीपोषक, वात प्रकृति, वनप्रिय, सन्ध्याकालबली, शूद्रजाति, स्त्री, सम धातु (तुल्य कफ-पित्त-वात) प्रकृति, स्थिर, क्रूर, पश्चिम दिशास्वामी, कषाय रस प्रिय, अत्यन्त वृद्ध वयस, उत्कर

स्थान (कूड़ा-कतवारखाना) वासी, दीर्घ देह, नील वर्ण और लोह का कारक है ।

(८-९) राहु-केतु--

"राहुस्वरूपं शनिवन्निषादजाति-र्भुजंगोऽस्थिप-नैर्ऋतीशः ।
केतुः शिखी तद्वदनेकरूपः खगस्वरूपात् फलमूहनीयम् ॥"

राहु—इस का स्वरूप शनि के समान ही है, किन्तु यह निषाद (सङ्कर) जाति, सर्प और हड्डी का पोषक, नैर्ऋति दिशा का स्वामी है ।

केतु—यह भी शनि और राहु के समान ही है, किन्तु यह शिखावान् तथा अनेक प्रकार की आकृति वाला है ।

इसका प्रयोजन—

जन्म अथवा प्रश्नादि काल में जो ग्रह बली रहता है, विशेषतया उसी के समान, जातक अथवा चोर आदि के स्वरूप का परिज्ञान किया जाता है ।

ग्रहों के मूल त्रिकोण, उच्च और नीच—

"सिंह-गोऽजांगना-चाप-तुल-कुम्भाः क्रमाद्रवेः ।
त्रिकोणं, त्वज-गो-नक्र-स्त्री-कर्कान्त्य-तुला लवैः ॥
दिग्भिस्त्रिभिश्चाष्टयुग्मैः शर-चन्द्रैः शरैश्च भैः ।
नखैरुच्चगृहं प्रोक्तं तस्मान्नीचं च सप्तमम् ॥"

सूर्यादि ग्रहों के क्रम से सिंह, वृष, मेष, कन्या, धनु, तुला और मकर--ये मूल त्रिकोण स्थान हैं ।

तथा मेष, वृष, मकर, कन्या, कर्क, मीन और तुला—ये क्रम से १०, ३, २८, १५, ५, २७, २० अंशों से उच्च स्थान हैं ।

उच्च से सप्तम राशि उतने ही अंशों से नीच स्थान हैं ।

स्पष्ट ज्ञानार्थ चक्र—

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
मूल त्रिकोण	सिंह	वृष	मेष	कन्या	धनु	तुला	कुम्भ
उच्च अंश	मेष १०	वृष ३	मकर २८	कन्या १५	कर्क ५	मीन २७	तुला २०
नीच अंश	तुला १०	वृश्चिक ३	कर्क २८	मीन १५	मकर ५	कन्या २७	मेष २०
गृह	सिंह	कर्क	मेष वृश्चिक	मिथुन कन्या	धनु मीन	वृष तुला	मकर कुम्भ

ग्रहों के नैसर्गिक (स्वाभाविक) स्थिर मित्र—

"त्रिकोणात् स्वान्त्य-धी-धर्मसुखायुः-स्वोच्चराशिपाः ।
सहजाः सुहृदः प्रोक्ताः परे, च रिपवः स्थिराः ।
मित्रत्वं च रिपुत्वं च येषु ते च समाः स्मृताः ॥"

अपने-अपने मूल त्रिकोण से २, १२, ५, ९, ४, ८ वीं और स्वोच्च राशियों के स्वामी 'स्वाभाविक मित्र'; अन्य स्थानों (१, ३, ६, ७, १०, ११ वें स्थानों) के स्वामी 'स्वाभाविक शत्रु' होते हैं। इस प्रकार जिस ग्रह में मित्रता और शत्रुता—दोनों लक्षण हों वे 'सम' होते हैं। ये स्वाभाविक होने से 'स्थिर' माने गये हैं।

उदाहरण—

यथा, सूर्य के त्रिकोण (सिंह) से १२ वें स्थान का स्वामी चन्द्रमा 'मित्र' हुआ। तथा मङ्गल ४, ९ वीं राशि के स्वामी होने से 'मित्र' हुआ। बुध दूसरे (२ रे) स्थान (कन्या) का स्वामी होने से 'मित्र' हुआ। और ११ वीं राशि (मिथुन) के स्वामी होने से

'शत्रु' भी हुआ। अतः वह बुध, सूर्य का 'सम' हुआ। एवं सिंह से ५, ८ स्थान (धनु, मीन) का स्वामी होने से गुरु 'मित्र' हुआ। एवं शुक्र ३, १० वीं राशि का स्वामी होने से 'शत्रु' तथा सिंह से ६, ७ वीं राशि (मकर, कुम्भ) का स्वामी होने से शनि 'शत्रु' हुआ।

इस प्रकार चन्द्रादि ग्रहों के भी त्रिकोण स्थान से मित्र, सम और शत्रु नीचे चक्र में देखिये—

नैसर्गिक मैत्री चक्र—

ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
मित्र	चं.मं.बृ.	सू. बु.	सू.चं.बृ.	सू. शु०	सू.चं.मं	श०बु०	बु.शु.
सम	बुध	मं.बृ.शु.श.	बुध	मं.बृ श.	श०	मं०	बृ०
शत्रु	शु. श.		शु. श०	चं०	बु०शु०	सू.चं.बृ.	सू.चं.मं.

इस प्रकार सिंह में सूर्य का गृह और मूल त्रिकोण; वृष में चन्द्रमा का उच्च और मूल त्रिकोण; मेष में मङ्गल का गृह और मूल त्रिकोण, कन्या में बुध का गृह, उच्च और मूल त्रिकोण तीनों स्थान; तुला में शुक्र का गृह और मूल त्रिकोण; कुम्भ में शनि का गृह और मूल त्रिकोण स्थान हैं।

किन्तु कितने-कितने अंशों में कौन स्थान हैं ? इसका विभाग पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है—

ग्रहों के गृह, उच्च, मूल त्रिकोण के विभाग —

"सिंहे नखास्त्रिकोणांशाः परतश्च गृहं रवेः।
वृषभेंऽशत्रयं तूच्चं, त्रिकोणं परतो विधोः॥

मेषे त्रिकोणमर्कांशा भौमस्य परतो गृहम् ।
स्त्रियां तिथीषु-दिग्-भागा उच्चं कोणं गृहं विदः ॥
दश चापे त्रिकोणांशाः परतः स्वगृहं गुरोः ।
तुले शुक्रस्य तिथ्यंशास्त्रिकोणं परतः स्वभम् ॥
कुम्भे नखास्त्रिकोणांशाः परतः स्वगृहं शनेः ।
स्वगृहोच्च-त्रिकोणस्था ग्रहाः पुष्टफलप्रदाः ॥"

सूर्य के—सिंह में २० अंश मूल त्रिकोण, शेष आगे १ अंश गृह है।
चन्द्र के—वृष में ३ अंश उच्च, आगे मूल त्रिकोण है।
मङ्गल के—मेष में १२ अंश मूल त्रिकोण, आगे गृह है।
बुध के—कन्या में १५ अंश उच्च, उसके बाद ५ अंश मूल त्रिकोण, तदनन्तर १० अंश गृह है।
गुरु के—धनु में १० अंश मूल त्रिकोण, आगे गृह है।
शुक्र के—तुला में १५ अंश मूल त्रिकोण, आगे स्वगृह है।
शनि के—कुम्भ में २० अंश मूल त्रिकोण, आगे गृह है।
सब ग्रह अपने-अपने गृह, उच्च और मूल त्रिकोण में पुष्ट (पूर्ण) फल देते हैं।

तात्कालिक मैत्री—

"व्ययाऽऽय-ख-चतुस्त्रि-द्वि-स्थिताश्च सुहृदः स्वतः ।
तत्कालसम्भवा ज्ञेयाः शत्रवोऽन्यत्र संस्थिताः ॥"

अपने-अपने आश्रित स्थान से पीछे १२, ११, १० और आगे २, ३, ४—इन छः स्थान में स्थित ग्रह तात्कालिक मित्र और भिन्न स्थानों में स्थित ग्रह शत्रु होते हैं।

एवं पञ्चधा मैत्री—

"तत्काले च निसर्गे च मित्रं तदधिमित्रकम् ।
उभयत्र च यः शत्रुः सोऽधिशत्रुर्निगद्यते ॥

मित्रं च सममित्रत्वे समशत्रुत्वे रिपुस्तथा ।
समश्च मित्रशत्रुत्वे ग्रहमैत्रीति पञ्चधा ॥"

जो ग्रह जिसका तत्काल और निसर्ग--दोनों प्रकार से मित्र हो वह 'अधिमित्र'; दोनों प्रकार से शत्रु हो वह 'अधिशत्रु'; सम और मित्र हो तो 'मित्र'; सम और शत्रु हो तो 'शत्रु'; तथा मित्र और शत्रु हो तो वह 'सम' माना जाता है। इस प्रकार ग्रह-मैत्री के ५ भेद होते हैं।

प्रयोजन--

"जन्मराशीशयोर्मैत्री यादृशी भवति द्वयोः ।
प्रीतिस्तु तादृशी ज्ञेया वर-वध्वोस्तथाऽन्ययोः ॥"

किन्हीं भी वर-वधू तथा अन्य दो व्यक्तियों के जन्मराशीश्वरों में जैसी ग्रह-मैत्री हो, उसी प्रकार उन दोनों में भी समझी जाती है--ऐसा भारतीय दैवज्ञों का मत है।

अन्यों के मत का वराहमिहिर ने इस प्रकार उल्लेख किया है--

"जीवो, जीव-बुधौ, सितेन्दुतनयौ, व्यर्कौ, विभौमाः क्रमात् ।
वीन्द्वर्का, वि-कुजेन्द्विनाश्च सुहृदः केषाञ्चिदेवं मतम् ॥"

अर्थात् सूर्य का केवल गुरु; चन्द्र के गुरु और बुध; मङ्गल के शुक्र और बुध; बुध के सूर्य को छोड़कर बाकी सब ग्रह; गुरु के मङ्गल के अतिरिक्त अन्य सब ग्रह; शुक्र के रवि और चन्द्र को छोड़कर अन्य सब ग्रह; और शनि के मङ्गल, चन्द्र और रवि-इन तीन के अतिरिक्त शेष अन्य ग्रह 'मित्र' हैं। एवं मित्र से भिन्न 'शत्रु' हैं--ऐसा किन्हीं अन्यों का मत है।

परन्तु इस मत को भारतीय ज्यौतिष ग्रन्थप्रणेता आचार्यप्रवर वराहमिहिर आदि ने स्वीकार नहीं किया है।

विवाह आदि में ग्रहों की गोचर शुद्धि (जन्मराशि से)

सूर्य	चन्द्र	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु-केतु	स्थान
३।६ १०।११	१।२।३ ५।६।७ ९।१०।११	३।६ १०।११	३।६ १०।११	२।५।७ ९।११	१।२।३ ९।११	३।६ १०।११	३।६ १०।११	शुद्ध
१।२ ५।७।९	+	१।२।५ ७।९	१।२।५ ७।९	१।३।६	५।६ ७।१०	५।६ ७।१०	१।२।५ ७।९	मध्य
४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	४।८।१२	निन्द्य

मध्यम स्थानों में वे शान्ति (जप, दानादि) से शुभ हो जाते हैं। ४। १२ स्थानों में द्विगुणित जपदानादि से और ८ वें स्थान में त्रि-गुणित जप-दान करने से शुभ हो जाते हैं।

किस ग्रह के बल में कौन कार्य करना--

"विवाहाद्युत्सवे जीवः सूर्यो भूपालसेवने।
संग्रामे धरणीपुत्रो विद्यारम्भे बुधस्तथा॥
यात्रायां भृगुपुत्रश्च दीक्षायां च शनैश्चरः।
चन्द्रमाः सर्वकार्येषु प्रशस्तो गृह्यते बुधैः॥"

विवाह, उपनयन आदि में गुरु, राजसेवा (नौकरी) में सूर्य, युद्ध में मङ्गल, विद्यारम्भ में बुध, यात्रा में शुक्र और मन्त्रग्रहण करने में शनि प्रशस्त कहे गये हैं।

ग्रहों के काल बल—

"जीव-ज्ञौ बलिनौ प्रातर्मध्याह्ने कुज-भास्करौ।
अपराह्णे चन्द्र-शुक्रौ सायंकाले तमःशनी॥"

बुध-गुरु पूर्वाह्न में, सूर्य-मङ्गल मध्याह्न में, चन्द्र-शुक्र अपराह्ण में और शनि तथा तम (राहु-केतु) सायंकाल में बली होते हैं।

अपने-अपने बल-समय में ग्रहों के जप-दानादि प्रशस्त होते हैं।

अन्तःकरणादि—

"आत्मा सूर्यो मनश्चन्द्रः कुजः सत्त्वं बुधश्च वाक् ।
गुरुर्ज्ञानं मदः शुक्रः जन्तोर्दुःखं शनिस्तमः ॥"

प्राणियों के सूर्य 'आत्मा,' चन्द्रमा 'मन', मङ्गल 'सत्त्व (बल)', बुध 'वाणी', गुरु 'ज्ञान', शुक्र 'मद', शनि एवं तमोग्रह '(राहु केतु) दुःख' हैं।

जन्मकाल अथवा गोचरकाल में ग्रहों के बल के अनुसार ही आत्मा आदि का बल समझना चाहिये ।

प्राणियों के अङ्गों में ग्रहों का स्थान—

"मस्तके च मुखे सूर्यो, गले वक्षसि चन्द्रमाः ।
पृष्ठे तथोदरे भौमः, करयोः पदयोर्बुधः ॥
कटयां च जघने जीवः शुक्रश्च गुद-लिङ्गयोः ।
जानूरुदेशयोर्मन्दः प्रयच्छति शुभाशुभम् ॥"

मस्तक और मुख में 'सूर्य', छाती और गर्दन में 'चन्द्रमा', पेट और पीठ में 'मङ्गल', हाथ और पैर में 'बुध', कमर और जाँघ में 'गुरु' गुदमार्ग और लिङ्ग में 'शुक्र', जाँघ और घुटना में 'शनि' अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं।

प्रयोजन--

ग्रह जन्मकाल अथवा गोचर में षड्वर्ग के अनुसार शुभ हों तो अपने-अपने उक्त अङ्गों को पुष्ट करते हैं तथा सुख देते हैं। अशुभ हों तो अपने-अपने उक्त अङ्गों को दुर्बल करते हैं और अशुभ (पीडा)-कारक होते हैं।

शरीर में ग्रहों के स्नायु आदि—

"सूर्यस्यास्थि विधो रक्तं मज्जा भौमस्य त्वग् विदः ।
गुरोर्वसा भृगोः शुक्रं शनेः स्नायुः प्रकीर्तितः ॥"

प्राणियों के शरीर में सूर्य का अस्थि, चन्द्रमा का शोणित, मङ्गल का मज्जा, बुध का त्वचा, गुरु का वसा, शुक्र का वीर्य, शनि का स्नायु- इस प्रकार अन्तःस्थ सप्तधातु हैं ।

यज्ञादि वेदी में ग्रहों के स्थान—

"मध्ये तु भास्करः स्थाप्यश्चन्द्रमाः पूर्व-दक्षिणे ।
दक्षिणे मङ्गलः स्थाप्यो बुधस्त्वीशानकोणके ॥
गुरुरुत्तरतः स्थाप्यः पूर्वस्यां दिशि भार्गवः ।
पश्चिमे तु शनिः स्थाप्यो राहु-र्दक्षिणपश्चिमे ।
पश्चिमोत्तरतः केतुरिति विज्ञैः प्रकीर्तितम् ।।"

अर्थ स्पष्ट है ।

अपनी अपनी जन्मराशि से ग्रहों के शुभ और वेध स्थान--

सूर्य		चन्द्र		बुध		गुरु		शुक्र		मङ्गल, शनि, राहु, केतु	
शुभ	वेध	शुभ	वेध	शुभ	वेध	शुभ	वेध	शुभ	वेध	शुभ	वेध
६	१२	१०	४	२	५	५	४	१	८	६	९
१०	४	३	९	४	३	२	१२	२	७	११	५
३	९	११	८	६	९	७	३	३	१	३	१२
११	५	१	५	८	१	११	८	४	१०		
		६	१२	१०	८	९	१०	५	९		
		७	२	११	१२			८	५		
								९	११		
								१२	६		
								११	३		

ग्रह जब चारवश शुभ स्थान में जाते हैं तो शुभ और वेध स्थान में जाते हैं तो अशुभ फल देते हैं ।

विशेषता यह है कि जब शुभ स्थान में जाते हैं तब यदि वेध स्थान में कोई ग्रह तो वह विद्ध समझा जाता है और शुभ फल

नहीं देता है; तथा वेध स्थान में जब जाता है उस समय शुभ स्थान में कोई ग्रह हो तो उसका अशुभ फल नहीं होता है। इसको विपरीत वेध कहते हैं।

एक ***विशेषता*** और यह है कि सूर्य और शनि में; तथा चन्द्रमा और बुध में परस्पर वेध होने पर भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है। अर्थात् उसका शुभ अथवा अशुभ फल वेध अथवा विपरीत वेध होने पर भी होता ही है। ग्रन्थविस्तरभय से श्लोक नहीं दिये गये हैं।

ग्रहों के दृष्टि स्थान—

"सप्तमं चतुरस्रं च त्रिकोणं त्रिदशाभिधम्।
पादवृद्धया प्रपश्यन्ति यच्छन्ति च फलं ग्रहाः॥
चतुरस्रं कुजो जीवस्त्रिकोणं त्रिदशं शनिः।
पूर्णं पश्यति स्वस्थानात् तत्र पूर्णफलप्रदः॥"

ग्रह अपने-अपने आश्रित-स्थान से सप्तम स्थान को ४ चरण से; चतुर्थ, अष्टम को ३ चरण से; पञ्चम, नवम को २ चरण से; तृतीय, दशम को १ चरण से देखते हैं और दृष्टि-चरण के अनुसार फल भी देते हैं।

विशेषता—यह है कि मङ्गल चतुर्थ, अष्टम को; गुरु पञ्चम, नवम को और शनि तृतीय, दशम को पूर्ण दृष्टि (४ चरण) से ही देखते और वहाँ फल भी पूर्ण देते हैं।

ग्रहों के देवता और प्रत्यधिदेवता—

"सूर्यादितः शिव-शिवा-गुह-विष्णु-केन्द्र-
कालाः क्रमेण पतयः कथिता ग्रहाणाम्।
वह्नयम्बु-भूमि-हरि-शक्र—शची-विरिञ्चा-
स्तेषां पुनर्मुनिवरैः प्रतिदेवताश्च॥"

शिव, पार्वती, कार्तिकेय, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र और काल—ये सूर्य आदि ग्रहों के देवता तथा अग्नि, जल, भूमि, विष्णु, इन्द्र, इन्द्राणी और ब्रह्मा—ये सूर्य आदि ग्रहों के क्रम से प्रत्यधिदेवता हैं।

प्रयोजन—

ग्रहों के पूजनादि में उनके देवता और प्रत्यधिदेवता के भी पूजन होते हैं।

"राहोरधिपतिः कालः प्रत्यधीशो भुजङ्गमः।
चित्रगुप्तस्तथा केतोः स्वयम्भूः क्रमशः स्मृतः॥"

राहु के अधिदेवता काल और प्रत्यधिदेवता शेष (नाग) तथा केतु के अधिदेवता चित्रगुप्त और प्रत्यधिदेवता स्वयम्भू (ब्रह्मा) हैं।

मध्यम गति से ग्रहों के राशि-भोग-काल—

"मासं सूर्यो बुधः शुक्रः, सार्धं मासं च मङ्गलः।
गुरुर्वर्षं शनिः सार्ध-वर्षयुग्मं तथा शशी॥
दिनद्वयं सपादं च राशौ राशौ च तिष्ठति।
आकाशे स्व-स्वकक्षायां मध्यगत्या भ्रमन् ग्रहः॥"

अपनी-अपनी कक्षा में मध्य गति से भ्रमण करते हुए सूर्य, बुध और शुक्र एक मास, मङ्गल डेढ़ मास, गुरु एक वर्ष, शनि अढाई वर्ष और चन्द्रमा सवा दो दिन एक-एक राशि में रहते हैं।

ग्रहों के फल देने के समय—

"राश्यादिगौ रवि-कुजौ फलदौ सितेज्यौ
मध्ये सदा शशिसुतश्चरमेऽब्ज-मन्दौ।
अध्वान्नवह्निभय - सन्मति - वस्त्र - सौख्य-
दुःखानि मासि जनिभे रविवासरादौ॥"

सूर्य और मङ्गल राशि के आदि भाग में; गुरु और शुक्र मध्य भाग में और बुध समस्त राशि में; शनि और चन्द्रमा राशि के अन्त भाग में विशेष रूप से अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं।

विशेष--

"भौमादीनां ग्रहाणां हि पञ्चानामपि नित्यशः ।
अतीचारे च वक्रे च पूर्वराशिफलं वदेत् ॥
अतीचारी गुरुस्त्वग्रराशिजं गोचरोद्भवम् ।
फलं लुप्ताब्दजं दुष्टं पूर्वराशौ प्रयच्छति ॥"

मङ्गल आदि पाँच ग्रह यदि अतिचार से अग्रिम राशि में अथवा वक्रगति से पृष्ठराशि में भी चले जाँय तथापि पूर्व राशि का ही फल देते हैं। गुरु में विशेषता यह है कि यदि अतिचार से अग्रिम राशि में जाय तो गोचर फल उसी राशि का देता है। किन्तु लुप्तवर्षजन्य दोष पूर्वराशि सम्बन्धी संवत्सर में ही देता है; क्योंकि पूर्वराशि सम्बन्धी संवत्सर ही लुप्त होता है।

ग्रहों के फलाभाव स्थान—

"नीचराशिगतो यश्च शत्रुक्षेत्रगतोऽपि वा ।
शुभाशुभफलं नैव ददात्यस्तंगतोऽपि वा ॥
शुभेक्षितयुतः पापः शुभः पापयुतेक्षितः ।
नैव स्वं स्वं फलं दातुं क्षमो भवति खेचरः ॥"

जो ग्रह नीच अथवा शत्रु गृह में हों अथवा सूय-सान्निध्य से अस्त हों वह अपना शुभ अथवा अशुभ फल नहीं देते हैं।

तथा यदि शुभग्रह भी पापग्रह से युत दृष्ट हों तो शुभ फल नहीं देते हैं, एवं पापग्रह भी शुभग्रह से युत दृष्ट हों तो पाप फल नहीं देते हैं।

दुष्ट ग्रहों के शान्त्यर्थ मुद्रा-धारण—

"धार्यं तुष्टयै भौम-भान्वोः प्रवालं रौप्यं शुक्रेन्द्वोश्च हेमेन्दुजस्य ।
सूरेर्मुक्ता लोहमर्कात्मजस्य लाजावर्तः कीर्तितो राहु-केत्वोः ॥"

सूर्य और मङ्गल के तुष्टयर्थ मूँगा, चन्द्र और शुक्र के लिये चाँदी, बुध के लिये सुवर्ण, गुरु के लिये मुक्ता, शनि के लिये लोहा और राहु-

केतु के तुष्ट्यर्थ लाजावर्त को अँगूठी में धारण करना चाहिए।

दोषशान्त्यर्थ जप-दान के समय—

"कुर्यात् सूर्यादिखेटानां जप-दानाऽर्चनादिकम्।
तेषां वारे च काले च तेन तुष्टा भवन्ति ते॥

अपने-अपने कथित काल और वार में सूर्यादि ग्रहों की संतुष्टि के लिये जप, दान,पूजन आदि करना चाहिये।

सूर्यादि ग्रहों के लिये होमार्थ समिधा—

"अर्काद् ब्राह्मयमहीरुहात् खदिरतोऽपामार्गतः पिप्पलात्
आर्द्रोदुम्बरशाखिनोऽप्यथ शमी-दूर्वा-कुशेभ्यः क्रमात्।
सूर्यादिग्रहमण्डलस्य समिधो होमाय ग्राह्या बुधैः
सुस्निग्धाः सरलास्त्वचावनिमिताः प्रादेशमात्राः स्मृताः॥"

सूर्य आदि ग्रहों के तुष्ट्यर्थ हवन के लिये क्रम से आक (मदार), पलास, खैर, अपामार्ग, पीपल, गूलर, शमी, दूब, कुश की समिधा प्रादेशमात्र ग्रहण करना चाहिए।

दानोत्तर दक्षिणा—

धेनुः शंखोऽरुणरुचिवृषः काञ्चनं पीतवस्त्रं
श्वेतश्चाश्वः सुरभिरसिता कृष्णलोहं महाजः।
सूर्यादीनां मुनिभिरुदितं दक्षिणास्तु ग्रहाणां
स्नानै-र्दानै-र्हवन-बलिभिस्तेऽत्र तुष्यन्ति सर्वे॥"

स-वत्सा गौ, शङ्ख, लाल रंग का बैल, सुवर्ण, पीला कपड़ा, सफेद घोड़ा, काली गाय, काले रंग का लोहा, और बकरा—क्रम से सूर्यादि केतुपर्यंत ग्रहों के दान के बाद ये ही दक्षिणा देनी चाहिये।

जप का स्थानानुसार फल—

"शुचिस्थाने शुचिर्भूत्वा पाठं वा जपमाचरेत्।
गृहे त्वेकगुणं जाप्यं द्विगुणं तु नदीतटे॥

गोष्ठे दशगुणं प्रोक्त—मग्न्यागारे शताधिकम्।
तीर्थादिषु सहस्रं स्यादनन्तं विष्णुसन्निधौ।।

शौच-स्नानादि क्रिया से पवित्र होकर पवित्र स्थान में पाठ अथवा जप करना चाहिये। अपने घर में एक गुना, नदी के तट में दुगुना, गोशाला में दशगुना, अग्निशाला में सौगुना, काशी प्रयाग आदि तीर्थस्थानों में हजारगुना और विष्णु की मूर्ति (शालग्राम शिला) के समीप में असंख्यगुना जप और पाठ का फल होता है।

	ग्रहों के मन्त्र (वैदिक)		(तन्त्रोक्त)
सूर्य का	ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॰	सूर्यका	ॐ घृणिः सूर्याय नम
चन्द्रक	ॐ इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा॰	चन्द्रका	ॐ सों सोमाय नमः
भौमका	ॐअग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या ऽअयम्। अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति॰।	भौमका	ॐअं अङ्गारकाय नमः
बुधका	ॐ उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयञ्च। अस्मिन्त्सधस्थे ऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॰।	बुधका	ॐ बुं बुधाय नमः
गुरुका	ॐबृहस्पते ऽअति यदर्यो ऽअर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतु-मजनेषु। यद्दीदयच्छवस ऽऋत प्र जात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।	गुरुका	ॐबृं बृहस्पतये नम
शुक्रका	ॐ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु॰।	शुक्रका	ॐ शुं शुक्राय नमः
शनिका	ॐशन्नो देवीरभिष्टय ऽआपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः।	शनिका	ॐशं शनैश्चराय नमः
राहुका	ॐकया नश्चित्र ऽआभुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठयावृता॰।	राहुका	ॐ रां राहवे नमः
केतुका	ॐ केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या ऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः।	केतुका	ॐ कें केतवे नमः

सूर्यदान	चन्द्रदान	भौमदान	बुधदान	गुरुदान	शुक्रदान	शनिदान	राहुदान	केतुदान
माणिक्य	वंशपात्र	विद्रुम, पृथ्वी	कांस्य पात्र	पीत धान्य	श्वेत चावल	माष, तैल	माष, हेम नाग	माष
गोधूम, गुड़	श्वेत चावल	मसूर, द्विदल	हरित वस्त्र	पीत वस्त्र सुवर्ण	श्वेत चन्दन	नीलम, तिल	सप्त धान्य	कम्बल, कस्तूरी
सवत्सा गौ	श्वेत वस्त्र	गोधूम	गजदंत, घृत	पीत पुष्प, घृत	श्वेत चित्र, वस्त्र	कृष्ण वस्त्र	नीलवस्त्र, गोमेद	वैदूर्यमणि
कमलपुष्प	श्वेत चंदन	रक्त वृषभ	मुद्ग, पन्ना	पीत फल	श्वेत वस्त्र	कुरथी, लोहा	कृष्ण पुष्प	कृष्ण पुष्प
नूतन गृह	श्वेत पुष्प	गुड़, रक्त चंदन	सुवर्ण, दासी	पुखराज	रजत, हीरा	महिषी	खड्ग, तिल	तिल, तैल
रक्तचन्दन	चीनी, रजत	रक्त वस्त्र	सर्व पुष्प, रत्न	हरिद्रा, अश्व	घृत, सुवर्ण	कृष्ण धेनु	तैल, लोहा	रत्न, सुवर्ण
रक्तवस्त्र	वृषभ, घृत	रक्त पुष्प	कपूर, शङ्ख	पुस्तक, मधु	श्वेताश्व, दधि	कृष्ण पुष्प	सूर्प, कम्बल	लोहा, बकरा
सुवर्ण, ताम्र	शङ्ख, दधि	सुवर्ण, ताम्र	अनेक फल	लवण, शर्करा	सुगन्ध द्रव्य	उपानत्	सतिलताम्रपात्र	शस्त्र
केशर, मूँगा	मोती, कपूर	केशर, कस्तूरी	षट्रस भोजन	भूमि, छत्र	शर्करा, गोधूम	कस्तूरी, सुवर्ण	सुवर्ण, रत्न	सप्त धान्य
वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा	वर्ण दक्षिणा
जप संख्या ७०००	जप संख्या ११०००	जप संख्या १००००	जप संख्या ९०००	जप संख्या १९०००	जप संख्या १६०००	जप संख्या २३०००	जप संख्या १८०००	जप संख्या १७०००

ग्रह दोष शान्त्यर्थ औषधी स्नान—

लाजवन्ती, कूढ़, बरियरा, सरफोंका, ककुनी, मोथा, सरसों, देवदारु, हल्दी, लोधिया—इन दश औषधि को जल में डालकर, उससे स्नान करने से ग्रह नक्षत्रजन्य दोष शान्त हो जाता है।

ग्रहजन्य कष्टनिवारणार्थ यन्त्र—

१ रवियन्त्र			२ चन्द्रयन्त्र			३ मङ्गलयन्त्र		
६	१	८	७	२	९	८	३	१०
७	५	३	८	६	४	९	७	५
२	९	४	३	१०	५	४	११	६

४ बुधयन्त्र			५ गुरुयन्त्र			६ शुक्रयन्त्र		
९	४	११	१०	५	१२	११	६	१३
१०	८	६	११	९	७	१२	१०	८
५	१२	७	६	१३	८	७	१४	९

७ शनियन्त्र			८ राहुयन्त्र			९ केतुयन्त्र		
१२	७	१४	१३	८	१५	१४	९	१६
१३	११	९	१४	१२	१०	१५	१३	११
८	१५	१०	९	१६	११	१०	१७	१२

यन्त्र धारणविधि—

जिस ग्रह के दोष की शान्ति के लिए यन्त्र-धारण करना हो, उस यन्त्र को भोजपत्र पर चन्दन अथवा रक्तचन्दन से, (यदि सम्भव हो तो) अनार की कलम से, नव कोष्ठ बनाकर, उपरि लिखित अङ्कों को लिखे। फिर शुक्र-चन्द्र के लिए चाँदी का जन्तर बनाकर, सूर्य-बुध-गुरु के लिए सुवर्ण का, मङ्गल के लिये ताँबे का और शनि-राहु-केतु के लिये लोहे का जन्तर बनवाकर, उसमें यन्त्र रख देवे। इस यन्त्र को ग्रहों के वार में ही पूजन आदि करके, ग्रहों की दिशा की ओर मुँह करके, पुरुष दाहिनी भुजा पर और स्त्री बाँयीं भुजा पर धारण करे। अनन्तर यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन करावे।

इत्येवं कालपञ्चाङ्गविवेकाख्यं सदादिमम्।
ज्यौतिषरत्नमालाया रत्नं सम्पूर्णतां गतम्॥

* श्रीः *

ज्यौतिषरत्नमाला

संहिता-स्कन्धीय द्वितीय रत्न

२

समय-शुद्धि-विवेक

—०—

रचयिता—

विदेहदेशीय चौगमानिवासी वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालयीय-

सम्मानितप्राध्यापक ज्यौतिषाचार्य

श्री सी ता रा म झा

—०—

संशोधक—

वाराणसेय—संस्कृतविश्वविद्यालयीय-ज्यौतिषविभागाध्यक्ष

पं० श्रीअवधविहारी त्रिपाठी, ज्यौ० आ०

—०—

प्रकाशक—

मास्टर संस्कृत प्रकाशन भवन

सी० के० १५।५२ सुड़िया, वाराणसी—१

प्रकाशिका:

श्रीमती विमला देवी,

प्रोप्राइटर,

मास्टर संस्कृत प्रकाशन भवन,

सी० के० १५/५२ सुड़िया,

बाराणसी—१

•

प्रकाशन तिथि:

माघ शुक्ल १५, संवत् २०२४

•

मूल्य .८० पै०

●

मुद्रक:

श्री प्रेस

कार्त्तवीर्यपुर

(कतुआपुरा)

वाराणसी—१

समय-शुद्धि-दर्शन

समस्त शास्त्रों एवं पुराणों के मत से इस अखिल चराचर विश्व का अधीश्वर परब्रह्म परमेश्वर काल (समय) ही है। इसी की त्रिगुणात्मिका शक्ति (प्रकृति) द्वारा जगत् का उद्भव, पालन और प्रलय हुआ करता है। कहा भी है—

समय एव करोति बलाबलं
सृजति पाति हरत्यखिलं जगत्।
मुहुरिदं द्विविधं निजमायया
प्रकृतिसंज्ञिकया स्वयमव्ययः॥

भगवान् समय तो अनादि, अनन्त, अव्यय और स्वयंशुद्ध हैं, किन्तु प्रकृति गुणात्मिका है। उसके सत्त्व तथा तमो गुण क्रम से दक्षिण और वाम अङ्ग रूप हैं। उनकी सन्धि (बीच) में दोनों के मिश्रण रूप ही तृतीय रजोगुण माना जाता है। अतः प्रकृति त्रिगुणात्मिका कहलाती है। वस्तुतः मुख्य गुण दो ही हैं। इस लिये उसके द्वारा निर्मित चर-अचर पदार्थमात्र सत्त्व-तम (उत्तम-अधम) द्विविध होते हैं—जो क्रमशः शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध-अशुद्ध माने जाते हैं। अतः आकाशस्थ शुभ-अशुभ ग्रहों तथा नक्षत्रों के परस्पर किरण-सम्पर्क से समय के भी दिवा-रात्रि, प्रकाश-अन्धकार के समान, शुद्ध और अशुद्ध—दो भेद हुआ करते हैं। अशुद्ध होने के अनेक कारण हैं उनमें मुख्य—बृहस्पति के वक्रातिचार वश लुप्त—अधिक वर्ष, सूर्य के वक्रातिचार वश क्षय—अधिक मास, चन्द्र के वक्रातिचार वश लुप्त—अधिक तिथि, सिंहस्थ मकरस्थ गुरु, गुरु शुक्र का अस्त, गुर्वादित्य—ये प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त ग्रहण, संक्रांति, वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र, लग्न आदि सन्धि—इत्यादि विविध दोषों से समय दूषित हुआ करता है। इन अशुद्ध कारक दोषों में कितना-कितना दिन किन-किन देशों में त्याज्य है तथा कौन-सा गुण (सुयोग) प्राप्त होने पर, दोषों का नाश होकर, अशुद्ध भी शुद्ध हो जाता है—इस सम्बन्ध में अनेक शास्त्रनिष्णात सहृदय जनों में संशयवश मतभेद होते रहते हैं। इसी दृष्टिकोण से अखिल भारतीय ज्यौतिष महासम्मेलन के विशिष्ट सदस्यों से आदिष्ट होकर, त्रिस्कन्धज्योतिष मर्मज्ञ, लब्धप्रतिष्ठ, वयोवृद्ध ख्यातनामा पं० श्रीसीताराम झा ने इस ग्रन्थरत्न की रचना की है। यह पुस्तक अतीव महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं संग्रहणीय है। इस पुस्तक को

सर्वसाधारण जनता भी स्वयं पढ़कर उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में संशय रहित होकर अवश्य लाभान्वित होगी। हम पुस्तक के चतुर्दिक् प्रचार की कामना करते हैं। इत्यलम्

राजमोहन उपाध्याय
ज्यौतिष विभागाध्यक्ष,
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय

माघ शुक्ल पञ्चमी
संवत् २०२४

—०—

इस पुस्तक में लिखित विषय के समर्थक

संख्या	नाम	व्यवसाय
१	आचार्य श्री लक्ष्मीकान्तझा,	अध्यापन, फलादेश
२	,, श्री लक्ष्मीनारायणझा	अध्यापन
३	,, श्री राजेन्द्रचौधरी	,,
४	,, श्री रमानन्द चौधरी	,,
५	,, श्री रुद्रधरझा	,,
६	,, श्री दीनानाथझा	,,
७	,, श्री देवनारायणझा	,,
८	,, श्री सिंहेश्वरझा	,,
९	महापण्डित श्री शुकदेवझा	,,
१०	आचार्य श्री कपिलेश्वर चौधरी	निरीक्षक
११	,, श्री देवचन्द्र झा	अध्यापन
१२	,, श्री रामफलठाकुर	,,
१३	,, श्री कृष्णमोहनठाकुर	,,
१४	,, श्री मुनीन्द्रझा	,,
१५	,, श्री राजमोहन उपाध्याय	,,
१६	,, श्री अवधविहारी त्रिपाठी	,,
१७	,, श्री कृष्णकान्तशर्मा, सि० फ० ज्यौ० आ०	,, फलादेश
१८	,, श्री विशुद्धानन्दगौड ज्यौ० आ०	,, ,,
१९	,, श्री गेन्दनलाल शर्मा	,, ,,

अखिल भारतीय विज्ञजनों के नाम

वर्तमान पता	जन्मस्थल		प्रदेश
राजकीय महाविद्यालय, बड़ौदा	दरभंगा	विहार	मिथिला
सं० विद्यापीठ बैंगनी, दरभंगा	,,	,,	,,
आधारपुर, दरभंगा	,,	,,	,,
हावी भौआर, दरभंगा	,,	,,	,,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	ठाढी	,,	,,
,, ,, ,,	सिहवार	,,	,,
वनगाम, सहरसा	सहरसा	,,	,,
महिषी, सहरसा	,,	,,	,,
सिमरा, भागलपुर	भागलपुर	,,	,,
संस्कृत विद्यालय पटना,	मुजफ्फरपुर	,,	,,
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय	मुजफ्फरपुर	,,	,,
बरहकुरबा,	मुजफ्फरपुर	,,	,,
रणवीर संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी	बरौनी, मुंगेर	,,	,,
जानकी संस्कृत विद्यालय नरकटियागञ्ज,	मोतीहारी	,,	,,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	शाहाबाद		विहा
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी			उत्तर प्र
	हापुड़, मेरठ		,,
राधाकृष्ण संस्कृत महाविद्यालय	खुरजा, बुलन्दशहर		,,
	मेरठ		,,

	वर्तमान पता	जन्मस्थल	प्रदेश
२०	आचार्य श्री केदारदत्त जोशी प्राध्यापक-काशीहिन्दूविश्वविद्यालय	गढ़वाल	उ०प्र०
२१	” श्री मुरलीधर सुयाल ज्यो० श्रा० तोली, बद्रिकाश्रम	गढ़वाल	उ०प्र०
२२	,, श्री हरिकृष्णदयालु शास्त्री राज्य ज्योतिषी	सुकेत स्टेट	हिमाचल प्रदेश
२३	,, श्री धरणीधर शर्मा वाराणसी		हरियाना
२४	,, श्री मुरारीलालशर्मा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय	कपूरथला	पंजाब
२५	” श्री प्रह्लाद शर्मा मानसमन्दिर, वाराणसी	जैनपुरवास,	राजस्थान
२६	,, श्री कुञ्जीलाल शर्मा, अध्यापन, फलादेश	हरदा,	मध्यप्रदेश
२७	” श्री रामचन्द्र शर्मा, वाराणसी	चिलेश्वर,	मेवाड़
२८	” श्री देवकीनन्दनशास्त्री ज्योतिष मार्तण्ड, ,,		राजस्थान
२९	” श्री प्राणनाथ त्रिपाठी, पञ्चाङ्गनिर्माण	पोखरा अर्घौ	नेपाल
३०	” श्री मीठालाल ओझा ज्यो०श्रा० वाराणसेय सं०वि०वि०		गुजरात
३१	” श्रीसोमेश्वरपाठक ज्यो०श्रा०पञ्चाङ्गनिर्माण ,, ,,		महाराष्ट्र
३२	” श्री रमानन्द स्वामी भू० पू० ज्योतिषाध्यापक		केरल
३३	” श्री वरेन्द्रनाथमिश्र पञ्चाङ्ग निर्माण	मिदनापुर	बंगाल

ज्यौतिषरत्नमाला:

समयशुद्धिविवेको नाम द्वितीयरत्नम् ।

(अतीचार लुप्तसंवत्सरादि निर्णय)

गणेशं च दिनेशं च श्रियं गौरीं गिरं गुरुम् ।
नत्वा करोमि कालस्य शुद्ध्यशुद्धिविवेचनम् ॥ स्पष्टार्थ ।

शुभकर्म समय—

स्वानुकूले शुभे काले सुलग्ने च सदा बुधैः ।
विवाहादि शुभं कर्म कर्तव्यं मुनिभिः स्मृतम् ॥

अपने अनुकूल शुभ समय में तथा आवश्यकता में सर्वदा ही सुलग्न देखकर विवाहादि शुभ कर्म करना चाहिए ऐसा मुनियों ने कहा है ।

समय में दिन मास वर्ष की प्रधानता—

त्रुट्यादिषु समान्तेषु तिथिमाससमास्त्रयः ।
कालस्यावयवा मुख्याः शुभाऽशुभफलप्रदाः ॥
एष्वेव त्रिषु शुद्धेषु शुभकर्म समाचरेत् ।
इति शास्त्राज्ञया शुद्धिरेषामेव विचार्यते ॥

त्रुटि से समा (वर्ष) पर्यन्त काल के अनेक अङ्गों में तिथि, मास और वर्ष ये तीन प्रधान हैं । इन तीनों की शुद्धि एवं अशुद्धि से शुभ, अशुभ फल होते हैं । इन तीनों के शुद्ध होने पर शुभ कर्म करे । ऐसी शास्त्र की आज्ञा है । अतः इन तीनों की शुद्धि का विचार किया जा रहा है ।

शुद्धि विचार में हेतु—

तिथिशुद्धिर्विधोश्चारात् मासशुद्धिस्तथा रवेः ।
वर्षशुद्धिर्गुरोश्चाराच्चिन्तनीया विचक्षणैः ॥

चन्द्र के चार से तिथि शुद्धि, रविचार से मास शुद्धि और गुरु के चार से वर्षशुद्धि देखनी चाहिये ।

[चार गति को कहते हैं]

ग्रहगति के ८ भेद—(सूर्यसिद्धान्त)

वक्राऽतिवक्रा विकला मन्दा मन्दतरा समा ।
तथा शीघ्रातिशीघ्रा च ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥

(१) वक्रचार (२) अतिवक्रचार (३) विकलचार (४) मन्दचार (५) अतिमन्दचार (६) मध्यचार (७) शीघ्रचार (८) अतिशीघ्रचार ये गति भेद सूर्यादि शनि पर्यन्त सातों ग्रहों के होते हैं ।

विशेष स्पष्टीकरण— (१) वक्रचार का अर्थ–ग्रहका पीछे हटना । (२) अतिवक्र चार का अर्थ–ग्रह का पीछे हटते हुए सीमा (मर्यादा) का अतिक्रमण । (३) विकल चार का अर्थ–ग्रह जिस बिन्दु में वक्रगति का त्याग कर मार्गी होता है, तथा मार्ग गति को त्याग कर वक्री होता है उस बिन्दुस्थ गति को विकलचार कहते हैं । (४) मन्दचार का अर्थ–ग्रह की स्वाभाविक (मध्यम) गति से अल्प गति को मन्दचार कहते हैं । (५) अतिमन्दचार का अर्थ–ग्रह का मन्दचार से सीमा का अतिक्रमण करना अतिमन्दचार कहलाता है । (६) मध्यचार का अर्थ–ईश्वर प्रदत्त स्वाभाविक एक रूप गति को सम या मध्यचार कहते हैं । (७) शीघ्रचार का अर्थ-स्वाभाविक (मध्य) गति से अधिक गति को शीघ्रचार कहते हैं । (८) अतिशीघ्रचार का अर्थ—शीघ्रचार से सीमा का उल्लंघन करना अति शीघ्रचार कहलाता है ।

['अति' शब्द का अर्थ अधिक और मर्यादा उल्लङ्घन में भी होता है अतः जहाँ अति शब्द लगता है वह प्रायः दूषित समझा जाता है ।] यथा —'आचार' शब्द का प्रयोग सत्कर्म में होता है । वह भी मर्यादा के भीतर हो तभी आचार या सदाचार कहलाता है । मर्यादा के अतिक्रमण में वह भी निन्द्य माना जाता है । इसलिए अति + आचार = अत्याचार कहलाता है । इस सम्बन्ध में शब्दकल्पद्रुमकार ने भी कहा है—

अतिचार :—(१) शीघ्रगमनम्। (२) अतिक्रम्य चरणम्।

इसलिये शीघ्रचार=अतिचार। तथा अति+शीघ्रचार=अति+अतिचार। यह सूर्यसिद्धान्त प्रतिपादित गति का आठवाँ भेद है। इसी को लाघवार्थ अति+अतिचार=अत्यतिचार न कहकर लाघवार्थ, ज्योतिष विज्ञों ने; कहीं २ अतीचार भी कहा है।

यहाँ अतिवक्रचार, अतिमन्दचार और अतिशीघ्रचार से काल दूषित होता है। शेष ५ प्रकार के चार [वक्रचार विकलचार, मन्दचार, मध्यचार, शीघ्रचार (अतिचार) ये शुद्ध रहते हैं।]

मर्यादा शब्द का स्पष्टार्थ--

'मर्यादा' शब्द का अर्थ सीमा है। ग्रहों की भोज्यमान राशि; आदि से अन्त तक मर्यादा कहलाती है। इसलिए उसके भीतर वक्रचार और अतिचार भी शुद्ध रहता है। यथा शब्दकल्पद्रुम—"ग्रहाणां स्वभोज्यमानराशावपि वक्रातिचारौ भवतस्तत्र नाऽकालः।" अर्थात्—ग्रहों की अपनी भोज्यमान राशि में भी वक्र, अतिचार होते हैं; वहाँ काल दूषित नहीं होता।

चन्द्रमा के अतीचार से लुप्ततिथि और अतिमन्दचार से अधितिथि (तिथि वृद्धि), एवं रवि के अतीचार से लुप्त (क्षय) मास और अतिमन्दचार से अधिमास तथा गुरु के अतीचार से लुप्तवत्सर और अतिमन्दचार से अधिसम्वत्सर होता है।

इन तीनों ग्रह (चं० सू० गु०) के अतिचार जब तक सीमा (मर्यादा) के भीतर रहता है तब तक शुद्ध और सीमा (मर्यादा) के उल्लङ्घन होने पर लुप्ततिथि लुप्तमास लुप्तवत्सर एवम् अधितिथि अधिमास और अधिवत्सर होता है।

(१) चन्द्रमा की मर्यादा—चन्द्राश्रित प्रत्येक तिथिमें रव्यादि वारकी पूर्ति (सूर्योदय) है। इस मर्यादा का उल्लङ्घन इस प्रकार होता है कि—चन्द्राश्रित किसी तिथि में वारपूर्ति (सूर्योदय) नहीं हो ? अथवा

दो सूर्योदय हों। यही क्रम से लुप्ततिथि और अधितिथि का लक्षण है। यथा शुद्ध तिथि का लक्षण—

यां तिथिं समनुप्राप्य ह्युदयं याति भास्करः।
सा तिथिः सकला ज्ञेया स्नानदानादिकर्मसु॥

इस श्लोक का यही आशय है कि जिस तिथि में १ सूर्योदय हो वह शुद्ध तिथि कहलाती है।

अधितिथि एवं लुप्ततिथि का लक्षण—

सूर्योदयद्वयं यत्र साधिकाख्या विदोच्यते।
यत्र सूर्योदयाभावः सा क्षयाख्या तिथिः स्मृता॥

एकतिथि; दो सूर्योदय में प्राप्त होने के कारण अधितिथि (तिथिवृद्धि) कहलाती है। अग्रिम दिन तिथिमल समझ कर शुभकार्य में दूषित समझा जाता है। लुप्ततिथि में सूर्योदय के अभाव से न तो प्रथम दिन और न अग्रिम दिन स्नानादि में उसकी योजना होती है। अतः पञ्चाङ्गकार भी तिथिश्रेणी में उसकी संख्या नहीं लिखते। क्षयतिथि को लुप्त संज्ञक होने के कारण शुभकर्म में त्याज्य किया गया है।

शुद्धादि तिथि का अन्य लक्षण—

यत्र वारस्य पूर्तिः स्यात् सा शुद्धा तिथिरुच्यते।
पूर्त्यभावे क्षयाख्या स्यात् पूर्तिद्वित्वेऽधिकाग्रिमा॥

(२) सूर्य की मर्यादा—सूर्याश्रित एक-२ मेषादि राशि में एक २ चान्द्रमास की पूर्ति (दर्शान्त) होने से शुद्ध चैत्रादि संज्ञक मास होते हैं। यदि किसी सूर्याश्रित राशि में मासपूर्ति (अमान्त) नहीं हो तो वह लुप्त (क्षय) संज्ञक मास होता है। तथा—एक सूर्याश्रित राशि में दो दर्शान्त हो जांय तो दोनों अमान्त मास एक ही संज्ञा के होते हैं। उनमें अग्रिम को अधिमास या मलमास कहते हैं। यथा—

मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः।
चैत्राद्यः स ज्ञेयः पूर्तिद्वित्वेऽधिमासोऽन्त्यः॥

पूर्तिर्न चेत्कदाचित् रविराशौ चान्द्रमासस्य।
क्षयसंज्ञोऽसौ ज्ञेयः शुभकार्ये द्वौ क्षयाधिकौ त्याज्यौ ॥

अन्य लक्षण--

एकार्कसंक्रमो मासः शुद्धश्चैत्रादिसंज्ञकः।
अधिकाख्यो विसंक्रान्तिर्द्विसंक्रान्तिः क्षयाभिधः ॥

अथवा तृतीय लक्षण—

आरम्भो मीनगे यस्य समाप्तिर्मेषगे रवौ।
स चान्द्रश्चैत्र इत्येवं वैशाखाद्या अपि क्रमात् ॥
"अन्यथा मलमासः स्याच्छुभकर्मविगर्हितः"

इत्यादि अनेक प्रकार के लक्षण अनेक आचार्यों द्वारा बहुविध वाक्यों में कहे गये हैं।

(३) बृहस्पति की मर्यादा—पूर्व कहा जा चुका है कि गुरुचार से वर्षशुद्धि देखी जाती है। वर्ष ४ प्रकार के होते हैं। (१) सौरवर्ष (२) चान्द्रवर्ष (३) बार्हस्पत्य वर्ष और (४) सावनवर्ष।

(१) सौरवर्ष का स्वरूप—स्पष्टसूर्य का १२ राशि भोगकाल सौरवर्ष कहलाता है। जिसमें सावन दिन संख्या सावयव ३६५ दिन होती है। इसका प्रारम्भ मेषार्क संक्रान्तिकाल और अवसान अग्रिम मेषार्क संक्रान्ति काल में होता है। यही देवासुरों का अहोरात्र होता है। यों तो सूर्याश्रित किसी राशि के भी अंश से सूर्य के १२ राशि भोग कर पुनः उसी राशि के उस अंश पर आने से भी वर्ष कहलाता है। जो प्रत्येक व्यक्ति के जन्मकाल से वर्षफल कहने में उपयुक्त होता है। परञ्च सार्वजनिक फल कहने में मेषार्क संक्रमण काल में ही वर्षप्रवृत्ति मानी जाती है।

(२) चान्द्रवर्ष का स्वरूप—चैत्रशुक्ल प्रतिपदादि से अग्रिम चैत्रशुक्ल प्रतिपदादि पर्यन्त का काल चान्द्रवर्ष कहलाता है। जिसमें सावन (सूर्योदय से सूर्योदय) दिन संख्या सावयव ३५४ होती है।

(३) **बार्हस्पत्य वर्ष का स्वरूप**—बृहस्पति की मध्यम गति से एकराशि का भोगकाल बार्हस्पत्य वर्ष कहलाता है। इसमें सावन दिन (सूर्योदय से अग्रिम सूर्योदय) संख्या सावयव ३६१ होती है। जैसा कि संहिता ग्रन्थों में कहा है। इस बात को भास्कराचार्य ने भी अपने शब्दों में कहा है। यथा--

बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात्,
सम्वत्सरं सांहितिका वदन्ति ॥

अन्य भी वचन--

कल्पादितो मध्यमजीवभुक्ता
ये राशयः षष्टिहृतावशेषाः ।
सम्वत्सरास्ते विजयाश्विनाद्या
इतीज्यमानं किल संहितोक्तम् ॥

सृष्टि के आरम्भ से बृहस्पति अपनी मध्यम गति से जितनी राशियों का भोगकर चुके हों उनमें ६० का भाग देने पर जो शेष बचे, वे विजयादि नामक स्थिर रूप ६० सम्वत्सर होते हैं। उन्हींकी मेषादि बारह राशियों के सम्बन्ध से आश्विनादि भाद्रान्त १२ संज्ञा होती हैं। जैसे—सूर्याश्रित मेषादि १२ राशियों में चान्द्रमास के सम्बन्ध से चैत्रादि १२ नाम होते हैं। उसही प्रकार जीवाश्रित मेषादि राशियों में बार्हस्पत्य वर्ष के सम्बन्ध से आश्विनादिक १२ नाम होते हैं। जैसे गुरु मेष राशि में होने पर जिस सम्वत्सर की पूर्ति होता है उस वर्ष का नाम आश्विन एवम् वृषाश्रित गुरु में कार्तिक आदि समझना। इस वर्ष के आरम्भ और पूर्ति का ज्ञान शकाब्द द्वारा गणित से होता है।

(४) **सावन वर्ष का स्वरूप**—किसी भी दिन से ३६० सावन दिन का एक सावन वर्ष कहलाता है। इसमें क्षय या अधिक नहीं होता।

विशेष—इन वर्ष मास और तिथियों के स्वरूप भचक्र (नक्षत्रगोल) में प्रत्यक्ष हैं। प्राचीन (वैदिक) काल में विज्ञजन आकाश में नक्षत्रों को

देखकर ही तिथि मास और वर्षों की संख्या एवम् उनकी संज्ञा जानते थे।

सार्वजनिक वर्षफल जानने के लिए नर्मदा से दक्षिण सौर और नर्मदा से उत्तर बार्हस्पत्य तथा कहीं चान्द्र वर्ष भी उपयुक्त होता है। यथा—

नर्मदोत्तर-भागे तु बार्हस्पत्येन वत्सरः।
तस्यास्तु दक्षिणे भागे सौरमानेन वर्तते॥
"क्वचिद् बङ्गादिदेशे तु चान्द्रमानेन गृह्यते।"

शुद्ध, लुप्त, अधिवत्सर लक्षण--

यत्रैकराशिसञ्चारो मार्गगत्या गुरोर्भवेत्।
शुद्धः संवत्सरः स स्यादाश्विनादिकसंज्ञकः॥
'अधिकाख्यो विचारः स्याद् द्विचारो लुप्तसंज्ञकः॥'

[क] देश भेद से गुरुमर्यादा विचार :—

दक्षिण देश में एक-२ सौर वर्ष में एक बार्हस्पत्य वर्ष की पूर्ति (अवसान) होने से शुद्ध वर्ष होता है। अन्यथा-अर्थात् एक सौर वर्ष में यदि दो बार्हस्पत्य वर्ष का अवसान हो जाये तो वह लुप्तवत्सर कहलाता। यथा कहा भी है—

एकस्मिन् रविवर्षे गौरववर्षद्वयावसानं चेत्।
त्र्यब्दस्पृगेनमेवं विलुप्तसंवत्सरं प्राहुः॥

इसही प्रकार एक चान्द्रवर्ष में एक बर्हस्पत्य की समाप्ति होतो बङ्गादि देश में शुद्ध वर्ष माना जाता है। अन्यथा लुप्त और अधिवत्सर होते हैं।

[ख] नर्मदोत्तर भाग में गुरुचार की मर्यादा :—

जीवाश्रित प्रत्येक मेषादि राशि में उक्त बार्हस्पत्य वर्ष की पूर्ति (अवसान) होने से शुद्ध संवत्सर होते हैं। कदाचित् दो बार्हस्पत्य वर्ष

का अवसान हो जाये तो अधिवत्सर होता है। यदि जीवाश्रित राशि में बार्हस्पत्य वर्ष की पूर्ति न हो तो वह लुप्तसम्वत्सर कहलाता है और यही गुरु का अतीचार या अत्यतिचार कहा गया है।

गुरु के अतीचार में विशेषता—बृहस्पति के अतीचार होने पर भी सम्पूर्ण वर्ष सर्वदा दूषित नहीं होता।

बृहस्पति के अतीचार के तीन भेद होते हैं। यथा—

(१) लघ्वतिचार (२) मध्य अतिचार (विशिष्ट लघु) (३) महा अतिचार।

तीनों के स्वरूप—

[ग] गुरु अतीचारानन्तर यदि अग्रिम राशि से वक्र होकर पूर्व राशि में आजाय और पूर्व राशि में रहते हुए वर्ष पूर्ति हो तो इसे लघ्वतिचार कहते हैं। इसमें दोषाभाव या किसी के मत से केवल २८ दिन दूषित होते हैं।

[घ] यदि अतिचारी गुरु वक्री होकर वर्षपूर्ति के बाद पूर्व राशि में आवे तो इसमें सर्वसम्मति से २८ दिन त्याज्य कहा गया है। यह विशिष्ट लघ्वतिचार माना गया है।

[ङ] यदि अतिचारानन्तर गुरु वक्री होकर पूर्व राशि में न आवे तो महातिचार होता है। जिससे लुप्तसंज्ञक सम्वत्सर होता है। इसमें आर्षवचनानुसार केवल ४५ दिन त्याज्य कहे गये हैं। कुछ जन यहाँ अतिचार (लुप्त संवत्सर) होने पर समस्त वर्ष दूषित मानते हैं। किन्तु यह युक्ति और आर्ष वचन के विरुद्ध है। यथा—मंगलादि पांचों ग्रहके अतिचार से कालदूषित होते हैं। परञ्च गुरु के शुद्ध चार रहने पर मंगल, बुध, शुक्र, शनि इन चारों के अतीचार होने पर काल दूषित नहीं माना जाता।

मंगलादि ५ ग्रहों के अतीचार में त्याज्य दिन—

"मासो दशाऽहानि तथा त्रिपक्षी
मासत्रिभागः खलु षट्कमासाः।

एषोऽतिचारः कथितो ग्रहाणां
भौमादिकानामितरस्तु चारः ॥"

पूर्वं प्रतिपादित अतीचार का स्पष्ट लक्षण यह है कि—

'स्वमध्यखेटादयदि पूर्वमेव
स्फुटोऽग्रभं याति तदातिचारः।
अकालकृन्नेष्टफलप्रदोऽसौ
पश्चाद् व्रजन् साधुफलप्रदः स्यात् ॥"

अर्थात्, ग्रह अपने मध्यम से यदि पूर्व ही अग्रिम राशि में जावे तो अतिचारी होता है। इस प्रकार मंगल एक मास, बुध १० दिन, बृहस्पति ४५ दिन शुक्र १० दिन, और शनि ६ महीने, या इससे अधिक मध्यम से पहिले ही अग्रिम राशि में जावे तो वह दूषित अतिचार होता है। वर्षान्त से पूर्व इससे कम दिनों में अग्रिम राशि में जाये तो वह अतीचार भी साधारण चार समझा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि गुरु यदि पूर्व सम्वत्सर व्यतीत होने पर अग्रिम राशि में जाय तो शुद्ध सम्वत्सर तथा १०½ या इससे अधिक मास राशि भोग कर अग्रिम राशि में जाये तो लुप्तसम्वत्सर होने पर भी काल दूषित नहीं होगा। यथा शौनक का वचन—

मासान्दशैकादश वा प्रभुज्य
राशेर्यदा राशिमुपैति जीवः।
भुंक्ते न पूर्वं च पुनस्तदानीं
न लुप्तसंवत्सरमाहुरार्याः ॥

इससे सुस्पष्ट है कि सम्वत्सर के १० या ११ मास बीतने पर ही राशि का भोगकर अर्थात् १-२ मास पहिले ही अग्रिम राशि में जावे और वक्र होकर पूर्व राशि का भोग न करे तो महातिचार का लक्षण प्राप्त होने पर भी संवत्सर दूषित नहीं होता।

यदि २ मास से अधिक पहिले ही गुरु अतिचारी हो अर्थात् अग्रिम राशि में चला जाय तो अतिचारानन्तर २८ या ४५ दिन शुभ कार्य न करे। अथवा अतिचारानन्तर तद्राशिस्थ गुरु में वर्षान्तिपर्यन्त शुभकृत्य न करे। यथा कहा भी है—

"अतिचारगतो जीवः पूर्वभं नैव गच्छति।
समाचरेयुः कर्माणि नो वा तत्रैव संस्थिते॥"

विशेष—गुरु मध्यचारी, मन्दचारी या अतिचारी है? इस बात को ग्रहगोलज्ञ पूर्वजन प्रत्यक्ष आकाश में देखते थे। आकाश में अश्विनी से भचक्र के १२ विभागः क्रम से (१) अश्विनी (२) कृत्तिका (३) मृगशीष (४) पुष्य (५) मघा (६) पूर्वा-फाल्गुनी (७) चित्रा (८) विशाखा (९) ज्येष्ठा (१०) पूर्वाषाढा (११) श्रवण (१२) पूर्वा-भाद्रपद इन नक्षत्रों के अधिष्ठान माने गये हैं। इन नक्षत्रों में गुरु के योग से ही बार्हस्पत्य वर्ष की आश्विनादि संज्ञा होती है। यथा—अश्विनी अधिष्ठान में गुरु के योग से आश्विन, कृत्तिकाधिष्ठान में कार्तिक इत्यादि संज्ञा रखकर तदनुसार संहिता ग्रंथों में फलादेश किया गया है। यथा बृहत्संहिता—

वर्षाणि कार्तिकादीन्याग्नेयाद् भद्वयानुयोगीनि।
क्रमशस्त्रिभं च पञ्चममुपान्त्यमन्त्यं च यद्वर्षम्॥

क्रमशः—उक्त अधिष्ठानों में एक से चार तक कृत्तिकादि दो-दो नक्षत्र और पञ्चम अधिष्ठान में तीन नक्षत्र (पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त) छठे सातवें आठवें नवें और दसवें अधिष्ठान में चित्रा से दो-दो नक्षत्र और ग्यारहवें अधिष्ठान में तीन नक्षत्र (शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद) तथा बारहवें अधिष्ठान में तीन नक्षत्र (रेवती, अश्विनी, भरणी) स्थित हैं। इन १२ अधिष्ठानों की पहिचान के लिए क्रम से वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन, मेष राशियां हैं।

इन वृषादि अधिष्ठान में गुरु के रहते हुए जिस सम्वत्सर की समाप्ति हो उसकी कार्तिकादि संज्ञा होती है। जैसे वृषाधिष्ठान [कृत्तिका रोहिणी]

वृष में गुरु के रहने से जो संवत्सर पूर्ण होगा वह कार्तिक वर्ष कहलायेगा। इस ही प्रकार आगे भी समझना। कदाचित् किसी एक अधिष्ठान में गुरु के रहते हुए दो संवत्सर की पूर्ति हो तो उन दोनों संवत्सरों का एक ही नाम होगा। यदि किसी अधिष्ठान में गुरु के रहते हुए संवत्सर का अवसान न हो तो उस अधिष्ठान सम्बन्धी संज्ञा का लोप होने से लुप्त संवत्सर कहलाता है।

स्पष्टीकरण—जिस संवत्सर में गुरु किसी अधिष्ठान में प्रवेश करे उस संवत्सर की पूर्ति (अवसान) तक उसी अधिष्ठान में रहे तो शुद्ध संवत्सर होता है।

यदि संवत्सर पूर्ति से पहिले ही बृहस्पति अग्रिम अधिष्ठान में चला जाये और उस अधिष्ठान में रहते हुए ही संवत्सर की पूर्ति हो तो अग्रिम अधिष्ठान सम्बन्धी उसकी संज्ञा हो जायेगी। पूर्व संज्ञा का लोप हो जायेगा। यथा उदाहरण—

संवत्सर आरम्भ होनेके बाद स्फुट गुरु वृषाधिष्ठान में प्रवेश किया और संवत्सर पूर्ति से पहिले ही मिथुनाधिष्ठान में चला गया तो मिथुनाधिष्ठान में वर्ष पूर्ति होने के कारण उसका कार्तिक नाम न होकर मार्गशीर्ष नाम पड़ा।

विशेष—यह तो संवत्सरारम्भ से वर्ष फल समझने के लिये संज्ञा की गई।

गुरु के उदय से भी वर्ष फल कहे गये हैं उसके लिये--जिस अधिष्ठान में गुरु का उदय होता है, उसके सम्बन्ध से संज्ञा होती है। यथा--

"नक्षत्रेण सहोदयमुपगच्छति येन देवपतिमन्त्री।
तत् संज्ञं वक्तव्यं वर्षं मासक्रमेणैवम्॥

मासक्रम सूर्यसिद्धान्त में कहा है--

"नक्षत्रनाम्ना विज्ञेया मासाः पर्वान्तयोगतः।
कार्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम्॥
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिभं मासत्रयं स्मृतम्।"

तथा—महर्षिपाणिनि ने भी—

(१) नक्षत्रेण युक्तः कालः । (२) सास्मिन् पौर्णमासी ॥

इन दो सूत्रों से सिद्ध किया है। जैसे—

"पौषं अहः" "चैत्रो-मासः" "कार्तिकं वर्षम् ।" इत्यादि

यदि मध्यम बृहस्पति के साथ ही स्पष्ट बृहस्पति किसी अग्रिमाधिष्ठान में प्रवेश करे तो वह सहयोगी और पीछे प्रवेश करे तो अनुयोगी और पहिले ही प्रवेश कर जाये तो अग्रयोगी कहलाता है। पूर्वोक्त नियमानुसार अनुयोगी और सहयोगी में संवत्सर शुद्ध और अग्रयोगी में लुप्त संवत्सर कहलाता है। इस विचार से यह सुस्पष्ट है कि मध्यम बृहस्पति से पूर्व (संवत्सर समाप्ति से पहिले) ही स्पष्ट गुरु अग्रिम अधिष्ठान में चला जाये तो लुप्त संवत्सर होता है। यह प्रत्यक्ष ज्यौतिषशास्त्र का सिद्धान्त है।

इसके अनुसार ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मनीषिमान्य मिथिला महीमण्डन म० म० महेश ठक्कुर ने अतिचार निर्णय नामक अपने निबन्ध में ग्रहचार शब्दार्थज्ञानानभिज्ञ पञ्चाङ्गकारों के सुबोधार्थ लुप्त संवत्सर का निर्णय किया है। उन्होंने विशेषता यह दिखलायी है कि—अतिचार होने पर कब लघ्वतिचार कब मध्यातिचार और कब महातिचार होता है। गुरु के चार में यह प्राकृतिक नियम है कि मार्गगति से चलते हुए अपने वक्र केन्द्रांश पर, वक्र होकर लगभग १०-११ अंश पीछे हटता है। पुनः मार्गगति हो जाता है। इस प्रकार मार्ग, वक्र होना क्रम बद्ध है। अतः एक राशि भोगकर अग्रिम राशि गमन में ३ भेद होते हैं। यथा—

(१) अखण्ड (एकधा) भोगगति ।
(२) सखण्ड (द्विधा) भोगगति ।
(३) त्रिखण्ड भोगगति ।

(१) राशि में प्रवेश कर उसमें वक्र नहीं होकर अग्रिम राशि में जाना यह अखण्ड भोग गति कहलाता है।

(२) राशि में प्रवेश कर १० अंश या उससे कम मार्गगति से एकखण्ड का भोगकर वक्रगति से पूर्वराशि में आकर पुनः मार्गगति होकर सम्पूर्ण राशि को भोग करता हुआ अग्रिम राशि में जाना 'सखण्ड भोग गति' कहलाता है।

(३) यदि एक ही राशि में कुछ अंश [१२° से अधिक] मार्गगति से भोगकर पुनः वक्रगति से उसी राशि में द्वितीय खण्ड [लगभग १०°] भोगकर; पुनः उसी राशि में मार्गगति से शेष भोग्यांश तृतीयखण्ड को भोगता हुआ अग्रिमराशि में जावे तो यह 'एकराशौ त्रिखण्ड भोग गति' कहलाता है।

स्पष्टीकरण—

गुरु प्राकृतिक नियमानुसार ३६० अंशात्मक भचक्र में मार्ग गति से चलता हुआ—नियमित केन्द्रांश पर वक्र होकर लगभग १०, ११ अंश पीछे हटता है—पुनः मार्ग गति से चलकर वक्र केन्द्रांश होने पर वक्र हो जाया करता है। एवं दो दो वक्र केन्द्रांश स्थान का अन्तर लगभग ३२, ३३ अंश होता है।

अतः यदि मेष के २९ अंश पर वक्र हो तो मार्ग गति से वृष में प्रवेश कर—समस्त राशि (३० अंश) भोग कर मिथुन में १ अंश के आगे जाकर ही वक्र होगा। यही अखण्ड भोग कहलाता है।

(२) यदि मार्ग गति से वृष में प्रवेश कर ५, ७ अंश (एक खण्ड) भोग कर वक्र होकर पृष्ठराशि (मेष) में चला जाय पुनः द्विधा वृष में प्रवेश करके समस्त वृष (३० अंश) भोगकर मिथुन के ७ अंश से आगे जाकर ही वक्र होगा। यह सखण्ड भोग कहलाता है।

(३) यदि वृष में प्रवेश करके १५ अंश या उससे अधिक एक खण्ड मार्ग गति से भोग कर वक्र गति होकर १० या ११ अंश (द्वितीय खण्ड), पुनः उसी राशि में मार्ग गति से तृतीय खण्ड का भोग करता हुआ अग्रिम—राशि में जाय तो यह तद्राशौ या एकराशौ त्रिखण्ड भोग कहलाता है।

विशेष—इन तीन से अतिरिक्त गतिभेद नहीं हो सकता।

(१) यह भी सिद्धान्त है कि अखण्ड भोग गति में अतीचार होने पर अग्रिमराशि से वक्र होकर निश्चित रूप से पूर्वराशि में द्विधा भोग होता ही है। अतः इस स्थिति में महातिचार नहीं होता।

(२) सखण्ड [द्विधा] भोग गति में अतीचार होने पर अग्रिम-राशि से वक्र होकर पुनः पूर्व राशि में त्रिधा भोग होता है और कभी नहीं भी होता है। इस स्थिति में पूर्व राशि में यदि द्विधा या त्रिधा भोग हो जाय तो लघ्वतिचार होने के कारण महातिचार नहीं होता है। यदि पूर्व राशि में नहीं आवे तो महातिचार होता है। अतः इस स्थिति में लघ्वतिचार और महातिचार दोनों की सम्भावना रहती है।

(३) त्रिखण्ड भोगगति में प्रायः वक्रगति से द्वितीयखण्ड समय में या तृतीयखण्ड भोग समय में वर्षपूर्ति (सम्वत्सर समाप्ति) हो ही जाती है। कदाचित् द्वितीय या तृतीय खण्ड भोग में वर्षपूर्ति न हो अर्थात् वर्षपूर्ति से पहिले ही अग्रिमराशि में चला जाये तो इस प्रकार के अतीचार में पूर्वराशि में आने की असम्भवतावश 'महातिचार' ही होता है।

पुनः विशेष—एक राशि में त्रिखण्ड भोगगति में प्रायः गुरु उस राशि में ३६१ से अधिक दिन ही रहते हैं। कदाचित् ३६१ से कुछ [दो एक दिन] कम भी लगते हैं। उस स्थिति में सम्वत्सर का भोग मान करणग्रन्थोक्त ३६० न मानकर सिद्धान्तग्रन्थोक्त ३६१ दिन २ घड़ी ४ पल ४५ विपल लेना चाहिए; इसको सूर्यसिद्धान्त रीति से महेश ठक्कुर ने अपने निबन्ध में दिखलाया है और वहाँ कहा भी है कि—

"एवं यद्येकराशौ खण्डद्वयभोगेन खण्डत्रयभोगेन वा वर्षपूर्तिर्न भवति, तदा महातिचार एव" इति सिद्धान्तगणितोपपत्तिर्दर्शिता ॥"

इसके अतिरिक्त महेशठक्कुर की अन्य स्पष्टता—

पूर्व में सिद्ध हो चुका है कि—पूर्व राशि में वक्रगति से त्रिधा-भोग की सम्भावना रहती है। त्रिधाभोग नहीं होने से महातिचार

होता है और त्रिखण्डभोग में निश्चित रूप से पूर्व राशि में नही आने के कारण महातिचार होता ही है। दोनों स्थिति में पूर्व राशि का उल्लङ्घन होने के कारण पूर्वराशि में ही अतीचार का फल होता है। अतः महेश-ठक्कुर ने कहा भी है कि—

"अत्रापि महातिचाराद् यद्यग्रिमराशिगतो भवति तदापि पूर्वराशावेवाऽतिचारस्य फलप्रदो भवति ॥"

यह वचन युक्तियुक्त है। क्योंकि जिस राशि का उल्लङ्घन हो उसी राशि सम्बन्धी संवत्सर लुप्तसंज्ञक होता है। कहा भी है—

"अतीचारेण यो राशिर्लङ्घितो देवमन्त्रिणा।
तद्राशिवत्सरो लुप्तो गर्हितः शुभकर्मसु ॥"

दैवज्ञबान्धवकार ने भी कहा है—

"एकाहाधिकवर्षार्वाग् द्वौ राशी विचरेद् यदि।
तदातिचारी जीवः स्यात्पूर्वराशिफलप्रदः ॥"

लुप्ताब्द सम्वत्सर में अन्यवचन—

"गुरुसंक्रमयुग्मवत्समा
गदिता सा ननु लुप्तसंज्ञिका।
विबुधै रहिता शुभे तु याऽ-
धिसमा गीष्पतिसंक्रमोज्झिता ॥"

इस प्रकार जिन आचार्यों ने संवत्सर में गुरु के २ संक्रम होनेपर अतिचार या लुप्त वर्ष कहा है, वहां मार्गगति से प्रथम प्रवेश ही उस राशि का संक्रम कहा गया है। वक्र होकर पूर्वराशि से लौटने पर तो नीचासन्न में वक्रता त्याग के कारण अधिक शीघ्र गति होने से स्वल्प समय में ही अग्रिम राशि में चला जाता है। इस स्थिति में यदि उस राशिस्थ गुरु में वर्षावसान न हो तो लुप्तसंवत्सर अन्यथा शुद्ध अतिचार समझना चाहिये।

इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष देखकर ही कविकुलगुरु कालिदास ने निर्दुष्ट लक्षण कहा है—

मार्गी पुरोधा गदितोऽग्रधन्विनो
द्विराशिचारं कुरुते यदा तदा।
लुप्ता शरत् सापि निपादिकं चरे-
च्चतुष्टयं मंगलसाधिनी भवेत् ॥"

तथा च—

क्षयाधिमासावुदितौ पुरा मया
क्षयाधिकाब्दस्य च रूपमुच्यते।
क्षयाधिका मार्गवतोः गुरोः समाः
द्विसंक्रमाजा क्रमतो विसंक्रमा ॥"

लुप्तसंवत्सर में अन्य भी वचन—

"पूर्वराशिं परित्यज्याऽपूर्णे सम्वत्सरे गुरुः।
अतीचारः स विज्ञेयः परराशिगतो यदा ॥
अतीचारगतो जीवः पूर्वभं नैति चेत्पुनः।
लुप्तसंवत्सरो ज्ञेयो ह्यनर्हः शुभकर्मसु ॥
एकस्मिन् वत्सरे जीवः स्पृशेद् राशित्रयं यदि।
लुप्तः संवत्सरः स स्यादनर्हः शुभकर्मसु ॥

इन समस्त वचनों से सुस्पष्ट है कि जिस जीवाश्रित राशि में संवत्सर समाप्ति न हो वही वर्ष लुप्तसंवत्सर कहलाता है।

इसी बात को म० म० महेशठक्कुर ने भी अपने निबन्ध में प्रस्तुत किया है।

आशा है जनता प्रस्तुत इस निर्णय को समझ कर व्याप्त भ्रम से निवृत्त हो सकेगी।

इस प्रकार लुप्ततिथि, लुप्तमास और लुप्त संवत्सर के लक्षण दिखलाये गये हैं। लुप्त संवत्सर होने पर भी कहाँ और कितना समय त्याज्य है, इसमें अन्य मुनियों और आचार्यों के वचन—

"गोऽजान्त्यकुम्भेतरभेऽतिचारगो
नो पूर्वराशिं गुरुरेति वक्रितः।
तदा विलुप्ताब्द इहाति निन्दितः
शुभेषु रेवा-सुरनिम्नगान्तरे॥"

अन्य वचन--

"लुप्तवत्सरदोषस्तु पयोष्णी-नर्मदान्तरे।
नान्यदेशेष्विति प्राहुर्वसिष्ठाऽत्रि-पराशराः॥
गर्गादि-माण्डव्य-पराशराद्या
भृग्वङ्गिरःकश्यप-शौनकाद्याः।
लुप्ताब्ददोषं प्रवदन्ति मध्ये
सोमोद्भवायाः सुरनिम्नगायाः॥"

इत्यादि अनेक वचनों से अतीचार का दोष केवल गङ्गा और गोदावरी के मध्यस्थ (राजस्थानादि) देश में ही है; अन्यत्र नहीं। एवं आर्षवचनों से सिद्ध है कि लघ्वतिचार में तो दोष ही नहीं; किसी के मत से २८ दिन, तथा विशिष्ट लघु (मध्य) अतिचार में २८ दिन और महातिचार में अधिक से अधिक तीन पक्ष (४५ दिन) मात्र त्याज्य है। यथा

"अतीचारे त्रिपक्षं च वक्रे पक्षद्वयं त्यजेत्।"

शौनक ने तो अतिचार मात्र में केवल २८ दिन त्याज्य कहा है। यथा —

"राशौ वक्री चातिचारी यदि स्याद्—
वाचामीशोऽनिष्टदः सर्वकार्ये।

अष्टाविंशद्वासराणामधस्तात्
तस्मादूर्ध्वं नैव दोषः कदाचित् ॥"

इत्यादि वचनों की उपेक्षा कर जो समस्त संवत्सरमें विहित समय का भी त्याग करते हैं, वे शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ नक्षत्रसूचक और पापभागी कहे गये हैं—

"विहितस्य परित्यागान्निन्दितस्य निषेवणात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥
न ज्ञात्वा शास्त्रतत्त्वार्थं पापं पुण्यं वदन्ति ये ।
स्वयं सन्दिग्धचित्ता वा ते भवन्त्यघभागिनः ॥"

निन्दित के ग्रहण करने में जितना पाप होता है उससे भी अधिक पाप विहित के त्याग में होता है । इसलिये राजदण्डादि में सन्देह होने पर (कदाचित् निर्दोष में दोष हो जाने के भय से) दोषी को भी निर्दोष मान लेना विधि (कानून) है । इसलिये विज्ञजनोंको किसी विषयमें गतसन्देह होकर ही आदेश करना चाहिये ।

जब से सारणी द्वारा पञ्चांग बनाने की परिपाटी चली तब से प्रायः अल्पज्ञजनों ने ही पञ्चांग बनाना प्रारम्भ किया । जैसे लुप्त तिथि, लुप्त मास का ज्ञान, पञ्चांग में तिथिमान (अमावास्या, संक्रान्ति) देख कर हो जाता है; तथा सौर और चान्द्र वर्ष का आरम्भ और समाप्ति नियमित (मेष संक्रान्ति और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को) होती है और लोग प्रत्यक्ष देखते हैं । उस प्रकार बार्हस्पत्य संवत्सर की प्रवृत्ति और समाप्ति के समय को नहीं समझते । तथा उत्तर भारत में संवत्सर के फल (सुभिक्ष, दुर्भिक्षादि) को जानने के लिये मुनियों ने बार्हस्पत्य संवत्सर से ही विशेषकर कहने का आदेश दिया है । संवत्सर की शुद्धि गुरु के चार (गति) वश देखी जाती है । अतः मनीषिमान्य म० म० महेश ठाकुर ने साधारण ज्ञान रखने वाले पञ्चांगकारों के सुबोधार्थ 'अतीचारादि निर्णय' नामक निबन्ध लिखा । तथापि कुछ पञ्चांगकारों ने उक्त निबंधस्थ

पंक्ति के भ्रामक अर्थ समझकर, अनतिचार में अतिचार, और अतीचार में भी शुद्ध समय लिखना प्रारम्भ कर दिया-जिसका विवाद सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा है। उन लोगों के स्पष्ट (प्रत्यक्ष) प्रतीत्यर्थ हम शाके १८८६, ८७, ८८ फसली सन् १३७१, ७२, ७३) में स्पष्ट गुरु के चारवश, शुद्ध और लुप्त संज्ञक संवत्सर गणित द्वारा दिखलाते हैं। यथा पूर्व पञ्चाङ्ग विवेक में प्रदर्शित संवत्सर-ज्ञान-प्रकार ("शकेन्द्रकालः पृथगाकृतिघ्नः") इत्यादि से शाके १८८६ (फसली ७१ साल) में मेषार्क संक्रमणकाल में प्रभवादि भुक्त संवत्सर वर्षादि ५० । ५ । ० २० । ६ अर्थात् ५० वाँ नल नामका संवत्सर गत (पूर्ण) हो चुका; ५१ वाँ अपूर्ण (वर्तमान) पिङ्गल नाम के भुक्त मासादि ५। ०। २० । ९ भोग्य मासादि ६।२६।३९।५१ अर्थात् इतने (भोग्य) मासादि तुल्य राश्यादि सूर्य में ५१ वें संवत्सर की पूर्ति (समाप्ति) होगी। उस समय में स्पष्ट गुरु मेष में है अतः इसका राशिसम्बन्धी नाम आश्विन हुआ।

एवं शाके १८८७ मेषार्क समय में गत संवत्सर वर्षादि ५१।५।४।८। ० अर्थात् ५१ वाँ गत पिङ्गल, वर्तमान ५२ वाँ कालयुक्त उसका भुक्त मासादि ५ । ४ । ८ । ० भोग्य मासादि ६।२५।५२।० इतने राश्यादि सूर्य में कालयुक्त संवत्सर की पूर्ति होगी। उस समय में स्पष्ट गुरु को वृष में रहना चाहिये जिससे उसका नाम कार्तिक होता, सो नही होकर गुरु वृष को उल्लङ्घन करके वर्षपूर्ति से पहिले ही अग्रिम राशि (मिथुन) में चला गया है, अतः उसकी कार्तिक संज्ञा का लोप होकर मार्गशीर्ष संज्ञा हुई। इसलिये वृषराशिसम्बन्धी संवत्सर लुप्तसंज्ञक हुआ। यही गुरु का अतीचार हुआ। किन्तु स्पष्ट गुरु मिथुन से वक्र होकर वृष में आया, अतः शाके १८८७ (फसली १३७२) में २८ दिन त्याज्य लघ्वतिचार सिद्ध हुआ।

इसका रूप नक्शा में देखिये--

```
   ५१          वृ०      ५२ वाँ संवत्सर
———पू०—————————————————————मि०——पू०
```

पू० से पूं० तक ५२ वाँ संवत्सर, वृ०=वृष में प्रवेश । मि० = मिथुन में प्रवेश ।

स्पष्ट गुरु पू० से वृ० तक मेष में, वृ० से मि० तक वृष में, मि० से पूं० तक मिथुन में रहा । पूं० ५२ वाँ संवत्सरान्त बिन्दु ।

अतः इसी में लुप्त संवत्सर के सब लक्षण घटित होते हैं ।

अब हम अतीचार के भेदों को दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं । यह सर्वविदित है कि नियम का पालन गुण (पुण्य) और उल्लङ्घन दोष (पाप) है । जैसे रेलवे समयसारिणी में एक स्टेशन से गाड़ी के छूटने का समय ११ बजे और दूसरे स्टेशन पर पहुँचने का समय १२ बजे है । यदि पहले स्टेशन से ११ बजने पर गाड़ी छूटी और ठीक १२ बजे दूसरे स्टेशन पर पहुँची तो उसका मध्यचार; यदि १२ बजे के बाद पहुँची तो मन्दचार और यदि १२ बजे (निर्दिष्ट समय) से पूर्व ही पहुँची तो उसका अतिचार (शीघ्र गमन) समझा जाता है ।

इस अतिचार के चार भेद होते हैं---

(१) यदि समय पूर्ति से पहिले पहुँच कर दूसरे स्टेशन पर ही रही और समय पूर्ति (१२ बजे) के बाद आगे बढ़ी तो 'शुद्ध अतिचार'

(२) यदि समय पूर्ति (१२ बजे) से पूर्व ही पहुँच कर आगे भी बढ़ गयी तो नियम भङ्ग होने के कारण अति+अतिचार=अतीचार हुआ । इसके ३ तीन भेद होते हैं--

(१) यदि समय-पूर्ति से पहिले आगे बढ़कर ड्राइवर (चालक) गाड़ी को लौटाकर स्टेशन पर ले आवे तब तो यात्री को समय (१२ बजे) पर गाड़ी मिल जाने से कोई असुविधा न होने से 'लघु अतिचार' हुआ । इसमें किसी के मत से दोष नहीं, किन्तु किसी के मत से नियम-भङ्ग-जन्य साधारण दोष है ।

(२) समय-पूर्ति से पूर्व ही आगे बढ़ जाय और फिर लौटाकर आने में बाहर ही समय पूर्ति हो (१२ बज) जाय तब स्टेशन पर आवे तो इस में अधिकांश यात्री समय (१२ बजे) जानकर लौट जा सकते हैं । अतः

यह दोषयुत अतिचार हुआ। इसमें पूर्वोक्त लघु अतिचार से अधिक दोष होने के कारण 'विशिष्ट' लघु अथवा 'मध्य अतिचार' हुआ।

(३) यदि समय-पूर्ति से पहिले आगे बढ़ जाय और लौटकर स्टेशन पर न आवे तो अधिकारी दोषी समझे जायंगे। इसमें पूर्वोक्त दोनों लघ्वतिचारों से अधिक दोष समझा जायगा।

इसी प्रकार गुरु के गतिभेद से म० म० महेश ठाकुर ने व्याख्या की है। परञ्च ग्रहचारानभिज्ञ पञ्चाङ्गकार ने भ्रम अथवा हठवश अपने पञ्चाङ्ग में केवल गुरु की अधिक गति देखकर महातिचार लिख दिया। जिसमे कुछ लोगों में अन्धपरम्परा बनकर वह विवाद का कारण हो गया। विज्ञजन इस प्रकार के (देश तथा शास्त्र हित घातक) पञ्चाङ्ग को अमान्य समझें। आशा है, विज्ञजन निष्पक्ष विचार से शास्त्रमर्यादा की रक्षा करेंगे।

अथ गुरुवक्रचारः।

गुरु के वक्र, अतिवक्र चार के लक्षण पहिले कहे जा चुके हैं। वक्रचार होने पर भी जब तक स्पष्ट और मध्यम गुरु एक राशि में रहते हैं तब तक शुद्ध समय रहता है। जब वक्रचार से स्पष्ट गुरु पिछली राशि में चले जाते हैं तब वह 'अतिवक्र चार' कहलाता है। उसमें भी २८ दिन मात्र त्याज्य कहे गये हैं। यथा--

(लल्ल)—"वक्रे चैवातिचारे च वर्जयेत् तदनन्तरम्।
व्रतोद्वाहादियात्राया—मष्टाविंशतिवासरान्॥"

स्पष्टार्थ।

अथ सिंहस्थगुरुनिर्णयः।

सामान्य वचन से सिंहस्थ गुरु शुभ कार्य में जो त्याज्य कहा गया है वह गोदावरी के उत्तर और गङ्गा के दक्षिण अर्थात् दोनों के अन्तरालवर्ती देशों में ही त्याज्य कहा गया है। यथा सामान्य वचन-

"उद्यान-चूडा-व्रतबन्ध-दीक्षा—विवाह-यात्राश्च वधूप्रवेशम् ।
तडागकूपत्रिदशप्रतिष्ठां बृहस्पतौ सिंहगते न कुर्यात् ।"

यहाँ अनेक आर्ष वचनों के आधार पर "सिंह" शब्द सिंह के नवमांश का ही बोधक है। जैसे, किसी का विवाह मधुबनी में हुआ। चलते समय वर को विदाई में कुछ कमी हुई तो पिता ने असन्तुष्ट होकर पुत्र से कहा कि वहाँ विदाई में न्यूनता रही; अतः तुम फिर मधुबनी नहीं जाना। यहाँ मधुबनी शब्द से उसके श्वसुर के घर का ही निषेध बोध होता है, समस्त मधुबनी का नहीं। यथा विज्ञजन बड़े से बड़े वाक्य को थोड़े शब्द में (सूत्ररूप) में कहते हैं, अल्पज्ञ जनों के लिये उसका विस्तृत भाष्य किया जाता है। जैसे--प्रयान्ति पितरः स्वर्गं गयायां पिण्डदानतः।" यहाँ 'गया' शब्द से गया नगरनिकटस्थ फल्गु नदी का ही बोध होता है; समस्त गया जनपद अथवा गया नगर का नहीं। क्योंकि पुराणों में गया प्रदेशान्तर्गत फल्गु नदी में ही पिण्डदान करने का आदेश है। अथवा—सर्वविज्ञविदित "गङ्गायां घोषः" इस वाक्य में गङ्गा शब्द से गङ्गा सन्निकट तीर का ही बोध होता है, गङ्गा के प्रवाह का नहीं।

इसी प्रकार 'सिंहस्थ' शब्द से सिंहराशिगत त्याज्य अंश (सिंह नवमांश) का ही ग्रहण करना सर्वमुनिसम्मत है।

तथा ३०° अंश के सिह राशि प्रदेश में समान नव भागों में आरम्भ से ४ भाग मे० वृ० मि० और कर्क के हैं। केवल ५ वाँ भाग सिंह का है। आगे के ४ भाग क्रम से कन्या, तुला, वृश्चिक और धनुके (भाग) हैं। यह ज्योतिष का प्रारम्भिक विद्यार्थी भी जानता है। अतः सर्व विदित मुहूर्तचिन्तामणि में कहा भी है--

"सिंहे गुरौ सिंहलवे विवाहो नेष्टोऽथ गोदोत्तरतश्च यावत्।
भागीरथीयाम्यतटं हि दोषो नान्यत्र देशे तपनेऽपि मेषे ॥"

अर्थात् सिह राशि में गुरु जब सिंह के नवमांश में हो तो गोदावरी के उत्तर और गङ्गा के दक्षिण-बीच के देश में त्याज्य है, अन्य देश में नहीं।

विशेष-यह भी है कि जब सूर्य मेष में हो तो गङ्गा-गोदावरी के अन्तराल देश में भी दोष नहीं है। किसी ने 'सिंह' शब्द से समस्त सिंह मान लिया और आग्रहवश वैसा वचन भी बना लिया। वह अनेक विशेष आर्षवचनों से विरुद्ध होने के कारण अमान्य है। तथा सामान्य शास्त्र से विशेष को ही प्रमाण माना जाता है। यथा वृद्धगर्ग—

"भागीरथ्युत्तरे तीरे गोदाया दक्षिणे तथा।
विवाहो व्रतबन्धो वा सिंहस्थेऽज्ये न दुष्यति ॥"

इत्यादि अनेक वचन हैं।

मेष राशि के रवि में किसी भी देश में सिंहस्थ गुरु त्याज्य नहीं है। यथा वसिष्ठ—

"करस्य ग्रहणं कार्यं सिंहस्थो वाक्पतिर्यदा।
भानौ मेषगते शस्तमित्याहुः शौनकादयः ॥"

तथा शौनकीय पटल में—

"वरलाभातिकालाभ्यां दुर्भिक्षाद्देशविप्लवात्।
विवाहः शुभदो नित्यं सिंहस्थेऽपि बृहस्पतौ ॥"

जब सुयोग्य वर मिल जाय, कन्या का विवाह समय प्राप्त हो जाय अथवा बीत जाय, देश में उपद्रव या दुर्भिक्ष का सङ्कट हो तो सर्वदा सिंहस्थ (सिंहांशस्थ) गुरु में भी विवाह शुभप्रद होता है।

इतने स्पष्ट आर्षवचनों के प्रमाण रहते हुए भी जो समस्त सिंहस्थ सदा ही त्याज्य कहते अथवा मानते हैं, वे शास्त्र-तत्त्व को न समझकर अपनी अज्ञता ही प्रकट करते हैं। अतः ऐसे पण्डितमानी जनों से जनता को सावधान रहना चाहिये।

इति सिंहस्थगुरुनिर्णय

—०—

अथ मकरस्थगुरुनिर्णयः ।

सिंह राशि—सिंहांशगत मात्र गुरु त्याज्य कहे गये हैं। वह भी गङ्गा-गोदावरी के मध्यवर्ती देश में ही। किसी के मत से कलिंग, गौड और गुर्जर देश में भी त्याज्य कहे गये हैं।

परञ्च मकरस्थ गुरु तो विशिष्ट आर्षवचनों से किसी देश में भी त्याज्य नहीं है। किसी के मत से मकर में मकर नवांश ३ अंश २० कला पर्यन्त त्याज्य कहे गये हैं। किसी के मत से केवल नीचांश (पञ्चम अंश) मात्र ही त्याज्य कहा गया है; वह भी मगध, सिन्धु, गौड और कोङ्कण देश भर में ही, अन्य देश में नहीं। यथा—

"वाक्पतौ मकरराशिमुपेते पाणिपीडनविधिर्न विधेयः ।
तत्र दूषणमुशन्ति मुनीन्द्राः केवलं परमनीचनवांशे ॥"

अर्थात् मकर राशि में गुरु के रहने पर जो शुभ कर्म त्याज्य कहे गये हैं, वह सर्वमान्य मुनियों के मत से परम नीच नवांश में ही। यहाँ कोई 'परम नीच नवांश' शब्द से 'पञ्चम अंश से आगे और पीछे मिलाकर, ३ अंश २० कला' ग्रहण करते हैं। कोई 'आरम्भ से मकर के नवमांश ३ अंश २० कला पर्यन्त' ग्रहण करते हैं। कोई 'केवल ५ वाँ अंश मात्र', वह भी देश-विशेष में ही। यथा—

"मागधे सिन्धुदेशे च गौडदेशे च कोङ्कणे ।
नीचादिस्थो गुरुर्वर्ज्यो नान्यदेशे कदाचन ॥"

मगह, सिन्धु, गौड और कोङ्कण देश में ही मकर और सिंहस्थ गुरु वर्ज्य है, अन्य देश में नहीं।

अन्य वचन—

"नीचस्थो वा गुरुर्वक्री वर्ज्यो वै मागधे जने ।
अन्यदेशे शुभं प्राहुर्वसिष्ठात्रि-पराशराः ॥"

अर्थ स्पष्ट है। तथा देवी पुराण—

"मकरस्थो यदा जीवो वर्जयेत् पञ्चमांशकम्।
शेषेष्वपि तु भागेषु विवाहः शोभनो मतः॥"

यहाँ केवल ५ पञ्चम अंश मात्र त्याज्य कहा गया है।

"नीचराशिगतो जीवः प्रशस्तः सर्वकर्मसु।
नीचांशकगतस्त्याज्यो यस्माद्दंशेषु नीचता॥"

अर्थ स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार किसी ने मकर में आरम्भ से ३ अंश २० कला, किसी ने केवल ५ वाँ अँशमात्र त्याज्य कहा है। तथा किसी ने तो मकर के गुरु को किसी भी देश के लिए, किसी भी अंश में दोष नहीं कहा है।

यथा—(भीम पराक्रम)—

"वापीकूपतडागादि निषिद्धं सिंहगे गुरौ।
मकरस्थे तु कर्तव्यं न दोषः काललोपजः॥"

अर्थ स्पष्ट है।

इस प्रकार अनेक वचनों को देखकर किसी ने आरम्भ से ५ अंश पर्यन्त-स्थित गुरु को त्याज्य माना। और गुरु की मध्य गति (५ कला) से १ अंश में १२ दिन लगता है, अतः ५ अंश में ६० दिन त्याज्य कहा है। यथा—

"मृगराशिगते जीवे दिनषष्टिं विवर्जयेत्।
गर्गादिमुनिवाक्यत्वात् कर्तव्यं शुभमन्यतः॥"

अर्थ स्पष्ट है।

टोडरानन्द में तो मकर में गुरु के प्रवेश से केवल एक मास त्याज्य कहा है। यथा—

"अतिचारे सप्तदिनं वक्रे द्वादशमेव हि।
नीचस्थिते तु वागीशे मासमेकं विवर्जयेत्॥"

इन सब वचनों से जिस देश में त्याज्य कहा गया है वहाँ अधिक से अधिक दो मास ही त्याज्य सिद्ध होता है।

इसलिए विज्ञ जन का कर्तव्य है कि अपनी अनुकूलता के अनुसार विवाहादि शुभ कार्य सम्पन्न करें।

इति मकरस्थ गुरुनिर्णय

—०—

अथ गुरुशुक्रास्तदोषनिर्णयः

अस्तलक्षण—

"लुप्तांशुः सूर्यसान्निध्यात् खेटोऽस्त इति कथ्यते।
क्षीणो वृद्धस्ततः पूर्वं पश्चात् क्षीणस्तु बालकः॥"

सूर्य के समीप होने के कारण लुप्तकिरण होने से ग्रह 'अस्त' कहलाता है। तथा अस्त से पूर्व क्षीण रश्मि 'वृद्ध', एवं अस्त के बाद (उदय होने पर) क्षीणरश्मि 'बाल' कहलाता है।

"वार्धकेऽस्ते तथा बाल्ये समये गुरु-शुक्रयोः।
व्रत-यज्ञ-विवाहादि मंगलं परिवर्जयेत्॥"

गुरु-शुक्र के वार्धक्य, बाल्य और अस्त के समय में उपनयन, यज्ञ, विवाह (वधू प्रवेश, द्विरागमन) आदि मङ्गलकार्यों का परित्याग करना चाहिए।

गुरु-शुक्र के बाल्य-वार्धक्य में मुनियों के मत—

"पुरः पश्चाद्भृगोर्बाल्यं त्रिदशाहं च वार्धकम्।
पक्षं पञ्च दिनं ते द्वे गुरोः पक्षमुदाहृते॥"

(शुक्र के पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में उदय और अस्त होते हैं। किन्तु गुरु का केवल पश्चिम दिशा में अस्त और पूर्व में उदय होता है।) शुक्र के पूर्व दिशा में उदय होने के बाद ३ दिन तथा पश्चिम में उदय होने के बाद १० दिन बाल्य रहता है। पूर्व दिशा में अस्त होने के पूर्व १५ दिन तथा पश्चिमास्त से पहिले ५ दिन वार्धक्य रहता है।

एवं गुरु के अस्त से पहिले १५ दिन वार्धक्य और उदय से आगे १५ दिन बाल्य रहता है।

अन्य मुनियों के मत—

"ते दशाहं द्वयोः प्रोक्त कैश्चित् सप्तदिनं परैः।
त्र्यहं त्वात्ययिकेऽप्यन्यैरर्धाहं च द्व्यहं विधोः ॥"

कुछ ऋषियों ने गुरु और शुक्र—दोनों के १० दिन बाल्य और १० दिन वार्धक्य कहे हैं। कुछ मुनियों ने दोनों के ७ दिन बाल्य और ७ दिन वार्धक्य कहे हैं। बहुत से लोगों ने तो आवश्यक कार्यों में केवल ३ दिन बाल्य और ३ दिन वार्धक्य बतलाये हैं। एवं चन्द्रमा के उदय (दर्शान्त) के बाद आधा दिन (शुक्ल प्रतिपदार्ध) तक बाल्य और दर्शान्त से पूर्व २ दिन (अमावास्या तथा कृष्ण चतुर्दशी) तक वार्धक्य रहता है।

संहिताप्रदीप में—

"स्यात् सप्तरात्रं गुरुशुक्रयोश्च बालत्वमह्नां दशकं च वार्धम्।
वृद्धौ सितेज्यावशुभौ, शिशुत्वे शस्तौ यतस्तावुपचीयमानौ ॥"

दोनों के ७ दिन बाल्य और १० दिन वार्धक्य रहते हैं। वार्धकत्व में तो दोनों अशुभ होते हैं, किन्तु बाल्य में वे उदय के बाद से ही प्रशस्त होते हैं क्योंकि वे दोनों उपचीयमान (वर्धिष्णु) रहते हैं।

विशेष—

"गुरु-शुक्र-शशाङ्केषु त्रिषु वाऽप्युदिते द्वये।
कार्यं बुधैः शुभं कर्म त्रिष्वस्तेषु परित्यजेत् ॥"

गुरु, शुक्र और चन्द्र—ये तीनों अथवा इनमें दो उदित हों तो शुभ कर्म करना चाहिये और जब तीनों अस्त हों तो त्याग देना चाहिये।

तथा—

"कृष्णे पुष्टतनौ चन्द्रे शुक्ले क्षीणकरेऽपि च।
कार्यं कर्म शुभं चास्तेऽप्येकस्मिन् गुरु-शुक्रयोः ॥"

कृष्णपक्ष में सप्तमी पर्यन्त और शुक्लपक्ष में द्वितीया से पूर्णिमा पर्यन्त यदि गुरु और शुक्र में केवल एक अस्त हो तो शुभ कर्म कर लेना चाहिये।

तथा च—

"पुष्टेष्विन्द्वीज्य-शुक्रेषु नष्टयोः शनि-भौमयोः।
सुकर्मार्हः शुभः कालो ह्यनर्हस्त्वन्यथा भवेत् ॥"

जिस समय में चन्द्र, गुरु, शुक्र—ये तीनों पुष्टरश्मि हों और शनि तथा मङ्गल-ये नष्ट (अस्त, क्षीण किरण) हों तो वह समय अत्यन्त शुभ होता है। यदि इससे विपरीत हो (अर्थात् मङ्गल-शनि ये पुष्ट हों और गुरु, शुक्र, चन्द्र--ये तीनों अस्त हों) तो वह समय अत्यन्त अशुद्ध होता है। बुध के उदासीन रश्मि होने के कारण उसका प्रभाव समय पर नहीं पड़ता है, तथापि उपनयनादि कार्यों में किसी ने उसके उदय-अस्त का भी विचार किया है।

एवं—सूर्य आदि सात ग्रहों की रश्मि से ही वायु शुद्ध-अशुद्ध होकर, समय को शुद्ध-अशुद्ध बनाता रहता है। अतः समय के तीन भेद (शुद्ध, मध्यम, अधम) होते रहते हैं। शुद्ध और मध्यम समय में शुभ कार्य करने का आदेश है किन्तु सर्वथा शुद्ध समय मिलना असम्भव रहता है, इसलिए अधिकांश शुद्ध अथवा मध्यम समय में शुभ कार्य करने तथा अधिकांश अशुद्ध हो तो उस समय में शुभ कार्य के त्याग करने का आदेश है। समय के शुद्ध और अशुद्ध होने में मुख्य हेतु दिखलाये ाते हैंज। यथा--

शुद्ध हेतु	अशुद्ध हेतु
१ उदित गुरु	१ अस्त गुरु
२ उदित शुक्र	२ अस्त शुक्र
३ पुष्ट चन्द्र	३ अस्त चन्द्र
४ गुरु शुद्धचार	४ गुरु अतीचार
५ सिंह-मकरेतर राशिस्थ गुरु	५ सिंह-मकर राश्यंशस्थ गुरु

इनसे अतिरिक्त तिथि, वार, नक्षत्रादि के योग से शुभ और अशुभ योग होते हैं--जो शुभाशुभयोग कथन में दिखाये गये हैं।

ऊपर दर्शित ५ शुद्ध हेतु में ३ या अधिक शुद्ध हों तो समय शुद्ध माना जाता है। कहा भी है--

"अयोगश्च सुयोगश्च द्वावेतौ भवतो यदि।
अयोगो हन्यते तत्र सुयोगश्च प्रवर्तते ॥"

स्पष्टार्थ।

मुहूर्तचिन्तामणि--

"अयोगे सुयोगोऽपि चेत् स्यात् तदानी—
मयोगं निहत्यैष सिद्धिं तनोति।
परे लग्नशुद्ध्या कुयोगादिनाशं
दिनार्धोत्तरं विष्टिपूर्वं च शस्तम् ॥"

यदि किसी विषय में अयोग और सुयोग--दोनों हो तो अयोग नष्ट हो जाता है, वहाँ सुयोग का ही शुभ फल होता है। बहुत से महर्षियों का मत है कि यदि लग्न की शुद्धि हो तो समस्त अशुभ योगों का नाश हो जाता है।

कारण यह है कि समय के जो पाँच मुख्य अङ्ग (वर्ष, मास, तिथि, लग्न और मुहूर्त) हैं--इनमें उत्तरोत्तर अधिक बल होता है। अतः लग्न

की शुद्धि से वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र, वारादि सम्बन्धी जितने कुयोग हैं सब नष्ट होकर सर्वथा समय शुद्ध हो जाता है। अतः लग्न की प्रशंसा—(लल्लाचार्य)—

"न तिथिर्न च नक्षत्रं न योगो नैन्दवं बलम्।
लग्नमेव प्रशंसन्ति गर्ग-नारद-कश्यपाः॥"

अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि में गर्ग-नारद-कश्यपादि महर्षियों ने, तिथि नक्षत्रादि को महत्त्व न देकर, केवल लग्न की प्रशंसा की है। तथा-

"लग्नं जीवो मनश्चन्द्रः शरीरं तिथि-भादिकम्।
पुष्टे जीवेऽखिलं पुष्टं नष्टे नष्टं विदुर्बुधाः॥"

किसी भी कार्य का लग्न जीव, चन्द्रमा मन, तिथि-नक्षत्रादि अन्य विषय शरीर हैं। जीव के पुष्ट रहने से सब पुष्ट और नष्ट होने से सब नष्ट हो जाते हैं। तथा—

"यथा जन्मलग्नाच्छुभं वाऽशुभं वा
फलं ज्ञायते तद्वदेव प्रकल्प्यम्।
सदा सर्वकार्ये बुधैर्लग्नवीर्यं
विचिन्त्यं, विना तेन कार्यं न किञ्चित्॥"

जैसे जन्मलग्न से जन्तुओं के शुभ अथवा अशुभ फल जाने जाते हैं उसी प्रकार किसी भी कार्य के आरम्भकालिक लग्न से शुभ अथवा अशुभ फल समझा जाता है। अतः सर्वदा लग्न बल देखकर ही किसी कार्य को प्रारम्भ करना चाहिए।

विशेष—लग्न दो प्रकार होते हैं, एक दृष्टफलार्थ (सिद्धान्तग्रन्थ-प्रतिपादित) क्रान्तिवृत्तीय, दूसरा अदृष्टफलार्थ (आर्षसंहितादि प्रतिपादित) कालवृत्तीय भावलग्न। इसका विस्तृत वर्णन "लग्नविवेक" नामक ग्रंथ में देखिये। जन्म विवाहादि में आर्षलग्न का ही ग्रहण करने का आदेश है।

सर्वदोषनिवारक लग्नशुद्धि--

"व्ययाष्ट-शुद्धोपचये लग्नगे शुभदृग्युते ।
चन्द्रे त्रि-षड्दशायस्थे सर्वारम्भः प्रसिद्ध्यति ॥"

अपनी-अपनी जन्मराशि से ३, ६, १०, ११ वीं राशि लग्न हो और लग्न से ८, १२ वें स्थान में कोई ग्रह नहीं हो, तथा लग्न पर शुभ ग्रहों की दृष्टि अथवा योग हो, चन्द्रमा ३, ६, १०, ११ में हो तो उस समय में जन्म, यात्रा, अथवा विवाहादि कार्य के आरम्भ करने से निश्चित रूप से शुभ फल ही होते हैं ।

"त्रि-षट्-खायर्क्षकं श्रेष्ठं निन्द्यं द्वादशमष्टमम् ।
जन्मभादन्यलग्नानि मध्यमानि विदुर्बुधाः ॥"

अपनी जन्मराशि से ३, ६, १०, ११ वीं राशि श्रेष्ठ; ८, १२ वीं नेष्ट; और अन्य राशि लग्न में मध्यम होती है ।

इति लग्नशुद्धिः ।

--०--

अथ मुहूर्तशुद्धिः

मुहूर्तशुद्धि—

"पलषष्टिर्घटी प्रोक्ता मुहूर्तो घटिकाद्वयम् ।
तत् त्रिंशता त्वहोरात्रमानं विज्ञैः प्रकीर्तितम् ॥"

तथा--

"गुर्वक्षरैः खेन्दुमितैरसुस्तैः षड्भिः पलं तैर्घटिका ख-षड्भिः ।
द्वाभ्यां घटीभ्यां च भवेन्मुहूर्तस्तैस्त्रिंशता स्याद्दिनरात्रिमानम् ॥"

अर्थात् १० गुरु अक्षर (आ) का उच्चारण काल, असु (प्राण) ६ प्राण का एक पल, ६० पल की १ घड़ी, २ घड़ी का १ मुहूर्त का अहोरात्र होता है ।

अधिकांश व्यक्ति भ्रम किंवा प्रमाद से दिनमान का १५ पञ्चदशांश बनाकर, मुहूर्त मानने लगे—वही अन्धपरम्परा बन गयी। धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने कालगति न समझने के कारण दिनमान के पञ्चदशांश मुहूर्त मानकर कुतुप और रौहिण आदि मुहूर्त का विवेचन किया है जो प्रत्यक्ष असङ्गत है। क्योंकि पृथ्वी पर तो कहीं दिनमान १५ घड़ीमात्र, कहीं १ घड़ीमात्र भी हो जाता है, वहाँ क्या व्यवस्था होगी? और तब तो घड़ी को भी दिनमान का त्रिंशांश मानना होगा!!! अतः सदा सर्वत्र मुहूर्त का मान दो घड़ी ही ग्रहण करना चाहिए।

जिस मुहूर्त में जो कार्य कहा गया है, उस मुहूर्त में अस्तादि दोष रहने पर भी समय शुद्ध रहता है। विशेष विवरण 'नक्षत्र विवेक' में देखिये।

इति मुहूर्तशुद्धि।

—०—

अथ गुर्वादित्यविचारः।

गुर्वादित्य—

"एकराशिगतौ स्यातां देवाचार्य-दिनेश्वरौ।
गुर्वादित्यः स विज्ञेयः स तु गुर्वस्तवत् स्मृतः॥"

किसी एक राशि में जब तक गुरु और सूर्य हो वह गुर्वादित्य कहलाता है। वह भी गुरु के अस्त के समान ही त्याज्य है।

विशेष - बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि जब सूर्य और गुरु एक राशि में रहते हैं तो गुरु अस्त रहता है। जब गुर्वादित्य दोष त्याज्य कहा गया तो इसी से 'अस्त' भी त्याज्य हो गया। तब पुनः पृथक् उसका उल्लेख क्यों किया गया?

उत्तर—सूर्याश्रित राशि में गुरु के रहने से सर्वदा अस्त नहीं होता है। अस्त तभी होता है जब सूर्य से ११ कालवृत्तीय अंश आगे और पीछे (बीच में) रहता है। वह भिन्न राशि में भी हो

सकता है। जैसे, मेषान्त भाग २८, अथवा २९ अंश में सूर्य हो और वृष के आदि ५ अंश के भीतर गुरु हो तो, कालांश के भीतर होने से पृथक् राशि में भी अस्त हो जायगा। तथा एक राशि में भी ११ कालांश से अधिक अन्तर पर रहेगा तो अस्त नहीं होगा, किन्तु गुर्वादित्य दोष होगा।

विश्वघस्रपक्ष—कदाचित् स्पष्ट चन्द्र गतिवश एक पक्ष में २ तिथि के लोप होने से विश्वघस्र पक्ष कहलाता है। वह पक्ष भी त्याज्य है।

इति गुर्वादित्यविचार।

अथ ग्रहण-संक्रान्तिशुद्धिः।

"पूर्वं मध्ये परस्ताच्च ग्रहणे दिनसप्तकम्।
शुभे कार्ये त्यजेत् सूर्य-संक्रमे च दिनत्रयम्॥"

सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण में पूर्व के ३ दिन, मध्य का १ दिन और पीछे के ३ दिन; तथा सूर्य की संक्रान्ति में ३ दिन (१ दिन पूर्व, १ दिन पश्चात् तथा संक्रान्ति दिन) शुभ कार्य में त्याज्य कहे गये हैं।

विशेष—**"ग्रस्तोदये च ग्रस्तास्ते पश्चात् पूर्वं दिनत्रयम्।**
अन्यत्र ग्रहणे पूर्वं पश्चात् त्रि-त्रिदिनं त्यजेत्॥"

यदि ग्रहण लगे हुए उदय हो तो बाद के ३ दिन, और ग्रहण लगे हुए अस्त हो तो पूर्व के ३ दिन त्याज्य हैं। उदयास्त से भिन्न समय में ग्रहण तो पूर्व और पश्चात् ३, ३ दिन त्याग करना चाहिये।

संक्रान्ति में विशेषता—

एक राशि को छोड़कर अग्रिम राशि में प्रवेश करना ही ग्रहों की संक्रान्ति कहलाती है। यद्यपि सूर्यादि सातों ग्रहों की संक्रान्ति से काल अशुद्ध होता है; किन्तु शुभ कार्य में केवल सूर्य की संक्रान्ति से ही दूषित समय को ही त्याज्य कहा गया है। यथा मुहूर्तचिन्तामणि—

"देव-द्व्यङ्कर्तवोऽष्टाष्टौ नाड्योऽङ्काः खनृपाः क्रमात् ।
वर्ज्याः संक्रमणेऽर्कादेः प्रायोऽर्कस्याति-निन्दिताः ॥"

सूर्य की संक्रान्ति में ३३ घड़ी (१६ पूर्व, १६ बाद और मध्य की १ घड़ी), चन्द्रमा की २ घड़ी, मङ्गल की ९, बुध की ६, गुरु की ८८ घड़ी, शुक्र की ९ तथा शनि संक्रान्ति में १६० घड़ी अशुद्ध होती है। इनमें सूर्य की संक्रान्ति ही शुभ कार्य में त्याज्य कही गयी है।

इसमें भी विशेषता—

"विषुवायनेषु पर-पूर्व-मध्यमान्-
दिवसान् त्यजेदितरसंक्रमेषु तु ।
घटिकास्तु षोडश शुभक्रियाविधौ
परतश्च पूर्वमपि संत्यजेद् बुधः ॥"

विषुव (मेष, तुला), अयन (कर्क, मकर) की संक्रान्ति में पूर्व पर और मध्य अर्थात् ३ दिन त्याज्य है। अन्य संक्रान्ति में संक्रान्तिकाल से १६ घड़ी पूर्व और १६ घड़ी मात्र बाद में त्याज्य है। उससे आगे और पीछे का समय शुद्ध समझा जाता है।

इसके अतिरिक्त आकस्मिक उत्पातों (भूकम्प, केतु 'पुच्छलतारा' का उदय, अकाल वृष्टि आदि) से भी समय अशुद्ध समझा जाता है'।

उनमें त्याज्य दिन संख्या—(गर्ग)

"दिग्दाहे दिनमेकं तु ग्रहणे दिनसप्तकम् ।
भूकम्पे च समुत्पन्ने त्र्यहमेव विवर्जयेत् ॥
उल्कापाते त्रिदिवसं धूमे पञ्चदिनानि तु ।
वज्रपाते चैकदिनं वर्जयेच्छुभकर्मसु ॥"

दिग्दाह (बिना अग्नि, सूर्य और चन्द्र के दिशाओं में श्वेत, पीत, रक्तवर्ण के प्रकाश) होने में १ दिन, ग्रहण में ७ दिन, भूकम्प में ३ दिन,

तारा टूटने पर ३ दिन, धूमकेतु के उदय होने पर ५ दिन, वज्रपात (बिजली गिरने) पर १ दिन शुभ कार्य में त्याज्य है।

मतान्तर:—

"उल्कापातेन्द्रचाप-प्रबलघनरवो धूमनिर्घातविद्युद्-
वृष्टि-प्रत्यर्कदोषादिषु सकलबुधैस्त्याज्यमेवैकरात्रम्।
दुःस्वप्ने दुर्निमित्ते ह्यशुभफलदृशो दुर्मनो भ्रान्तबुद्धौ
चौले मौञ्जीनिबन्धे परिणयनविधौ त्याज्यमेकं दिनं च॥"

उल्कापात, इन्द्रधनुष, मेघ के अत्यन्त कठोर शब्द होने पर, धूम (असमय का वाष्प), वज्रपात के साथ विद्युत्, अकाल वृष्टि, प्रति सूर्य (एक सूर्य में दो के भान होने) इत्यादि दोष देखने में आवे तो उस दिन को शुभ कार्य में छोड़ देना चाहिये। दुःस्वप्न, असगुन, अशुभ वस्तुओं का दर्शन, मनःपूत न होने, बुद्धि में भ्रम होने से शुभ कर्मका त्याग करना चाहिये। चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह में एक दिन त्याज्य है।

अकालवृष्टि—

"पौषादि चतुरो मासान् ज्ञेया वृष्टिरकालजा।
तत्र भूमौ जलार्द्रायां दोषो भवति नान्यथा॥"

पौषादि ४ मास (पौष से चैत्र) तक वर्षा होने से अकाल वृष्टि कहलाती है। इसमें जब तक पृथ्वी जल से आर्द्र न हो तब तक दोष नहीं। जब पृथ्वी पर जल बहने लगे तभी दोष होता है।

एकदेशीय अशुद्धिहेतु--

"नृपो वा नृपमन्त्री वा यतिर्वा संयतेन्द्रियः।
पुरोहितोऽथवा विद्वान् दैवज्ञो वा महान् मृतः॥
यज्वा वा वेदविद्वान् वा भिषग् वा नृपसेवकः।
देशे ग्रामे मृतस्तत्र सप्ताहं वर्जयेच्छुभम्॥"

जिस देश या ग्राम में राजा, अथवा राजमंत्री, जितेन्द्रिय, योगी, पुरोहित, अथवा महापण्डित, त्रिस्कन्ध ज्यौतिषवेत्ता दैवज्ञ, अग्निहोत्री वेदार्थविज्ञ, आयुर्वेदज्ञाता वैद्य तथा विशिष्ट राजकर्मचारीका मरण हो वहाँ एक सप्ताह तक शुभ कर्म का त्याग कर देना चाहिये।

व्यक्तिगत—

जनकस्य मृतौ वर्षं जनन्याश्च तदर्धकम्।
कुले त्रिपूरुषे मासं कस्यचिन्मरणे त्यजेत्॥
नियमोऽयं द्विजातीनां शुभे कार्ये प्रकीर्तितः।
सर्वो वर्णोऽथ वा स्वस्वमशौचसमयं त्यजेत्॥"

पिता के मरणान्तर १ वर्ष, माता की मृत्यु के पश्चात् ६ मास, और अपने कुल में तीन पुरुष (पीढ़ी) के भीतर कोई मर जाय तो १ मास तक विवाहादि शुभ कार्य का त्याग करे। यह नियम द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये है। अथवा जिस वर्ण के लिए जितना अशौच समय कहा गया है, उतने समय तक विवाहादि शुभ कार्य वर्जित करना चाहिये।

शुभ कार्य में त्याज्य वर्ष आदि कालसन्धिनिरूपण

वर्ष सन्धि (वसिष्ठसंहिता)—

"अब्दास्तु त्रिविधा जैव-सौर-चान्द्राह्वयाः स्मृताः।
तेषामादौ तथा चान्ते त्रिदिनं वर्जयेच्छुभम्॥"

पूर्व जो बार्हस्पत्य, सौर और चान्द्र—ये तीन प्रकार के वर्ष कहे गये हैं, उनमें पूर्व के अन्त और अग्रिम के आदि (सन्धि) में तीन-तीन दिन शुभ कार्य में त्याज्य हैं। यह जिस देश में, जिस वर्ष का व्यवहार हो, उस देश में, केवल उसी वर्ष की सन्धि त्याज्य है।

अयन, ऋतु और मास सन्धि के दोष संक्रान्ति दोष में कहे गये हैं।

तिथि सन्धि (त्रिविक्रम)—

"पूर्णा-नन्दाख्ययोस्तिथ्योः सन्धिर्नाडीद्वयं त्विदम् ।
गण्डान्तं मृत्युदं जन्म-यात्रोद्वाह-व्रतादिषु ॥"

पूर्णा (५, १०, १५) तिथियों के अन्त और नन्दा (६, ११, १) के आदि—ये तिथि-सन्धि (गण्डान्त) कहलाते हैं । यह जन्म, यात्रा, विवाह और उपनयन में मरणप्रद कहा गया है ।

नक्षत्र सन्धि—

"पौष्णाश्विन्योः सार्प-पित्र्यर्क्षयोश्च
यच्च ज्येष्ठा-मूलयोरन्तरालम् ।
तद्गण्डान्तं चतुर्नाडिकं हि
यात्रा-जन्मोद्वाह-कालेष्वनिष्टम् ॥"

रेवती के अन्त और अश्विनी के आदि (दोनों की सन्धि) में ४ घड़ी; एवं आश्लेषा के अन्त और मघा के आदि में ४ घड़ी; तथा ज्येष्ठा के अन्त और मूल के आदि (सन्धि) में ४ घड़ी—ये नक्षत्र-गण्डान्त कहलाते हैं, जो जन्म, यात्रा तथा विवाहादि शुभ कार्य में त्याज्य हैं ।

लग्नसन्धि (गण्डान्त)—

"मीनाऽजयोः कर्क-हर्योरलि-कार्मुकयोस्तथा ।
द्वयोर्द्वयोर्लग्नयोश्च सन्धौ घट्यर्धकं त्यजेत् ॥"

मीन लग्न के अन्त और मेष के आदि (सन्धि) में आधी घड़ी एवं कर्क-सिंह लग्न की सन्धि में तथा वृश्चिक और धनु लग्न की सन्धि में भी केवल आधी घड़ी गण्डान्त होता है, जो शुभ कार्य में त्याज्य कहा गया है ।

यहाँ अदृष्टफलार्थ आर्षपद्धतिसिद्ध ही लग्न लेना चाहिये जिसमें सर्वत्र सब राशियों के लग्नोदय मान ५,५ घड़ी तुल्य ही माने गये हैं ।

जो कोई प्रमादवश अन्धपरम्परा स्वोदयसिद्ध लग्न मान लेते हैं, वे प्रत्यक्ष असङ्गत होने के कारण शास्त्र-मर्यादा की अवहेलना करते हैं; क्योंकि स्वोदय प्रत्येक स्थान में भिन्न-भिन्न होते हैं। कहीं लग्न का मान १ घड़ी और कहीं आधी घड़ी ही होती है। तो वहाँ क्या गति होगी ? अतः विज्ञजन अब भी विवेक से धर्मविघातक अन्धपरम्परा का त्याग कर, महर्षिजनोक्त भू-केन्द्रीय तुल्योदय मान सिद्ध लग्न लेकर शास्त्र-मर्यादा की रक्षा करें।

आद्य गर्भ वर-कन्या के विवाह में त्याज्य मास

वराह—"**ज्येष्ठद्वयं मध्यमं स्यादेकं ज्येष्ठं सुखावहम्।**
ज्येष्ठत्रयं न कर्तव्यं मास-नारी-नृणां बुधैः॥"

विवाह में मास, कन्या और वर—इन तीनों में दो ज्येष्ठ मध्यम और एक ज्येष्ठ शुभ होता है। तीनों ज्येष्ठ नहीं होना चाहिये।

मिहिर—"**ज्येष्ठस्य ज्येष्ठकन्याया विवाहो नैव शस्यते।**
तयोरेकतरे ज्येष्ठे ज्येष्ठो मासः शुभप्रदः॥"

ज्येष्ठ मास में ज्येष्ठ वर-कन्या का विवाह जो निन्द्य कहा गया है— वह वर और कन्या दोनों ज्येष्ठ हों तभी; वर और कन्या में एक ज्येष्ठ हो तो ज्येष्ठ मास प्रशस्त ही समझना चाहिये।

गर्ग—"**ज्येष्ठमासे तथा मार्गे क्षौरं परिणयं व्रतम्।**
ज्येष्ठपुत्र-दुहित्रोश्च यत्नतः परिवर्जयेत्॥"

ज्येष्ठ मास अथवा मार्गशीर्ष में ज्येष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ कन्या का चूडाकरण, विवाह और उपनयन यत्न से वर्जित करना चाहिये।

यहाँ "यत्न" शब्द ***विचारार्थक*** है। अर्थात् कुल, देश तथा जाति आदि का विचार करके चूडाकरण, विवाह एवं उपनयन करना चाहिये। क्योंकि बहुत से कुलों, देशों और जातियों में इसका विचार नहीं किया जाता है।

बहुत से शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ जन 'यत्न' का अर्थ 'सब प्रकार के

उद्योग' समझते हैं जो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि त्याग करने में यत्न का प्रयोजन ही नहीं होता है।

"ज्येष्ठद्वन्द्वं मध्यमं सम्प्रदिष्टं,
त्रिज्येष्ठं चेन्नैव युक्तं कदापि।
केचित् सूर्यं वह्निगं प्रोज्झ्य चाहु-
र्नैवान्योऽन्यं ज्येष्ठयोः स्याद्विवाहः॥" मु० चि०

वर, कन्या और ज्येष्ठ मास—इन तीनों में २ ज्येष्ठ हों तो विवाह मध्यम होता है। तीनों ज्येष्ठ हों तभी अशुभ समझना। बहुत-से आचार्यों ने ज्येष्ठ (वृष संक्रान्ति के प्रवृत्त सौर) मास में केवल कृत्तिका नक्षत्र स्थित (अर्थात् कृत्तिका के २,३,४ चरण स्थित) सूर्य त्याज्य कहा है; शेष रोहिणी, मृगशिरार्ध तक सूर्य में विवाह शुभ ही होता है। तथा कितने आचार्यों का मत है कि किसी भी मास में आद्यगर्भ के वर और कन्या का विवाह शुभ नहीं होता है।

यहाँ "विवाहादौ स्मृतः सौरः" इस वचन से ज्येष्ठ मास सौर मान से ही ग्राह्य है। अतः वृषार्क संक्रान्ति से सौर दिन (सूर्यांश) दशतक ही कृत्तिकास्थ सूर्य रहता है। इसलिए भरद्वाज का वचन—

"ज्येष्ठे ज्येष्ठस्य कुर्वीत भास्करे त्वनलस्थिते।
विवाहादीनि कार्याणि दिग्दिनानि विवर्जयेत्॥"

ज्येष्ठ मास में, केवल कृत्तिकास्थित सूर्य में १० दिन छोड़कर, ज्येष्ठ वर और ज्येष्ठ कन्या का विवाहादि मङ्गल कार्य करना चाहिये।

विवाहादि कार्य में जन्म मास भी त्याज्य है। यथा—

"व्रतबन्धं विवाहं च मुण्डनं कर्णवेधनम्।
ज्येष्ठपुत्र-दुहित्रोश्च जन्ममासे न कारयेत्॥"

ज्येष्ठ बालक के मुण्डन, कर्णवेध, उपनयन एवं ज्येष्ठ वर-कन्या के विवाह जन्म मास में नहीं करना चाहिये।

शुभत्व और अशुभत्व के अन्य कारण तत्तत्प्रकरण में देखिये।

शुद्ध-अशुद्ध समय का तत्त्वार्थ--

यह पहले बताया जा चुका है कि आकाश में नक्षत्र और ग्रह—शुभ और अशुभ-दो प्रकार के हैं। उनकी किरणों का प्रवाह अनवरत चलता रहता है, जिसका प्रभाव पृथ्वी पर भी पड़ता है। ग्रहों की चञ्चलता के कारण कहीं शुभ ग्रहों की, कहीं अशुभ ग्रहों की और कहीं मिश्र ग्रहों की रश्मियों का प्रवाह पड़ता है। जहाँ शुभ रश्मियों का प्रवाह जाता है वहाँ सुभिक्ष, स्वास्थ्य, सर्वथा शान्त वातावरण आदि शुभ फल; और जहाँ अशुभ रश्मियों का प्रवाह रहता है वहाँ दुर्भिक्ष, अस्वास्थ्य, अशान्त वातावरण आदि अशुभ फल प्रत्यक्ष देखने में आते हैं; और वही शुद्ध तथा अशुद्ध समय माना जाता है। इस लिए ग्रहों की स्थिति देखकर ही मुनियों ने विवाहादि कार्यों का समय निर्धारित किया है। ग्रहों के पृथक् तथा दो, तीन आदि के सम्पर्क से रश्मियों के अनेक भेद होते हैं और आकाश में ग्रहों के मार्ग की चञ्चलता से, कभी किसी देश पर, कहीं किसी नगर पर और कहीं किसी घर पर ही उसका प्रभाव पड़ता है। वह भी सब स्थान में, सदा एकरूप नहीं रहता है यह प्रत्यक्ष है—कभी कहीं वर्षा ऋतु में सूखा और कभी वसन्त में भी वर्षा हो जाया करती है। अतः जब, जहाँ प्रत्यक्ष समय शुद्ध देखने में आवे तब शुभकार्य कर लेना चाहिए।

महर्षियों ने यह देखा कि सौम्यायन में सूर्य-रश्मि की शुद्धि और प्रबलता के कारण, अशुभ ग्रहों की रश्मि नष्ट अथवा निर्बल हो जाती है, इसलिये यज्ञ आदि दीर्घकाल साध्य कार्य को सौम्यायन में ही करने का आदेश किया है। तथा श्रावण और भाद्र में अधिक वर्षा की सम्भावना से विवाह, उपनयनादि कार्यों का निषेध किया है। एवं धनु राशिस्थ सूर्य में हिम (शीत) की प्रखरता से शुभ कार्यों का निषेध किया।

परञ्च वर्षाकाल में भी जब, जहाँ समय प्रत्यक्ष शुद्ध देखने में

आता था तो वहाँ अपनी सुविधा के अनुसार लोग विवाह कार्य कर लेते थे। जो पीछे देखादेखी में वह व्यवहार प्रचलित हो गया। गृह्यसूत्रादि में विवाह कार्य के लिये प्रायः सौम्यायन को प्रशस्त कहा गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'सौम्यायन में ही करना चाहिये।' तथा याम्यायन का जो निषेध किया गया है उसका भी यह तात्पर्य नहीं है कि 'सब कार्य सदा याम्यायन में नहीं करना चाहिये।' इस लिये तत्त्वदर्शियों का मत है कि जहाँ, जब समय अनुकूल और कार्य में सुविधा देखने में आवे—वहाँ, उसी समय में कार्य कर लेना चाहिए। यथा सर्वविदित मुहूर्तचिन्तामणि में सामान्य वचन से कहा गया है—

"गीर्वाणाम्बुप्रतिष्ठा-परिणय-दहनाधान-गेहप्रवेशा--
श्चौलं राजाभिषेको व्रतमपि शुभदं नैव याम्यायने स्यात् ॥"

अर्थात् याम्यायन में देवप्रतिष्ठा और विवाह, गृहप्रवेश आदि कार्य नहीं करना चाहिये।

परञ्च शास्त्रतत्त्वदर्शी राजर्षि जनक जी ने अनुकूल समय और सुयोग्य वर का लाभ देखकर, याम्यायन मार्गशीर्ष में ही जानकी का विवाह कार्य सम्पन्न किया। यह व्यवस्था भारत में मुसलमानी शासन के पूर्व तक प्रायः अक्षुण्ण थी।

महर्षियों ने शास्त्र के अतिरिक्त अदोष देशाचार और अदोष कुलाचार के अनुसार भी विवाह आदि कार्यों के करने का आदेश दिया है। परञ्च मुस्लिम शासनकाल में संस्कृत अध्ययन-अध्यापन के शिथिल हो जाने के कारण, अधिकांश व्यक्ति शास्त्र, आचार और व्यवहार के भेद को न जानकर, अन्धविश्वास से सदोष आचार-व्यवहार को भी प्रमाण कोटि में लाकर प्रत्यक्ष शुद्ध समय को भी अशुद्ध और अशुद्ध समय को भी शुद्ध मानकर, शास्त्र-मर्यादा एवं जन-समाज के हित पर आघात पहुँचाने लगे और सम्प्रति भी पहुँचा रहे हैं। अतः उन लोगों के सुबोधार्थ हम शास्त्र, आचार और व्यवहार के भेद को दिखलाते हैं। यथा—

[१] **शास्त्र**—तत्त्वदर्शी महर्षियों एवं गुण-दोष-ज्ञ सुविज्ञजनों का, लोक-कल्याण-कारक 'विधि-निषेध' (कर्तव्य-अकर्तव्य) रूप आदेश 'शास्त्र' कहलाता है। जिससे मानव समाज सुव्यवस्थित रहकर सकुशल सुखमय जीवन व्यतीत करता है। भारत में षडङ्ग वेद एवं स्मृति तथा पुराण 'प्रधान शास्त्र' माने जाते हैं। इनमें आदेश के दो विभाग हैं—(१) नित्य और (२) अनित्य। 'नित्य' वह है जो आदेश सब देश, सब समाज, सब व्यक्ति के लिये सब काल और सब अवस्था में एक-रूप (अ-परिवर्तनीय, अतः अवश्य पालनीय) होता है। यथा—'धैर्य रखना।' इस आदेश का पालन सब देश, सब प्राणी के लिये सब अवस्था और सब काल में कल्याणकारक ही होता है। 'अनित्य' वह आदेश है जिसका पालन करना सब काल में, कल्याणकारक ही नहीं होता है, कभी उसका त्याग करने से ही कल्याण होता है। जैसे—"सत्य बोलना, हिंसा और चोरी नहीं करना" इत्यादि।

आदेश वही पालनीय होता है जिससे अधिकांश जनों का कल्याण हो। शास्त्रों में 'सत्य' की परिभाषा यह है कि—"दृष्ट अथवा श्रुत विषय को यथावत् कहना।" परञ्च इस प्रकार के सत्य से कभी जन-समाज का अ-कल्याण भी हो जाता है। अतः महर्षियों ने सत्य की दूसरी परिभाषा बनायी है कि "बहुजनहिताय वचनं सत्यम्।" जिससे अधिक मानवों का उपकार हो वह (अ-यथार्थ वचन भी) सत्य है। इसी न्याय से भगवान् श्रीकृष्ण ने भारतीय समाज के कल्याणार्थ सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से, महाभारत संग्राम के समय में अयथार्थ वचन ('अश्वत्थामा हतः') कहलवाया। एवं धर्मप्रिय महारथी सत्यवादी अर्जुन के द्वारा घोर हिंसाकर्म करवाया तथा समाज के कल्याणार्थ स्वयं व्रजमें चौर्य कर्म किया और अपने सहयोगियों को भी इस कार्य के लिये प्रेरित किया। इस प्रकार का असत्य और हिंसादि कर्म भी शिष्ट जनानुमोदित बहुजनहितार्थ होने के कारण 'धर्म' ही माना गया। अतः शास्त्र में भी समय-पर समयानुसार परिवर्तन होता आया है और होना चाहिये।

[२] आचार—आचार के मुख्य चार भेद होते हैं—(१) शिष्टाचार, (२) देशाचार, (३) लोकाचार और (४) कुलाचार।

(१) शिष्टाचार—बहुजन हिताय, विज्ञजनानुमोदित, शिष्ट (लोकमान्य तत्त्ववेत्ता) जनों द्वारा आचरित शास्त्रविरुद्ध आचरण भी धर्म ही माना जाता है। तथा ऐसा ही शिष्टाचार प्रमाण कोटि में गिना जाता है। यथा—पिता, माता, गुरु और गुरुजनों का आदर एवं बन्धुजनों और पत्नी के प्रति स्नेह करना—शास्त्रादेश है। किन्तु बहुजनहिताय शिष्टजनों ने इसके विरुद्ध आचरण किया, जिसको अदोष होने से लोग धर्म मानकर शिष्टाचार कहते हैं। सन्त सूरदास ने इसका उदाहरण बतलाया है—

"तजे पिता प्रहलाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तजो, कन्त ब्रजवनिता, राम परम प्रिय नारी॥"

[२] देशाचार—समयानुसार देशजनानुमोदित, बहुजनहितार्थ विज्ञजनों का आचरण देशाचार कहलाता है। यथा—मत्स्य-मांस-भोजन का निषेध शास्त्रादेश है। किन्तु शीत-प्रधान युरोप आदि एवं भारत में बंगाल, नेपाल, मिथिला आदि कतिपय देशों में मत्स्यमांस का भोजन प्रत्यक्ष (एवं आयुर्वेद के मत से भी) हितकारक होने के कारण, अदोष मानकर, लोग मत्स्यमांस का सेवन करते हैं। यह समाज-कल्याण में बाधक न होने के कारण तत्तद्देशों में धर्म ही समझा जाता है। अतः इस प्रकार का आचरण 'देशाचार' कहलाता है।

[३] लोकाचार—शास्त्रोदित यज्ञ, विवाह, उपनयन आदि में जिसका न तो विधान है, न निषेध है और न समाजहित में बाधक है (शोभार्थ अथवा लोकरञ्जनार्थ) ऐसे आचरण को 'लोकाचार' कहते हैं। जैसे, उपनयन कर्म में द्विजातियों के लिये सावित्रीदान कर्म प्रधान है, उसके अतिरिक्त (सङ्गीत, नृत्य, बाजा आदि बजवाना)

एवं विवाह में नृत्य, गीत के साथ बारात सजवाना आदि अतिरिक्त आचरण 'लोकाचार' कहलाता है।

[४] **कुलाचार**—जैसे, किसी कुल में किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र के जीवन के लिये अपने इष्ट देवता से मनौती की कि 'हे देवि! यदि हमारा बालक स-कुशल रहेगा तो इसके उपनयन के अवसर पर आपको पाँच किलो मिठाई चढ़ा कर, हम उपनयन करेंगे। किसी शक्ति-उपासक ने मधुर के स्थान पर छाग-बलि की मनौती की। मनोरथ पूर्ण होने पर, उपनयन के एक दिन पूर्व, अपनी-अपनी मनौती चढ़ायी। इस प्रकार के आचरण ने उनके कुल में परम्परा का रूप धारण कर लिया—जो 'कुलाचार' के नाम से व्यवहृत हुआ।

ये उपर्युक्त आचार—(१) सदोष और (२) अदोष—दो प्रकार के होते हैं। इनमें अदोष (सगुण) देशाचार को विज्ञजन शास्त्रतुल्य ही मानते हैं। जो लोक कल्याण में बाधक नहीं है और शास्त्र में कथित भी नहीं है—ऐसे देशाचार का त्याग नहीं करना, ऐसा ही तत्त्वद्रष्टा महर्षियों का आदेश है। यथा—

"कुलस्य देशस्य च चित्तवृत्तिर्न खण्डनीया विदुषा कदापि।
यो लोकशास्त्रानुमतः स धर्मो लोको बलीयाननयोर्विरोधे॥"

कुल-जनों को एवं स्वदेश-जनों को कुलाचारानुसार किंवा देशाचारानुसार कार्य करने से विरत नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोक और शास्त्र दोनों से अनुमोदित आचरण का नाम 'धर्म' है। इन दोनों में विरोध हो तो अदोष लोकाचार को ही शास्त्र से प्रबल मानना चाहिये।

परञ्च आचार स-दोष है अथवा स-गुण है—इसका विचार अवश्य कर लेना चाहिये। यथा—

"देशाचारः कुलाचारो जात्याचारस्तथैव च।
कर्तव्यो विदुषा तत्र सारासारं विचार्य च॥"

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानं हि कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"

इस प्रकार स-गुण आचार का पालन और स-दोष आचार का त्याग करना ही—तत्त्वदर्शियों द्वारा अनुमोदित है। यथा—

"सोऽनुष्ठीयो भवेद्धर्मो यो लोक-श्रुतिसम्मतः।
शास्त्र-शिष्टविरुद्धस्तु धर्मस्त्याज्यः सदा बुधैः ॥"

जो लोकाचार और शास्त्र—दोनों द्वारा सम्मत हो उसी का आचरण करना। जो शास्त्र और शिष्टजनों से निन्दित है—उस आचरण का त्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार सकल साधारण शास्त्रादेश का विवेक किया गया है जिसमें केवल 'शब्द' किंवा 'अनुमान' प्रमाण है। किन्तु ज्यौतिष-शास्त्र में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' की मान्यता है। फलित विभाग में भी जो आदेश है, वह भी प्रत्यक्ष देखने से ही मान्य होता है। यथा—

"शशि-सूर्यग्रहे स्नानात् पुण्यमक्षयमाप्नुयात्।"

चन्द्र-सूर्य ग्रहण में स्नान करने से अक्षय पुण्य होता है।

गणित सिद्धान्त से सिद्ध है कि सभी अमावास्या में कहीं-न-कहीं सूर्यग्रहण होता ही है। परञ्च जहाँ दृश्य नहीं होता वहाँ ग्रहण लगे हुए में भी, स्नान का फल न होने के कारण, लोग स्नान नहीं करते हैं।

एवं मुनियों का कथन है—"चलत्यङ्गारके वृष्टिः", "एकार्णवां महीं कृत्वा पश्चात् संचरते गुरुः।" अर्थात् मङ्गल और गुरु राश्यन्तर सञ्चार करते हैं तो वृष्टि होती है। पञ्चाङ्गकार अपने पञ्चाङ्ग में वृष्टि योग लिख देते हैं। परञ्च किसान लोग केवल आदेश-बल पर ही खेत में रोपने के लिये धान का बीज उखाड़ कर नहीं रखते हैं; और विना वृष्टियोग के दिन में भी वृष्टि होने पर, बीज उखाड़ कर धान्य-रोपण करते हैं। यदि वृष्टि के दिन में धान्यरोपणक विहित स्थूल वार

और नक्षत्र न हो तो उस दिन विहित क्षण, वार में और विहित नक्षत्र के मुहूर्त में रोपण करें—ऐसा मुनियों का आदेश है। यथा—

"वारे प्रोक्तं कालहोरासु तस्य, धिष्ण्ये प्रोक्तं स्वामितिथ्यंशकेऽस्य।
कुर्याद्दिक्शूलादि चिन्त्यं क्षणेषु॥"

"यस्य खेटस्य वारे यत् कर्म किञ्चित् प्रकीर्तितम्।
तत् तस्य क्षणवारेऽपि कर्तव्यं सर्वदा बुधैः॥"

तथा—**"नक्षत्रविहितं कर्म तन्मुहूर्ते समाचरेत्।"**

प्रत्येक दिन—प्रत्येक क्षण वार और क्षण मुहूर्त प्राप्त होते ही हैं। अतः कृषि, यात्रा, गृहकर्म एवं विवाहादि के लिये सदा ही शुभ मुहूर्त प्राप्त होते हैं। इस लिये मुनियों का आदेश है कि—'विवाहः सार्वकालिकः।' पूर्व समय में इसी के अनुसार विज्ञजन योग्य वर प्राप्त होने पर, उसी दिन सुलग्न अथवा सुमुहूर्त में विवाह कार्य करते थे—जिसके अनेक दृष्टान्त पुराणग्रन्थों में पाये जाते हैं। किन्तु तत्त्वदर्शी महर्षियों द्वारा प्रचालित लोक-कल्याण-कारिणी ऐसी भारतीय सुव्यवस्था को देश-कालानभिज्ञ, पर-विश्वासी, पण्डितम्मन्य, पञ्चाङ्ग-लेखक एवं नक्षत्र-सूचक पुरोहितों ने किसी अनभिज्ञ द्वारा प्रचालित, स-दोष व्यवहार को भी प्रमाण मानकर, स्वयं तथा दूसरों द्वारा आचरण में लाकर, विच्छिन्न कर दिया। अब भी अधिकांश जन अन्धविश्वास द्वारा इस प्रकार के दुर्व्यवहार का आचरण कर रहे हैं। विज्ञजन द्वारा दोष दिखलाये जाने पर वे कहते हैं कि "हमारे पिता-पितामह ने ऐसा किया है, इसलिये हम भी ऐसा करते हैं।"

ऐसी अन्धपरम्परा का एक सत्य और ज्वलन्त दृष्टान्त है कि "किसी सज्जन ने एक बिल्ली पाल रखी थी। वे उसे बहुत प्यार करते थे। अतः वह अधिक समय तक उनके पास ही रहती थी—जिससे उनकी पूजा में कभी-कभी बाधा हो जाती थी। अतः जब वे अपने पितरों का एकोद्दिष्ट पार्वण श्राद्ध करते थे तो उस बिल्ली को बाँध दिया

करते थे। इस व्यवहार को उनके पुत्र देखा करते थे। जब उक्त सज्जन का देहान्त हुआ तब उनके पुत्र ने भी बिल्ली को बाँध कर अपने पिता का एकोद्दिष्ट कर्म किया। तथा आगे भी उनके पुत्र-पौत्रादिकों में यह परम्परा-सी बन गयी। एक समय की बात है कि उनके कुल में किसी के पास बिल्ली नहीं थी और पिता का एकोद्दिष्ट करना आवश्यक था। परन्तु बिल्ली बाँधे बिना एकोद्दिष्ट कैसे होगा ? इस लिये बिल्ली के निमित्त दौड़-धूप करने लगे। इसी बीच कोई विज्ञ पण्डित आ गये। उन्होंने पूछा कि एकोद्दिष्ट का समय आ गया और आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? उत्तर मिला कि मेरे कुल का परम्परागत व्यवहार है कि बिल्ली बाँध कर एकोद्दिष्ट किया जाय। आगत पण्डित जी तत्त्वज्ञ थे। उन्होंने सब कारण समझ कर, उन्हें बतलाया और पूर्ण रहस्य समझा कर, ऐसे अन्धपरम्परागत दुर्व्यवहार को उस कुल से सदैव के लिए हटवाया।

ऐसे ही पण्डित, पुरोहित एवं नक्षत्रसूचक ज्यौतिषी कहलाने वाले, शास्त्र में प्रतिपदोक्त एक देशीय दोष को, अन्य देशों में भी मान कर, प्रत्यक्ष शुद्ध समय को भी अशुद्ध बताते हैं—जिससे जनसाधारण शुभ कार्य करने से वञ्चित रह जाते हैं। जैसे, गुरु के महातिचार से लुप्त संवत्सर होता है। उसमें सर्वमुनिसम्मत, नर्मदा और गङ्गा के अन्तराल देश में ४५ दिन त्याज्य कहा गया है। उसको सब देश में, और समस्त संवत्सर को अशुद्ध समझ लेते हैं। तथा तिथि, नक्षत्र, वार के परस्पर योग से जो अनिश्चित कुयोग केवल हूण, बंगाल और नेपाल के लिये ही वर्जित कहा गया है, उसको सब देश के लिये अशुद्ध समयकारक बताते हैं। यथा—

"तिथि-नक्षत्र-वाराणां मिथः संयोगतो बुधैः।
कथिता विविधा योगाः शुभाशुभफलप्रदाः॥
तेषु ये ये सुयोगास्ते सर्वत्रैव शुभप्रदाः।
हूण-बङ्ग-खसेष्वेव कुयोगास्तु फलप्रदाः॥"

अर्थात् तिथि-नक्षत्रादि के २ या ३ के योग से जो सिद्धि, अमृत आदि सुयोग; तथा विष, दग्ध आदि कुयोग कहे गये हैं—उनमें सुयोग तो सब देश में शुभप्रद होते हैं; किन्तु कुयोग केवल हूण, बङ्ग, और नेपाल देशमात्र में ही त्याज्य है।

तथा मुहूर्तचिन्तामणि—

"कुयोगास्तिथि-वारोत्थास्तिथिभोत्था भ-वार-जाः।
हूण-बङ्ग-खसेष्वेव वर्ज्यास्त्रितयजास्तथा॥"

एवं सिंहराशि में सिंह नवांश स्थित मात्र गुरु गङ्गा-गोदावरी के बीच में ही वर्जित करने का आदेश है। उसको समस्त सिंहस्थ और सब देश में समझना—प्रत्यक्ष तथा आगम वचन से विरुद्ध है।

यह सदा स्वाभाविक है कि लेखक, अध्यापक तथा अध्येता के प्रमाद दोष से, आगम-वचनों के शब्द और अर्थ में, भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इस लिये ही पुनः पुनः शास्त्र का अध्ययन आवश्यक कहा गया है। यथा, महाभाष्य में—

"रक्षोहा-लघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।"

अर्थात् रक्षा (=आगम वचनों की रक्षा), ऊहा (=तर्क), लाघव (=बड़े वाक्य को थोड़े शब्द में कहना), असन्देह (=स्वयं सन्देह, रहित होना)—यही शास्त्राध्ययन का प्रयोजन है।

इसलिये विज्ञजनों का कर्तव्य है कि शास्त्रानुसन्धान करके, लोक-कल्याण के निमित्त सदोष दुर्व्यवहार के त्याग और सगुण आचरण के ग्रहण करने का प्रचार करें जिससे भारतीय जनता समय पर शुभ कृत्य के करने से वञ्चित न रहे।

"नैव जाने क्षणादूर्ध्वं विधाता किं विधास्यति?।
इति सञ्चिन्त्य मतिमान् शुभं शीघ्रं समाचरेत्॥"

ज्यौतिषरत्नमालाया इत्येवं युक्तिसंयुतम्।
कालशुद्धिविवेकाख्यं रत्नं सम्पूर्णतां गतम्॥

ज्यौतिषरत्नमाला

*

का

*

तृतीय रत्न

*

कृत्य विवेक

प्राक्कथन,

(अथवा परिचय तथा सम्मति)

प्रस्तुत पुस्तक के आदरणीय लेखक ने इसका नाम 'ज्यौतिषरत्नमाला' रखा है। इस के सम्बन्ध में 'यथा नाम तथा गुणः' यह लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। ज्यौतिषशास्त्र के विषय में महर्षि नारद का कथन है—

"सिद्धान्त-संहिता-होरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमकल्मषम्।
विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्ध्यति।
तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा॥"

विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञानमय शास्त्र 'वेद' नाम से व्यवहृत है। उसके छः विभाग हैं इसलिये वेद 'षडङ्ग' कहलाता है। उनमें प्रधान अङ्ग नेत्ररूप 'ज्यौतिष' है, जिस से काल के शुभाशुभत्व का परिज्ञान होता है। कार्य के अनुकूल समय को 'शुभ' और प्रतिकूल समय को 'अशुभ' माना गया है। उसका ज्ञान ज्यौतिष से ही होता है। इसलिये ज्यौतिष को 'कालतन्त्र' भी कहते हैं। भूमण्डल में समस्त कार्य 'काल' के ही आधीन हैं, किस काल में किस कार्य के प्रारम्भ करने में सफलता अथवा विफलता होती हैं, किस समय में जन्म से किस प्रकार का जीवन फल होता है; किन कारणों से पृथ्वी पर सुभिक्ष-दुर्भिक्ष होते रहते हैं—महर्षियों द्वारा इस विषय का प्रतिपादन ही 'फलित ज्यौतिष' कहलाता है।

जब तक विज्ञ पुरुष महर्षियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के अर्थ ठीक-ठीक समझते थे तब तक शास्त्रों का अर्थ अधिकांश रूप में घटित होते थे। तदनन्तर अपने-अपने नाम करने के लिये अर्थ का अनर्थ करने वाले ग्रन्थकार बनने लगे और बन भी गये उसी समय से ज्यौतिषशास्त्र में भ्रष्टता आ गयी--विशेषकर यवन-शासनकाल में। पश्चात् अंग्रेजी शासनकाल में जब वाराणसी में क्वीन्स कालेज (राजकीय संस्कृत महाविद्यालय) की स्थापना हुई तब म० म० बापूदेव शास्त्री एवं म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा 'सिद्धान्त ज्यौतिष' का सुधार होना प्रारम्भ

हुआ, किन्तु 'फलित ज्यौतिष' की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। म० म० सुधाकर द्विवेदी के अनन्तर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्यौतिष विभागाध्यक्ष पण्डित रामयत्न ओझा ने फलित में श्रीपति, नीलकण्ठादि द्वारा लग्नादि साधन-पद्धति में सर्वप्रथम आर्षपद्धति विरुद्धता दिखलायी--परञ्च वे पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं कर सके।

अनन्तर स्वतन्त्र भारत में पूज्य गुरुवर्य पं० श्री सीताराम झा जी ने प्राय: समस्त फलित ग्रन्थों को भ्रष्टता का सुधार कर दिया है। अर्थात् किन-किन नवीनाचार्यों के ग्रन्थों में क्या-क्या असङ्गति है, तथा तत्तस्थलों में क्या होना चाहिये? यह युक्ति तथा उदाहरणदर्शनपूर्व स्पष्ट कर दिया है। प्रस्तुत पुस्तक रत्नत्रयात्मक 'संहिता' भाग है। इसमें समस्त कृत्यों के मुहूर्त आदि निखिल विषय समाविष्ट कर दिये गये हैं। कर-मुद्रिका के देखने के लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं होती, पाठकगण इस ग्रन्थ का अवलोकन करके सब स्वयं जान जायंगे। मुझे आशा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि केवल एक इस पुस्तक को पास में रख लेने से किसी अन्य मुहूर्त संहिता) ग्रन्थ को कदापि आवश्यकता नहीं होगी और सर्व साधारण व्यक्ति भी स्वयं तत्त्वार्थ को हृदयङ्गम कर लेंगे। अलमिति विस्तरेण।

ज्यौतिष अनुसन्धान भवन,
यज्ञशाला, हापुड़, मेरठ
ज्येष्ठ शुक्ल ५, संवत् २०२८

श्रीकृष्णकान्त शर्मा
(फलित-सिद्धान्त ज्यौतिषाचार्य)

कतिपय सम्मति दातागण--

१---आचार्य श्री विश्वम्भर दयालु जुझारीलाल शर्मा, डोहरकलाँ, हरियाणा

२—आचार्य श्रीअवधविहारी त्रिपाठी, ज्यौतिषशास्त्रविभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

३—आचार्य श्रीराजमोहन उपाध्याय, ज्यौतिषशास्त्रविभागाध्यक्ष, सम्पादक विश्वपञ्चाङ्ग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

४—श्रीरामचन्द्रशर्मा, ज्यौतिषमार्तण्ड, ग्राम चिलेश्वर, मेवाड़

५—श्रीप्रह्लाद शर्मा, जैनपुरवास, राजस्थान

ज्यौतिषरत्नमाला

तृतीय रत्न

कृत्य विवेक

विषय सूची

अथ कृत्यविवेकरत्नम्

गृहप्रकरण

मङ्गलाचरण—

विधिं च विष्णुं च शिवं दिनेशं
श्रियं गिरं चापि गुरुं गणेशम् ।
करोमि नत्वा गिरिजां सयत्नं
विदां मुदे कृत्यविवेकरत्नम् ॥१॥
यया कण्ठस्थयाऽज्ञोपि ज्ञात्वा दृष्ट्वा च लक्षणम् ।
भूमि-ग्राम-गृहादीनां फलं विज्ञातुमर्हति ॥२॥

मैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दिनेश, लक्ष्मी, सरस्वती और गिरिजा जी को प्रणाम करके विज्ञजनों की प्रसन्नता के लिए 'कृत्यविवेकरत्न' नामक पुस्तक बनाता हूँ। जिसको कण्ठस्थ कर लेने से बालक भी भूमि-ग्राम-गृह-कूप-तडाग-वाटिका के लक्षणों को जानकर तदनुसार एवं स्वयं आँख से देखकर भी शुभ या अशुभ फल समझ सकता है ॥१-२॥

गृह प्रशंसा—

न सिद्ध्यति क्रिया काचित् मानवस्य गृहं विना ।
यस्मादस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयं ब्रुवे ॥३॥

संसार में बिना घर के मानवों के किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है, इसलिये गृह का आरम्भ और उसमें प्रवेश के समय को कहता हूँ ॥ ३ ॥

जन्मकालात् यथा प्राज्ञैः फलं नृणां शुभाशुभम् ।
कथितं सकलं तद्वद् गृहस्यारम्भकालतः ॥४॥

जिस प्रकार मुनियों ने जन्मकाल से मनुष्यों के शुभाशुभ फल कहे हैं, उसी प्रकार गृह के आरम्भ काल से गृह के शुभाशुभ फल भी कहे हैं ॥ ४ ॥

गृह का जन्मकाल—

यस्मिन् काले शिलान्यासो जन्मकालो गृहस्य सः ।
तल्लग्नवशतो गेहफलं मानववद् वदेत् ॥५॥

पक्का मकान में जिस समय शिलान्यास किया जाता है और तृण-काष्ठ के गृह के लिये जिस समय स्तम्भ (खम्भा) का न्यास किया जाता है, वह उस घर का जन्मकाल होता है । उस समय के लग्न और स्पष्ट ग्रहों के द्वारा मनुष्य के जीवन फल समान घर का भी फल समझना और कहना चाहिये ॥ ५ ॥

उदाहरण आगे देखिये ।

भूमिवर्ण लक्षण—

ब्राह्मणी शुक्लवर्णा भूः क्षत्रिया रक्तमृत्तिका ।
वैश्यवर्णा हरिद्वर्णा कृष्णा शूद्रा प्रकीर्तिता ॥६॥

जहाँ की मिट्टी श्वेतवर्ण हो वह ब्राह्मणी, लालवर्ण मिट्टी हो तो क्षत्रिया, हरेवर्ण से वैश्या और जिस भूमि का वर्ण काला हो वह शूद्रा कहलाती है ॥ ६ ॥

अन्यरीति से वर्णज्ञान

ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला ।
कुशकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला ॥७॥

जिस भूमि में स्वभाव से कुश उत्पन्न होता हो वह ब्राह्मणी, जहाँ सरपत उत्पन्न हो वह क्षत्रिया और जहाँ कुश-काश (सरपत आदि) हो वह वैश्या तथा जहाँ अनेक प्रकार के तृण हो वह शूद्रा भूमि होती है ॥ ७ ॥

वर्ण से साधारण फल

ब्राह्मणी सर्वसुखदा क्षत्रिया राज्यदा भवेत् ।
धनधान्यप्रदा वैश्या शूद्रा तु निन्दिता भवेत् ॥८॥

ब्राह्मणी भूमि में वास करने से सब वर्ण को सब प्रकार के सुख होते हैं। क्षत्रिया वर्ण भूमि में वास करने से राज्य लाभ होता है (अर्थात् राजा या राजकर्मचारी होता है)। वैश्यवर्ण भूमि में वास करने से धन-धान्य से पूर्ण रहता है। तथा शूद्र वर्ण भूमि द्विज जातियों के लिये निन्दित है ॥ ८ ॥

विशेष फल—

श्वेता शुभा द्विजेन्द्राणां रक्ता भूमिर्महीभुजाम् ।
विशां पीता च शूद्राणां कृष्णाऽन्येषां विमिश्रिता ॥९॥

श्वेत वर्ण भूमि ब्राह्मणों के लिये, लाल वर्ण भूमि क्षत्रियों के लिये, पीतवर्ण वैश्यों के लिये और कृष्ण वर्ण शूद्रों के लिये एवं अन्य वर्णों (अन्त्यजादि) के लिए मिश्रितवर्ण भूमि विशेषकर शुभप्रद होती है ॥ ९ ॥

रस और गन्ध से फल—

मधुरं कटुकं तिक्तं कषायं च रसाः क्रमात् ।
घृतासृगन्नमद्यानां गन्धाश्च क्रमतो हिताः ॥१०॥

जहाँ की मिट्टी में मधुर स्वाद हो वह ब्राह्मण (बुद्धिजीवी) के

लिये, कडुआ (मिर्च) का स्वाद हो तो क्षत्रिय (राजकार्य करने-वालों) के लिये, तिक्त स्वाद हो तो वैश्य (कृषि-वाणिज्य वालों) के लिये और जहाँ की मिट्टी में कसैला स्वाद हो वह शूद्र (श्रमजीवी) के लिये हितकर होती है। एवं घृत, शोणित, भात और मदिरा का गन्ध हो वे क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों के लिये शुभप्रद होती है ॥ १० ॥

अष्टदिशा में निम्नोन्नतवश फल—

शम्भुकोणप्लवा भूमिः कर्तुः सौख्यप्रदायिनी ।
पूर्वप्लवा वृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा ॥ ११ ॥
अग्निप्लवाऽग्निभयदा कीर्तिहा पश्चिमप्लवा ।
वायुकोणप्लवा भूमि-र्नित्यमुद्वेग - कारिणी ॥ १२ ॥
मृत्युशोकप्रदा नित्यं सर्वथा दक्षिणप्लवा ।
गृहक्षयकरी प्रोक्ता भूमिर्या नैऋतिप्लवा ॥ १३ ॥

ईशान कोण की ओर झुकी हुई भूमि सुख सम्पत्ति देनेवाली, पूर्वदिशा में निम्न वृद्धिकारिणी, उत्तर की ओर झुकी हुई धन देनेवाली, अग्निकोण की ओर झुकी हुई भूमि अग्निभय देनेवाली, पश्चिमप्लवा अपयश दिलाने वाली, वायुकोणप्लवा उद्वेग करनेवाली, दक्षिण प्लवा भूमि मृत्यु-शोकदायिनी और नैऋत्यकोण की ओर झुकी हुई भूमि गृह को नाश करनेवाली होती है ॥ ११-१३ ॥

वास्तु में निन्दित भूमि—

स्फुटिता च सशल्या च वल्मिकारोहिणी तथा ।
विषमा चोषरा भूमिः कर्तुरायुर्धनापहा ॥ १४ ॥

जिस भूमि में दरार (फटी) हो, शल्य हो, दीमक हो, टेढ़ी-मेढ़ी

भूमि हो, चलने फिरने में कठिनता हो, ऊषर भूमि हो-वह वसने वाले के धन और आयु की हानि करती है ॥ १४ ॥

विशेष—

इसप्रकार का विचार जिसके पास अधिक भूमि और धन-सम्पन्न हो, उसके लिये है, सकल साधारण जनों के लिये तो जहाँ मनःपूत हो जैसी ही निजी जमीन हो वहीं घर बनाने का शास्त्रादेश है । यथा—

मनसश्चक्षुषोर्यस्यां सन्तोषो जायते भुवि ।
तस्यां सर्वैर्गृहं कार्यमिति गर्गादिसम्मतम् ॥ १५॥

जिस भूमि को देखने से मन प्रसन्न हो वहाँ सब घर बनावें, ऐसा गर्गादि मुनियों का मत है ॥ १५ ॥

यस्यास्ति भूमेराधिक्यं तेनेदं सर्वलक्षणम् ।
संनिरीक्ष्य गृहं कार्यं भूमेराल्प्ये यथारुचि ॥१६॥

जिसके पास अधिक भूमि हो वह इन लक्षणों को देखकर घर बनावें । जिसके पास थोड़ी ही भूमि हो वह उसी में इच्छानुसार घर बनावें । मुहूर्त मार्तण्ड में भी कहा है—"आल्प्ये शक्तिभुत्रौ यथारुचि" ॥ १६ ॥

गजपृष्ठ आदि भूमि के लक्षण—

दक्षिणे पश्चिमे चैव नैऋत्ये वायुकोणके ।
एषूच्चं यत्र भूमौ सा गजपृष्ठाभिधीयते ॥१७॥
वासस्तु गजपृष्ठायां धनधान्यप्रदायकः ।
आयुर्वृद्धिकरो नित्यं कर्तुः संजायते ध्रुवम् ॥१८॥

जो भूमि दक्षिण-पश्चिम नैर्ऋत्य और वायुकोण में उच्च हो उसे गजपृष्ठ भूमि कहते हैं वहाँ वास करने से कर्ता धन-धान्य से पूर्ण और

दीर्घायु होता है ॥ १७-१८ ॥

कूर्मपृष्ठा भूमि—

मध्य उच्चं भवेद्यत्र नीचं चैव चतुर्दिशम् ।
कूर्मपृष्ठा च सा भूमिः कथिता गणकोत्तमैः ॥ १९ ॥
वासश्च कूर्मपृष्ठायां नित्यमुत्साहवर्धकः ।
धनधान्यादिकं तस्य जायते च यशः सुखम् ॥२०॥

जिस भूमि के मध्य में उच्च और चारों तरफ नीच हो, वह कूर्म पृष्ठ भूमि कहलाती है, उसमें घर बनाने से उत्साह, धन-धान्य, यश और सुख की वृद्धि होती है ॥ १९-२० ॥

दैत्यपृष्ठा भूमिः—

पूर्वाग्नि-शम्भुकोणेषु स्थलमुच्चं यदा भवेत् ।
पश्चिमे यत्र नीचं सा दैत्यपृष्ठाऽभिधीयते ॥२१॥
वासस्तु दैत्यपृष्ठायां सदा कलहकारकः ।
पशुपुत्रधनादीनां हानिर्भवति गेहिनः ॥२२॥

पूर्व-अग्नि-ईशान कोण में उच्च और पश्चिम दिशा की ओर नीच हो तो वह दैत्यपृष्ठा भूमि कहलाती है, उसमें घर बनाने से नित्य कलह और पशु पुत्र तथा धनादि की हानि होती है ॥ २१-२२ ॥

नागपृष्ठा भूमि—

पूर्वपश्चिमयोर्दीर्घा योच्चा दक्षिणसौम्ययोः ।
नागपृष्ठा च सा प्रोक्ता निन्दिता पूर्वसूरिभिः ॥२३॥
तत्र वासो गृहेशस्य धनधान्यादिहानिकृत् ।
रिपुभीतिकरश्चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥२४॥

जिस भूमि में पूर्व-पश्चिम लम्बाई हो, दक्षिण-उत्तर में उच्च हो

वह नागपृष्ठभूमि कहलाती है, उसमें घर बनाने से धन-धान्यादि की हानि, सदा शत्रु का भय होता है, इसलिये उस भूमि का त्याग कर देना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

वर्गादिशुद्धि कहाँ देखनी चाहिए—

वर्गशुद्धिं भशुद्धिं च जन्मस्थाने न चिन्तयेत् ।
अन्यत्र ग्रामनाम्नोश्च सर्वमेव विचारयेत् ॥२५॥

यदि अपने जन्म स्थानीय ग्राम में घर बनाना हो तो नाम और ग्राम के वर्गशुद्धि या राशिशुद्रि आदि का विचार नहीं करना । जन्म स्थान से अन्य ग्राममें वास करना हो तो उस ग्राम की राशि और अपने नाम की राशि और वर्ग से शुद्धि का विचार करना चाहिए ॥ २५ ॥

नामराशि की प्रधानता—

गृहे युद्धे च सेवाया-मन्योऽन्यव्यवहारके ।
नामराशेः प्रधानत्वं जन्मराशिं न चिन्तयेत् ॥२६॥

गृहकम, युद्ध, सेवा (नोकरी आदि) और परस्पर दो व्यक्तियों के किसी भी व्यवहार में नाम राशि की प्रधानता होती है । इनमें जन्मराशि का विचार नहीं करना चाहिए ॥ २६ ॥

जन्मराशि की प्रधानता—

विवाहे व्रतबन्धे च यात्रायां क्षौरकर्मणि ।
माङ्गल्ये गोचरे चैव जन्मराशेः प्रधानता ॥२७॥

विवाह, उपनयन, यात्रा, क्षौर (चूड़ाकरणादि) प्रत्येक माङ्गलिक कार्य तथा गोचर से फल देखने में जन्मराशि की प्रधानता है ॥२७॥

ऋण-धन और गृह की दशा ज्ञानार्थ वर्ग, वर्गेश—

अवर्गो गरुडो ज्ञेयो मार्जारस्तु कवर्गकः ।
चवर्गः सिंह आख्यातष्टवर्गः कुक्कुरः स्मृत ॥२८॥
तवर्गः सर्प आख्यातः पवर्गो मूषको मतः ।
यवर्गस्तु गजः प्रोक्तः सवर्गो मेषसंज्ञकः ॥२९॥
आदीनामष्टवर्गाणां दिशः पूर्वादिकाः क्रमात् ।
अष्टाक्ष-षट्-कृताः सप्तचन्द्राग्निद्विमिताः स्वराः ॥३०॥
स्ववर्गात् पञ्चमः शत्रुश्चतुर्थो मित्रसंज्ञकः ।
अन्ये मिथ उदासीना इति ज्ञात्वा फलं वदेत् ॥३१॥

अवर्ग (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ,) = गरुड । कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ,) मार्जार । चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) =सिंह । टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) =श्वान । तवर्ग (त, थ, द, ध, न) =सर्प । पवर्ग (प, फ, ब, भ, म)=मूषक । यवर्ग (य, र, ल, व) गज । शवर्ग (श, ष, स, ह) =मेष । ये आठ वर्ग हैं । इन अवर्गादि की क्रमसे पूर्व आदि आठ दिशायें हैं तथा क्रमसे ८ । ५ । ६ । ४ । ७ । १ । ३ । २ । ये स्वर संख्याएँ हैं । इन आठों वर्ग में अपने से पाँचवा वर्ग शत्रु और चतुर्थ मित्र तथा अन्य संख्या हो तो उदासीन समझना एवं तदनुसार ही फल कहना चाहिए ॥ २८-३१ ॥

नामराशि से ग्रामराशि के शुभाशुभत्व—

नामभात् ग्रामभं द्व्यङ्कधीशदिक्संख्यकं शुभम् ।
षडष्टार्कमितं निन्द्यमतोऽन्यन्मध्यमं स्मृतम् ॥३२॥

अपने नाम की राशि से जिस ग्राम की राशि २ । ९ । ५ ।

११ । १० वीं संख्या में पड़े वह ग्राम वसने योग्य, जिस ग्राम की ६ । ८ । १२ वीं हो वह निन्दित तथा अन्य संख्या हो तो मध्यम समझना ॥ ३२ ॥

विशेष—

यदि एक ग्राम को छोड़कर अन्य ग्राम में बसना हो तो अपने नाम की राशि से क्रम से ग्राम की राशि तक गिनने से शुभ संख्या हो तो उस ग्राम में जाकर वसना चाहिए । यदि वसने की इच्छा वाले ग्राम की राशि अशुभ संख्या में हो तो उस ग्राम में जहाँ अपना घर बनावे, उस स्थान का अपने अनुकूल नाम रख लेना चाहिए ॥

ग्राम में वसने वाले का धन और ऋण का ज्ञान—

बशिष्ठादि महर्षियों के वचन—

"साध्यवर्गं पुरः स्थाप्य साधकं पृष्ठतो न्यसेत् ।
अष्टभिस्तु हरेद्भागं साधकस्य धनं स्मृतम् ॥
व्यत्ययेनागतं शेषं साधकस्य च तदृणम् ।
धनाधिकं स्वल्पमृणं सर्वसम्पत्प्रदं नृणाम् "

वसने वाला साधक और ग्राम साध्य कहलाता है । साध्य (ग्रामके) आदि अक्षर से वर्ग संख्या प्रथम लिखकर उसके पृष्ठ (बाएँ) भाग साधक (बसने वाले के नाम के आदि अक्षर की वर्ग संख्या) लिखकर उन दोनों अक से जो संख्या बने उसमें ८ (आठ) के भाग देने से जो शेष बचे वह साधक (बसने वाले) का धन (काकिणी) और इन्हीं दोनों वर्ग के अंक को उलटकर रखने से जो संख्या हो उसमें ८ के भाग देने से जो शेष बचे वह साधक का ऋण होता है । इस प्रकार यदि अधिक धन और अल्प ऋण हो तो उस ग्राम में बसने से सब प्रकार की सम्पत्ति होती है ।

८ वर्गों के स्वामी स्वरसंख्यादिशाज्ञानार्थ चक्र—

वर्गसंख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
वर्ग	अवर्ग	कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग	यवर्ग	शवर्ग
स्वामी	गरुड़	मार्जार	सिंह	श्वान	सर्प	मूषक	गज	मेष
दिशा	पूर्व	अग्नि	दक्षिण	नैऋर्त्य	पश्चिम	वायु	उत्तर	ईशान
स्वराङ्क	८	५	६	४	७	१	३	२
शत्रु	सर्प	मूषक	गज	मेष	गरुड़	मार्जार	सिंह	श्वान

स्ववर्गेऽति शुभं श्रेयं मित्रवर्गेऽपि शोभनम् ।
उदासीने फलं मध्यं शत्रुवर्गं परित्यजेत् ॥

स्व वर्ग में अति श्रेष्ठ, मित्रवर्ग में भी शुभ, उदासीनमें मध्यम फल होता है । शत्रुवर्ग त्याज्य है ।

उदाहरण—

जैसे वास करनेवाले का नाम सीताराम और ग्राम का नाम काशी है तो उसमें वास कैसा होगा ? इसका विचार करना है तो 'सीताराम' का ८ वाँ सवर्ग जिसका स्वामी मेष है। और 'काशी' का कवर्ग २ जिसका स्वामी मार्जार है। परस्पर गिनने से ३·७ होने से उदासीनता है। तथा नाम राशि कुम्भ से ग्राम राशि मिथुन तक संख्या ५ होने से ग्राम वसने योग्य हुआ।

तथा धन-ऋण विचारार्थ साध्य (ग्राम) की वर्गसंख्या २ लिखकर उसके बाएँ नाम वर्ग संख्या ८ रखकर =८२ इसमें ८ के भाग देने से शेष २ यह साधक का धन हुआ। इन दोनों वर्ग संख्या (८२) को उलटकर रखनेसे २८, इसमें ८ का भाग दिया तो शेष ४ यह साधक (वसने वाले) का ऋण हुआ। अतः धन से ऋण अधिक होने से ठीक नहीं हुआ।

अतएव काशी में ही "त्रिपुरा भैरवी" नामक मुहल्ले में वास का फल विचारार्थ-साध्य (ग्राम) वर्ग संख्या ५ तवर्ग के पृष्ठ भाग में साधक वर्ग संख्या ८ रखने से ८५ इसमें ८ का भाग दिया तो शेष ५ यह साधक का धन हुआ। तथा इन्हीं दोनों अङ्कोंको उलट कर रखने से = ५८ इसमें ८ का भाग दिया तो शेष २, यह साधक (वसने वाले सीताराम) का ऋण हुआ। यहाँ धन अधिक और ऋण अल्प हुआ। तथा नामराशि कुम्भ से ग्राम राशि तुला ९ वीं हुई एवं वर्गेश मेष और सर्प में उदासीनता होने के कारण "सीताराम" के लिये त्रिपुराभैरवी मुहल्ला वास के लिये श्रेष्ठ सिद्ध हुआ।

विशेष—

इसीको रामाचार्य ने कहा है—

स्वं वर्गं द्विगुणं विधाय परवर्गाढ्यं गजैः शेषितम् ।
काकिण्यस्त्वनयोश्च तद्विवरतो यस्याधिकाः सोऽर्थदः ॥

अर्थात् नाम और ग्रामकी काकिणी (पूर्वसमयका सिक्का=धन) के साधनार्थ, अपनी वर्ग संख्या को दूना करके दूसरे की वर्ग संख्या जोड़कर ८ के भाग देने से जो शेष बचे, वह अपनी-अपनी (नाम और ग्राम) की काकिणी [सम्पत्ति] होती है। इन दोनों में जिसकी काकिणी (धन) अधिक हो वह अर्थद (उत्तमर्ण=धन देने वाला) होता है। अर्थात् जिसकी काकिणी अल्प हो वह अधमर्ण ऋण लेने वाला होता है ॥

इस प्रकार से भी वही (पूर्व साधित) धन और ऋण होते हैं। जैसे—नाम की वर्ग संख्या सी (स वर्ग) ८ को दूना करके=१६ इसमें ग्राम त्रि (त वर्ग) की संख्या ५ जोड़कर २१—इसमें ८ का भाग दिया तो शेष ५ नाम (सीताराम) की काकिणी हुई। तथा ग्राम की वर्ग संख्या ५ को दूना किया तो १०, इनमें नाम की वर्ग संख्या ८ जोड़ दिया तो १८, इसमें ८ का भाग दिया तो शेष २; यह ग्राम (त्रिपुराभैरवी) की काकिणी हुई। अतः नाम की काकिणी अधिक होने से साधक (सीताराम) अर्थद धनदाता हुआ। यही उपरोक्त ऋषिवचन (साध्यवर्ग० इत्यादि) के अनुसार होता है।

इसकी उपपत्ति यह है कि "साध्यवर्ग पुरः स्थाप्य" इत्यादि के अनुसार नाम का धन= $\frac{\text{१० नामवर्ग+ग्रामवर्ग}}{\text{८}}$ । यहाँ लब्धिको छोड़कर

शेष से प्रयोजन होता है। अतः हर [८] से भाज्य को तष्टित करने से शेष नाम का धन= $\frac{\text{२ नामवर्ग+ग्रामवर्ग}}{\text{८}}$ । एवं ग्राम का धन= $\frac{\text{२ ग्रामवर्ग+नामवर्ग}}{\text{८}}$ । इससे "स्वं वर्गं द्विगुणं विधाय परवर्गाढ्यं गजैः शेषितम्" यह उपपन्न होता है।

कई टीकाकार या संशोधक—'अर्थद' शब्द देखकर प्रमादवश कुतर्क कर लिये कि ग्राम को अर्थद [धन दाता] होना अच्छा होगा, क्योंकि बसनेवाले को धन मिलेगा। इसलिये टीका में लिख दिये कि "ग्राम का धन अधिक होना अच्छा होगा।" किन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि कोई भी व्यक्ति ग्राम में सबसे धनवान् [धनदाता] ही होना चाहता है। दूसरों से धन चाहने वाला तो अधमर्ण, याचक [भिखमंगा] होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण है कि—कर्ण धनदाता थे, राजा भोज अर्थद [धनदाता] थे। अतः अर्थद होना ही श्रेष्ठ है। इसलिये साधक [नाम] की काकिणी ही अधिक होनी चाहिए।

जीवित-मृत भूमि लक्षण—

यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति तृणं सस्यं च वर्धते।
सा भूमिर्जीविता ज्ञेया मृता चातोन्यथा स्मृता ॥३३॥

जिस स्थान में वृक्ष के बीज रोपने से अङ्कुरित पल्लवित होकर बढ़े और स्वभावतः तृणादि उत्पन्न होकर बढ़ते हों, अन्न [धान्यादि] बोने से बढ़ते हों उस भूमि को जीवित, अन्यथा मृत भूमि समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

नोट—

कई पुस्तकों में लोग नाम-ग्राम के स्वर से या प्रश्नाक्षर से जीवित मृत भूमि का ज्ञान करते हैं, वह धूर्तों के द्वारा कपोलकल्पित समझना । कारण-**'प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रम्'** ज्यौतिष शास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्यता दी गई है । इसलिये जिस भूमि को देखकर मन प्रसन्न हो, उसमें बिना कुछ विचार के ही वास करना शास्त्रादेश है ।

शिवावलि द्वारा स्थान शुभाशुभ ज्ञान—

यस्मिन् स्थाने गृहं कार्यं तत्र रात्रौ प्रयत्नतः ।
शिवायै च बलिं दत्वा तच्छब्दं परिचिन्तयेत् ॥३४॥
ईशाने चेच्छिवा रौति हानिर्मङ्गलमुत्तरे ।
वायुकोणे यदा रौति भयं किञ्चित् प्रजायते ॥३५॥
पश्चिमायां दिशायां चेदानन्दः परिकीर्तितः ।
शब्दं करोति नैर्ऋत्ये चेत्तदा नैव शोभनम् ॥३६॥
कल्याणं दक्षिणे भागे वह्निकोणे भयं महत् ।
उच्चाटनं च पूर्वस्यां कलिर्वा शत्रुभिः सह ॥३७॥
अष्टदिक्षु यदा रौति तत्र वासो न शोभनः ।
निश्शब्दे सर्वथा लाभ इत्युक्तं पूर्वसूरिभिः ॥३८॥

जिस भूमि में वास करना हो वहाँ रात्रि में दही भात की बलि देकर शिवा (गीदड़ी) के शब्द का विचार करना । यदि स्थान के ईशान कोण में शिवा का शब्द सुनाई पड़े तो हानि, उत्तरदिशा में सुन पड़े तो मङ्गल (शुभ), वायुकोण में भय, पश्चिम में आनन्द,

नैर्ऋत्यकोण में अशुभ, दक्षिण में कल्याण, अग्निकोण में भय तथा पूर्वदिशा में शब्द सुन पड़े तो उच्चाटन और शत्रु से कलह फल समझना। यदि सब दिशा में शब्द सुन पड़े तो अति अशुभ समझकर वहाँ वास नहीं करना। यदि किसी दिशा में शब्द न सुन पड़े तो सब प्रकार शुभफल समझ कर वहाँ वास करना चाहिये ॥ ३४–३८ ॥

प्रकारान्तर से शुभाशुभ भूमि परीक्षा—

"श्वभ्रं हस्तमितं खनेदिह जलं पूर्णं निशास्ये न्यसेत्।
प्रातर्दृष्टजलं स्थलं सदजलं मध्यं त्वसत् स्फाटितम् ॥३९॥"

(मु० मा०)

एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा वास भूमि में खात बनाकर उसमें सायंकाल जल भर देना, रात भर छोड़कर प्रातःकाल देखना यदि उसमें कुछ भी जल अवशिष्ट रह जाय तो भूमि को अत्युत्तम समझना। अर्थात् जितना ही अधिक जल बचे उतना अधिक शुभ समझना। यदि जल सूख जाय और खात की भूमि फट न जाय (अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहे) तो मध्यम। एवं जल सूखकर खात भूमि भी फटी हुई दृष्टिगत हो तो अशुभ समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

पुनः प्रकारान्तर—

चतुर्वर्तियुतं दीपं भूमौ प्रज्वाल्य यत्नतः।
सच्छिद्रभाण्डेनाच्छाद्य गच्छेत् पदशतं ततः ॥४०॥
समागत्य पथा तेन दीपं पश्येत् पुनश्च तम् ॥
तस्मिन् प्रज्वलिते भूमिः शुभा ज्ञेयाऽन्यथाऽशुभा ॥४१॥

वासभूमि में चौमुख दीप में चारों बत्तियों को प्रज्वालित करके रखे, उसको छेद किये दूसरे भाण्ड (वर्तन अथवा चलनी आदि) से ढककर वहाँ से वासकर्त्ता १०० पद किसी दिशा में चलकर पुनः उसी मार्ग से वहाँ आकर देखे, यदि दीप में बत्ती प्रज्वालित हो तो भूमिको शुभ समझना, अन्यथा अशुभ। यहाँ भी चारों बत्ती प्रज्वलित हो तो पूर्ण-शुभ, तीन में चतुर्थांशोन, दो में आधा और यदि एक बती प्रज्वलित हो तो चतुर्थांश शुभ समझना ॥ ४०-४१ ॥

सबसे सरल प्रकारः—

हस्तमात्रं खनेत् खातं पुनस्तेनैव पूरयेत् ।
पांशुनाऽधिकमध्योने श्रेष्ठमध्याऽधमाः क्रमात् ॥४२॥

वास भूमि में १ घन हस्त खात बनाकर, पुनः खात से निकली हुई मिट्टी से उस खात को भरे, यदि मिट्टी बच जाय तो श्रेष्ठ, यदि पूर्ण हो जाय तो मध्यम और यदि खात खाली रह जाय तो अशुभ समझे ॥ ४२ ॥

भूमि में कुछ वस्तुयें (हड्डी-लकड़ी कोयला-केश आदि) शल्य रूप (कष्टकारक) रहते हैं अतः इसकी परीक्षा के लिए वास्तुकर्त्ता दैवज्ञों से प्रश्न करें और दैवज्ञों को चाहिए कि—

स्मृत्वेष्टदेवतां प्रश्नवचनस्याद्यमक्षरम् ।
गृहीत्वा च ततः शल्याशल्यं सम्यग् विचारयेत् ॥४३॥

वास्तु कर्त्ता को चाहिए कि इष्ट देवता का स्मरण करके किसी देवता या वृक्ष-अथवा फल का नाम लेवें या किसी बालक-बालिका के द्वारा नाम ग्रहण करावे। फिर दैवज्ञ (ज्योतिषी) प्रश्न के प्रथम अक्षर से शल्य या अशल्य समझे ॥ ४३ ॥

यथा—

अ-क-च-ट-त-प-य-श ह-प-या वर्णाः पूर्वादिमध्यान्ताः ।
शल्यकरा इह नान्ये, शल्यं चेदुद्धरेद् यत्नात् ॥४४॥

प्रश्न के प्रथम अक्षर अ, क, च, ट, त, प, य, श हों तो क्रम से पूर्व दक्षिण आदि दिशाओं में शल्य समझे । तथा यदि ह, प, य, इन में कोई अक्षर हो तो स्थान के मध्य में भी शल्य समझना और उसको वहाँ से निकलवाकर घर बनावें । यदि इन अक्षरों से भिन्न अक्षर प्रश्न के आदि में हो तो उस भूमि को सशल्य नहीं समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

उदाहरण—जितने स्थान में घर बनाना हो उसके ९ भाग [समान] बनावें, अ-क आदि अक्षर पूर्व आदि दिशा में और ह, प, य, मध्य में समझे । जिस भाग में शल्य हो वहाँ से उतनी मिट्टी निकालकर बाहर फेंक देनी चाहिये ॥

पू०

उ०	श.	अ.	क.	द०
	य	ह. प. य	च	
	प	त	ट	

प०

यदि शल्य है तो क्या और कितने नीचे—

अः प्रश्ने चेत् तदा प्राच्यां नरशल्यं विनिर्दिशेत् ।
सार्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुष्यमृत्युकृत् ॥ ४५ ॥
आग्नेय्यां दिशि कः प्रश्ने खरशल्यं करद्वये ।
राजदण्डो भवेत तत्र भयं नैव निवर्तते ॥ ४६ ॥

यदि प्रथम अक्षर 'अ' हो तो पूर्व भाग में डेढ़ हाथ नीचे मनुष्य की हड्डी मरणकारक, 'क' हो तो अग्निकोण में गदहे की हड्डी राजदण्ड-कारक समझना ॥ ४५-४६ ॥

चः प्रश्ने दक्षिणे भागे कुर्यादाकटिसंस्थितम् ।
नरशल्यं गृहेशस्य मरणं चिररोगतः ॥ ४७ ॥
टः प्रश्ने दिशि नैर्ऋत्यां सार्धहस्तादधस्तले ।
शुनोऽस्थि तत्र ज्ञातव्यं बालानां हानिकारकम् ॥ ४८ ॥

प्रश्न में 'च' हो तो दक्षिण भाग में कटिपर्यन्त नीचे मनुष्य की हड्डी, चिररोग से मरणकारक, 'ट' हो तो कुत्ते की हड्डी डेढ़ हाथ नीचे नैर्ऋत्यकोण में बालकों के लिए हानिकारक होती है ॥ ४७-४८ ॥

तः प्रश्ने पश्चिमायां तु शिशोः शल्यं प्रजायते ।
सार्धहस्ते गृहस्वामी न तिष्ठति सदा गृहे ॥ ४९ ॥
पः प्रश्ने दिशि वायव्यां तुषाङ्गाराश्चतुष्करे ।
कुर्वन्ति मित्रनाशं च दुःस्वप्नदर्शनं तथा ॥ ५० ॥

'त' कार हो तो पश्चिम भाग में बच्चों की हड्डी डेढ़ हाथ नीचे समझे । उससे घर का मालिक सदा घर में नहीं रहता है । 'प' कार हो तो ४ हाथ नीचे भूसा, कोयला आदि समझे । वह मित्र की हानि करता है और दुःस्वप्न दिखलाता है ॥ ४९-५० ॥

उदीच्यां दिशि 'यः' प्रश्ने विप्रशल्यं कटेरधः ।
तद्भवेन्निर्धनत्वाय धनिनां महतामपि ॥५१॥
ऐशान्यां दिशि 'शः' प्रश्ने गोशल्यं सार्धहस्ततः ।
तत् पशूनां विनाशाय जायते गृहमेधिनः ॥५२॥

यदि 'य' प्रश्न में हो तो उत्तर भाग में कटि पर्यन्त नीचे विप्र का शल्य धनहानिकारक होता है। 'श' कार हो तो ईशानकोण में डेढ़ हाथ नीचे गो-शल्य पशु का नाशकारक समझना ॥ ५१-५२ ॥

हपया मध्यमे कोष्ठे वक्षोमात्रमधःस्थितम् ।
नृकपालं कचो भस्म लोहं तत् कष्टदं महत् ॥५३॥

यदि 'ह' हो तो मध्य भाग में मनुष्य की खोपड़ी, 'प' हो तो केश या राख और 'य' हो तो लोह समझे, ये अत्यन्त कष्ट देने वाले होते हैं ॥ ५३ ॥

शल्यशोधन—

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा ।
निखनेत् क्षेत्रमुद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत् ॥५४॥

प्रश्न के द्वारा यदि भूमि स-शल्य मालूम हो तो जिस भाग में शल्य हो उस भाग को अथवा जितना लम्बा चौड़ा घर बनाना हो उतनी ही भूमि को जहां जल मिले या प्रस्तर मिले या गृहकर्ता की ऊँचाई के बराबर खोदकर शल्य सहित मिट्टी निकाल कर बाहर फेंक दें। पुनः अन्य शुद्ध मिट्टी या प्रस्तर आदि से जमीन के खात (नींव) को भर कर घर बनावें। अथवा खोदते समय जो शल्य मिले उसी को निकाल कर घर बनावें ॥ ५४ ॥

दिशा साधन और उसका प्रयोजन—

अलिन्दे भवने द्वारे यज्ञकुण्डे विशेषतः ।
दिङ्विमूढे विपत्तिः स्यात् तस्मात् संसाधयेद् दिशः ॥ ५५॥

अलिन्द (ओसारी घर या बगीचा आदि की चहारदीवारी) भवन और घर के द्वार में भीत ठीक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम होनी चाहिये,

अन्यथा हानि होती है। यज्ञ-कुण्ड में तो अवश्य ठीक दिशा होनी चाहिये। इसलिए शास्त्रोक्त विधि से दिशा-ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिये॥ ५५॥

ज्यौतिषसिद्धान्तग्रन्थों में सूक्ष्म दिशा ज्ञान प्रकार कहा गया है। स्थूल और सूक्ष्म दिशा के २ भेद होते हैं। सूक्ष्म का ज्ञान अशक्य ही नहीं मनुष्यों के लिये असम्भव भी है। अतः संसार में व्यवहार स्थूल मान से ही होता है। सूक्ष्म दिशा का विचार सिद्धान्त ग्रन्थों में किया गया है। व्यवहार के लिये तिथ्यादि पञ्चाङ्गों का भी साधन स्थूल-मान से ही कहा गया है जो 'करण'-ग्रन्थ नाम से कहे जाते हैं। अतः करण-ग्रन्थोक्त दिक्साधन-प्रकार दिखलाया जाता है :

वृत्ते समभूगतेऽथ केन्द्रस्थितशङ्को क्रमशो विशत्यपैति।
छायाग्रमिहापरा च पूर्वा ताभ्यां सिद्धतिमेरुदक् च याम्या॥५६॥

भूमिको दर्पणोदर सदृश समतल बनाकर उसमें एक वृत्त बनावें। उसके केन्द्र में शङ्कु (सरल लकड़ी आदि की शलाका) को सीधा खड़ा कर दे। पूर्वाह्न में उसकी छाया का अग्रभाग वृत्तपरिधि में जहाँ स्पर्श करें वह पश्चिम विन्दु और अपराह्न में छायाग्र जिस बिन्दु में लगकर परिधि से बाहर निकले वह पूर्व बिन्दु समझे। उन दोनों विन्दु में लगी हुई सरल रेखा पूर्वापर और मत्स्य द्वारा अथवा उसी पूर्वापर रेखापर केन्द्रविन्दु से लम्ब रेखा करने से याम्योत्तर रेखा होती है। इस प्रकार वहाँ दिशा जानकर उसी के समानान्तर घर या कुण्ड आदि में याम्योत्तर-पूर्वापर दिशा समझे॥ ५६॥

गृह का शुभप्रद पिण्ड

घर की लम्बाई और चौड़ाई का गुणनफल पिण्ड (गृहका देह) कहलाता है। गृहकर्ता के हाथ से इतनी लम्बाई और चौड़ाई लेनी

चाहिए जिससे पिण्ड शुभप्रद हो। उसके विषय में अनार्ष युक्तिहीन बहुत से प्रकार के वचन मिलते हैं।

यथा ९ प्रकार के मण्डल—

स्वामिहस्तप्रमाणेन दीर्घं विस्तारसंयुतम्।
नवभिस्तु हरेद् भागं शेषं मण्डलमुच्यते ॥५७॥
दाता भूमिपतिश्चैव क्लीबश्चौरो विचक्षणः।
भोगी धनी दरिद्रश्च धनदो नवमः स्मृतः ॥५८॥

गृहकर्त्ता के हाथ से लम्बाई और चौड़ाई के योग में ९ के भाग देने से १ आदि शेष में क्रमसे ९ मण्डलेश होते हैं। यथा १ शेष में दाता, २ में राजा, ३ में नपुंसक, ४ में चोर, ५ में पण्डित, ६ में भोगी, ७ में धनी, ८ में दरिद्र और ९ में धनप्रद। इनके नाम के अनुसार फल माने गये हैं ॥५७-५८॥

ऐसे और भी स्थान की जाति कल्पना से फल कहे गये हैं। किन्तु वे अनार्ष कपोलकल्पित समझ कर विज्ञजन व्यवहार में नहीं लाते हैं। पूर्वाचार्यों का मत है कि गृह के पिण्ड (क्षेत्रफल) द्वारा-जो नक्षत्र हो-उस नक्षत्र के साथ गृहपति के नक्षत्र से वधूवर के मेलापक विचार से यदि अधिक गुण मिलता हो तो उसी पिण्ड के तुल्य घर बनाना चाहिए।

परञ्च इस प्रकार के गृहपिण्ड ढूँढ़ने में बहुत आयास करना पड़ता था उस आयास को हटाने के लिए किसी विज्ञ महापुरुष ने पिण्ड साधन का ऐसा प्रकार बनाया जिससे गृह का नक्षत्र-अपने नामके नक्षत्र से अधिक गुण वाला ही होता है। अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों में केवल ९ नक्षत्र ही गृह के लिए विशेष शुभप्रद कहे गये हैं। यथा—

गृह के शुभप्रद और अशुभप्रद नक्षत्र—

त्रिभिस्त्रिभिर्वेश्मनि कृत्तिकाद्यै-रुद्वेग-पुत्राप्ति-धनाप्ति-शोकाः ।
शत्रोर्भयं राजभयं च मृत्युः सुखं प्रवासः क्रमतः फलानि । ५९ ।।

गृह का नक्षत्र कृत्तिका, रोहिणी या मृगशिरा हो तो उद्वेग, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य हो तो सन्तान लाभ, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी हो तो धनलाभ, उत्तरफाल्गुनी, हस्त, चित्रा हो तो शोक, स्वाती, विशाखा, अनुराधा हो तो शत्रुभय, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ हो तो राज-भय, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठ हो तो मरण, शतभिषा, पूर्वाभाद्र, उत्तराभाद्र हो तो सुख तथा रेवती, अश्विनी, भरणी में कोई नक्षत्र हो तो प्रवास फल कहा गया है । इनमें ९ नक्षत्र ही शुभ हैं ।। ५९ ।।

आर्द्रा पुनर्वसुः पुष्यस्तथा श्लेषा मघा भगः ।
शताजपादहिर्बुध्न्यभानीष्टानि गृहे नव । ६० ।।

आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वफाल्गुनी, शतभिषा, पूर्वभाद्र और उत्तर भाद्र—ये ही नव नक्षत्र गृह के शुभप्रद हैं । अतः पिण्ड के द्वारा इन्हीं में से कोई नक्षत्र होना चाहिए, और यह भी देखना चाहिये कि जिस नक्षत्र के साथ वर-वधू मेलापकवत् अधिक गुण भी मिले ।। ६० ।।

गृह के ८ आय—

ध्वजो धूम्रो हरिः श्वा च गौः खरो गज-वायसौ ।
आया अष्टौ गृहे प्रोक्ता विषमाश्च शुभप्रदाः ।।६१।।

१ ध्वज, २ धूम्र, ३ सिंह, ४ श्वान, ५ वृष, ६ गर्दभ, ७ गज और ८ काक—ये आठ आय हैं । इनमें विषम (१, ३, ५, ७) आय शुभप्रद हैं ।। ६१ ।।

इन आयों के फल—

कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनता सुखम् ।
रोगश्चेति गृहायानां ध्वजादीनां फलं क्रमात् ॥६२॥

अर्थ स्पष्ट है ॥ ६२ ॥

मेलापक विचारार्थ—गृहनक्षत्र से राशिज्ञान—

अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे ज्ञेयं मघात्रयम् ।
मूलादित्रितयं चापे, शेषभेषु द्वयं द्वयम् ॥६३॥

अ० भ० कृ०=मेष । रो० मृ०=वृष । आ० पुन०=मिथुन । पु० श्ले०=कर्क । म० पूफा० उफा०=सिंह । ह० चि०=कन्या । स्वा० वि०=तुला । अनु० ज्ये०=वृश्चिक । मू० पूषा० उषा०=धनु । श्र० ध०=मकर । श० पूभा० = कुम्भ । उभा० रे० = मीन ॥६३॥

वर्णपरत्व से इष्ट आय—

ध्वजं विप्रगृहे दद्यात् सिंहं नृपगृहे तथा ।
वृषं वैश्यगृहे तद्वद् गजं शूद्रगृहेऽर्पयेत् ॥६४॥

ब्राह्मण के घर में ध्वज आय, क्षत्रिय के घर में सिंह, वैश्य के घर में वृष और शूद्र के गृह में गज आय प्रशस्त है ॥ ६४ ॥

चर्मकारगृहे धूम्रः कुक्कुरो रजकस्य च ।
खरो वेश्यागृहे शस्तः ध्वांक्षश्चान्त्यजजातिषु ॥६५॥
महानसेऽग्निशालायां गृहे चाग्न्युपजीविनाम् ।
धूम्रो देयस्तथाऽऽरामतडागादौ गजः शुभः ॥६६॥
चतुर्णामपि वर्णानां चत्वारो विषमा शुभाः ।
उक्तानां वाप्यनुक्तानां ध्वजः सर्वत्र शस्यते ॥६७॥

अन्त्यजों के घर में धूम्र, धोबी के घर श्वान, वेश्या के घर खर और अन्य अन्त्यज जातियों के घर में ध्वांक्ष, रसोई (पाकशाला) तथा अग्निशाला में धूम्र, वाटिका तड़ागादि में गज आय प्रशस्त होता है। सामान्य रूप से ध्वज, सिंह, वृष और गज ये चारों आय सर्व जातियों के लिए प्रशस्त कहे गये हैं ॥ ६५-६७ ॥

अब इष्ट नक्षत्र और इष्ट आय द्वारा पिण्डसाधन प्रकार—

एकोनितेष्टर्क्षहता द्वितिथ्यो रूपोनितेष्टायहतेन्दुनागैः ।
युक्ता धनैश्चापि युता विभक्ता भूपाश्विभिःशेषमितो हि पिण्डः ।६८

इष्टायनक्षत्रभवोऽथ दैर्घ्यहृत् स्याद्विस्तृतिर्विस्तृतिहृच्च दीर्घता ।
एकादिनिघ्नै रसचन्द्रबाहुभिर्युक्तोऽथ पिण्डो बहुधाऽवगम्यताम् ६९

(उक्त ग्रह के शुभ ९ नक्षत्रों जिसके साथ मेलापक विधि से अधिक गुण योग हो, वह इष्ट नक्षत्र मानना) उस नक्षत्र की संख्या में एक घटा कर शेष से १५२ को गुणा करना। फिर इष्ट आयसंख्या में १ घटाकर शेष से ८१ को गुणा करना, दोनों गुणनफल को जोड़कर उसमें १७ और जोड़ देना, फिर योगफल में २१६ के भाग देने से जो शेष बचे वह गृह का मूलपिण्ड होता है। पिण्ड में जितनी लम्बाई इष्ट हो उसके भाग देने से लब्धितुल्य विस्तार समझना। अथवा जितना विस्तार इष्ट हो उससे पिण्ड में भाग देने से लब्धि दैर्घ्य (लम्बाई) समझना चाहिये। अथवा मूल पिण्ड अल्प हो तो उस में १ आदि अंक से गुणित २१६ जोड़ने से अनेक प्रकार के पिण्ड होंगे। उनमें अपनी इच्छानुसार पिण्ड ग्रहण करना चाहिये ॥ ६८-६९ ॥

विशेष—

गेह-गेहेशयोः सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत् ।
एकनाडी शुभाऽप्यत्र द्वयोरेकर्क्षकं विना ।७०॥

गृह और गृहपति के वर-वधू के समान विवाहवत् विचार करना । यहाँ एकनाड़ी प्रशस्त है, यदि एक नक्षत्र नहीं हो तो ॥७०॥

इसलिये पिण्डसाधनार्थ गृहपति के नाम नक्षत्र को छोड़ कर अन्य नक्षत्र इष्ट लेना चाहिये ।

पिण्ड साधन का उदाहरण—

गृहेश (सीताराम) के नाम नक्षत्र शतभिषा को गृह के शुभ नक्षत्रों में मघा के साथ मेलापक विधि से २६ गुण है । अतः गृह का इष्ट नक्षत्र मघा हुआ । जिसकी अश्विनी से संख्या दश हुई । तथा इष्ट आय तृतीय (३) सिंह लिया । इष्ट नक्षत्र में एक घटा कर शेष ९, इससे १५२ को गुणा करके १३६८ गुणनफल एवं इष्ट आय ३ में १ घटाकर २ से ८१ को गुणा करने से गुणनफल १६२ दोनों गुणनफल को जोड़ने से १५३०, इसमें १७ जोड़ने से १५४७, इसमें २१६ के भाग देने से शेष ३५ यह पिण्ड (गृह का क्षेत्रफल) हुआ । यदि ७ हाथ लम्बाई रखना है तो ७ के भाग देने से लब्धि (पाँच) ५ यह विस्तार हुआ । किन्तु इस प्रकार का घर बहुत छोटा होगा । इसलिए इस पिण्ड में २१६ जोड़ने से २५१ यह दूसरा पिण्ड हुआ । यदि घर की लम्बाई १९ हाथ रखना हो तो द्वितीय पिण्ड में १९ के भाग देने से लब्धि १३ हाथ ५ अङ्गुल, स्वल्पान्तर से जब आधा से कम हुआ इसलिए छोड़ दिया । भागक्रिया देखिये ।

पिण्ड में भाग क्रिया

```
दैर्घ्य  )  पिण्ड  (  विस्तार
१९      )  २५१   (  १३ हस्त
           २४७
          ××४×२४
                ९६ ( ५ अंगुल
                ९१
               ×१×
                  ( ० जव
```

पिण्ड इसप्रकार का ग्रहण करना चाहिये जिससे शुभप्रद आय, नक्षत्र आदि हो।

एकादशयवादूर्ध्वं द्वात्रिंशहस्तकावधि।
तावदायादिकं चिन्त्यं तदूर्ध्वं नैव चिन्तयेत् ॥७१।
यत्र दैर्घ्यं गृहादीनां द्वात्रिंशहस्ततोऽधिकम्।
न तत्र चिन्तयेद्धीमान् गुणमायव्ययादिकम्।७२॥

वशिष्ठ का मत है कि—११ जव से लेकर अधिक से अधिक ३२ हाथ के भीतर ही जहाँ दैर्घ्य हो वहीं आय-व्यय नक्षत्रादि का विचार करना। ३२ हाथ से ऊपर के घर में इन सब का विचार नहीं करना चाहिये। दूसरे श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥ ७१-७२ ॥

आलय, महालय और कुटी—

भवनं चालयः प्रोक्तो नेत्र-वह्निकरावधिः।
महालयस्ततश्चोर्ध्वं कुटी रुद्रकराल्पिका ॥७३॥

११ हाथ से ऊपर ३२ हाथ पर्यन्त लम्बाई वाला घर 'आलय' और ३२ हाथ या उससे अधिक ... लम्बाई वाला 'महालय' तथा ११ हाथ से अल्प वाली 'कुटी' कहलाती है। मुहूर्तमार्तण्डकार ने भी कहा है—। ७३।।

द्वात्रिंशाधिकहस्तमब्धिवदनं तार्णं त्वलिन्दादिकम् ।
नैष्वायादिकमीरितं तृणगृहं सर्वासमास्वुदितम् ।।७४।।

अर्थ स्पष्ट है ।। ७४ ।।

विशेष—

आयव्ययौ धराशुद्धिं तृणगेहे न चिन्तयेत् ।
शिलान्यासादि नो कुर्यात् तथाऽऽगारे पुरातने ।।७५।।

अर्थ स्पष्ट है ।। ७५ ।।

पिण्ड से आय, वार, नक्षत्र आदि-साधन प्रकार—

पिण्डे नवाङ्काङ्ग-गजाग्नि-नाग-नागाधिनागैर्गुणिते क्रमेण ।
विभाजिते नागनगाङ्कसूर्यनागर्क्षतिथ्यृक्षखभानुभिश्च ।।७६।।

आयो वारोंऽशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः ।
आयुश्चाथ गृहेशर्क्षगृहभैक्यं मृतिप्रदम् ।।७७।।

इष्ट पिण्ड (या मूल पिण्ड) को ९ स्थान में रख कर क्रम से ९, ९, ६, ८, ३, ८, ८, ४, ८, से गुणा करके पृथक् पृथक् गुणनफल में क्रमसे ८, ७, ९, १२, ८, २७, १५, २७, १२० के भाग देने से शेष-क्रम से आय, वार, अंश, द्रव्य, ऋण, नक्षत्र, तिथि, योग, और आयुर्दाय होते हैं। इस प्रकार गृह का नक्षत्र और नाम नक्षत्र एक हो तो वह गृह अशुभ होता है ।। ७६-७७ ।।

इसलिए शुभप्रद नक्षत्र भी नाम नक्षत्र हो तो उसको पिण्ड-साधनार्थ इष्ट नक्षत्र नहीं मानना चाहिए।

उदाहरणः—साधित मूल पिण्ड ३५ इसको ९ से गुणा करने से ३१५ इसमें ८ के भाग देनेसे शेष ३, सिंह आय हुआ।

वार जानने के लिए–पिण्ड ३५ को ९ से गुणा करने से ३१५ इसमें ७ के भाग देनेसे शेष ०=(७) शनिवार हुआ।

नक्षत्र जानने के लिए--पिण्ड ३५ को ६ से गुणा करने से २१० इसमें ९ के भाग देने से शेष तीन अंश हुआ। इसी प्रकार आगे अपने-अपने गुणकसे गुनाकर भाजक से भाग देने तथा शेष धन, ऋण नक्षत्र आदि भी समझना चाहिए॥

इस प्रकार जो अंश आता है वह गृह के नक्षत्र की जो पूर्वोक्त विधि ("अश्विन्यादि त्रयं मेष०") इत्यादि रीति से राशि हो उस राशि का तैवाँ नवांश समझना। यथा यहाँ गृहनक्षत्र मघा है, उसकी सिंह राशि है। अतः सिंह राशि का तीसरा नवांश मेषादि गणना से मिथुन हुआ। जिसका स्वामी बुध है। इसलिए अंश भी शुभ हुआ।

अशुभ वार और अशुभ नवमांश—

त्याज्यावशुभदौ वारौ गृहे च रविमङ्गलौ।
तथा भौमार्कशन्यंशाः सदा वह्निभयप्रदाः॥७८॥

पिण्ड के द्वारा यदि वार रवि और मंगल आवे तो दोनों को अशुभ समझना तथा अंश यदि मङ्गल, रवि और शनि की राशि के हों तो अग्नि भय कारक होते हैं। अन्य वार और अंश शुभप्रद समझें॥७८॥

ताराऽनुसार गृहनक्षत्रफल--

गृहेशनामनक्षत्राद् गणयेद् गृहभावधि ।
नवभिर्विभजेच्छेषं त्रीष्वद्रिभमसत् स्मृतम् ॥७९॥

गृहपति के नाम नक्षत्र से गृहनक्षत्र पर्यन्त गिनकर ९ के भाग देने से ३, ५, ७ शेष बचे तो अशुभ, अन्य शेष शुभ समझना चाहिए ॥७९॥

त्याज्य योग और तिथि—

विष्कम्भकादिका योगा नामतुल्यफलप्रदाः ।
त्यजेद् दुर्नामिकान् योगान् दर्शरिक्तातिथींस्तथा ॥८०॥

विष्कम्भ, प्रीति इत्यादि नामक २७ योग अपने-अपने नाम-तुल्य फल देते हैं। इसलिए गृह में अशुभ योगों को और रिक्ता [४, ९, १४] तथा दर्श [३०] तिथि को त्याज्य कहा गया है ॥८०॥

आय और द्रव्य (धन) ऋण—

धनाधिकं स्वल्पमृणं गृहं सर्वसुखप्रदम् ।
ध्वजाद्याविषमायाश्च सदा ज्ञेयाः शुभप्रदाः ॥८१॥

इस प्रकार द्रव्य [धन] अधिक और ऋण अल्प हो तो सब प्रकार का सुख एवं ध्वजादि विषम [१, ३, ५, ७] आय शुभप्रद होते हैं ॥ ८१ ॥

अब गृहारम्भकाल से गृह की दशा दो प्रकार से चलती है। एक, दिशा-ग्राम और नाम के स्वर के आधार पर जो एक वर्ग के नाम-वालों के लिए सदा स्थिर [एकरूप] रहती है। वह दिग्दशा कहलाती है। द्वितीय, आरम्भकालिक नक्षत्र के आधार पर विंशोत्तरी वत् नक्षत्र–दशा कहलाती है। जो नक्षत्र भिन्न भिन्न होने से चरदशा कहलाती है।

जैसे-स्वरवश स्थिर दशा—

गजशरतुयुगाश्वमहीगुणा द्विसहिता मघवादिदिशि स्वराः ।
गृहपतेरभिधा-पुरदिङ्मिता नवहृता भवनस्य दशा क्रमात् ॥८२

८, ५, ६, ४, १, ७, ३ ये पूर्वादि ८ दिशाओं में स्वराङ्क होते हैं। गृहपति के नाम, वर्ग के स्वराङ्क, ग्राम वर्ग के स्वराङ्क और दिशा के स्वराङ्क को जोड़कर ९ के भाग देने से शेष सूर्य आदि ग्रहों की दशा होती है ॥ ८२ ॥

दशा के स्वामी—

सूर्येन्दुभौमास्त्वगु-जीवमन्दाः सौम्यश्च केतुर्भृगुजो दशेशाः ।
षड्दिङ्नगाधृत्यवनीस्वराङ्कचन्द्रा घनाः सप्तनखा दशाब्दाः॥८३

एकादि शेष में क्रम से रवि, चन्द्र, मङ्गल, राहु, गुरु, शनि, बुध, केतु और शुक्र —ये दशा के स्वामी होते हैं। इनकी दशा की वर्ष-संख्या क्रम से ६, १०, ७, १८, १६, १९, १७, ७, २० होती है ॥ ८३ ॥

दिग्दशा उदाहरण—

'सीताराम' को त्रिपुराभैरवी मुहल्ला में पूर्व दिशा में घर बनवाना है—तो ग्राम वर्ग स्वर=७, नाम वर्ग स्वर २, दिशा वर्ग स्वर ८ सब के योग १७ में ९ का भाग देने से शेष ८ केतु की दशा आरम्भ में हुई। उसके बाद २० वर्ष शुक्र की, पुनः ६ वर्ष सूर्य की, इत्यादि आगे भी जानना।

नक्षत्र दशायुक्त भोग्यानयन—

हतं भयातं निजवर्षसंख्यया हृतं भभोगेन गतं समादिकम् ।
विशोध्य वर्षेभ्य इहावशेषकं समादिकं भोग्यमतः फलं वदेत् ॥८४

कृत्तिकादि नक्षत्र क्रम से जिस ग्रह की दशा हो उसके वर्ष संख्या को गृहारम्भ कालिक भयात से गुणा करके, गुणनफल में भभोग के भाग देने से, लब्धि वर्षादि दशा का भुक्त मान होता है। उसको दशा वर्ष संख्या में घटाने से शेष वर्षादि दशा का भोग्य [गृहारम्भ से आगे] मान समझना। इसके द्वारा जातकवत् फल समझना चाहिए।

दिशाओं में वर्ग स्वराङ्क

दिशा	पूर्व	अग्नि	दक्षि०	नैऋ०	पश्चि०	वायु	उत्तर	ईशान
वर्ग	अ	क	च	ट	त	प	य	श
स्वराङ्क	८	५	६	४	७	१	३	२

नक्षत्र दशा ज्ञानार्थ चक्र—

नक्षत्र	कृ० रो० मृ०	आ० पुन० पु०	श्ले० म० पूफा०	उफा० ह० चि०	स्वा० वि० अनु०	ज्ये० मू० पूषा०	उषा० श्र० ध०	श० पूभा० उभा०	रे० अ० भ०
दशेश	र०	चं०	मं०	रा०	गु०	श०	बु०	के०	शु०
वर्ष	६	१०	७	१८	१६	१९	१७	७	२०

नक्षत्र दशा उदाहरण—

सं० २०२० वैशाख शुक्ल ११ चन्द्रवार उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, इष्टकाल=५ घड़ी। स्पष्ट सूर्य ० । १९ । ३५ । ५ आर्ष लग्न = १ । १९ । ३५ । ५ उत्तरफाल्गुनी भयात ७ घड़ी भभोग ६५। यहाँ आरम्भकाल में उ० फा० नक्षत्र है। अतः सूर्य की दशा हुई। जिसकी वर्ष संख्या ६ से भयात घड़ी ७ को गुना करने से ४२ इसमें भोग घड़ी

६५ के भाग देने से लब्धि ० शून्य वर्ष, शेष ४२ को १२ से गुणा करने से ५०४ इसमें ६५ के भाग से लब्धि मास ७। शेष ४९ को ३० से गुना करने से १४७० इसमें भभोग ६५ के भाग देने से लब्धि दिन २२ शेष ४० यह अर्धाधिक है अतः १ ग्रहण करने से दिन २३ हुए एवं रवि के भुक्त वर्षादि ० । ७ । २३ इसको सूर्य वर्ष संख्या ६ में घटाने से भोग्य वर्षादि =५ । ४ । ७ दशा हुई इसके अनुसार—

ग्रह महादशा चक्र—

दशेश	र०	चं०	भौ०	रा०	गु०	श०	बु०	के०	शु०
वर्ष० मास दिन	५ ४ ७	१०	७	१८	१६	१९	१७	७	२०
संवत्	२०२५	२०३५	२०४२	२०६०	२०७६	२०९५	२११२	२११९	२१३९
सूर्य	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६	४ २६

आरम्भ कालिक लग्न चक्र—

जातक ग्रन्थानुसार-नक्षत्र दशा में त्रिकोणेश की दशा शुभ, त्रिषडाय (३, ६, ११) पति की दशा अनिष्ट, केन्द्र (४, ७, १०) पति की दशा उदासीन और २, ८, १२ भावों के स्वामी की दशा मध्यम होती है ।

एवं गृहारम्भ कालिक लग्न चक्र में ग्रहों की स्थिति से जातकवत् समझना चाहिये । एवं दिग्दशा और नक्षत्रदशा दोनों प्रकार से शुभ हो तो शुभ, दोनों प्रकार से अशुभ दशा हो तो अशुभ और एक प्रकार से शुभ, द्वितीय प्रकार से अशुभ हो तो मध्यम फल समझना । अशुभ दशा समय में दशेश की शान्ति के लिए (जप, दानादि) करना चाहिए ।

वास्तु भूमि में सूर्यवेध और चन्द्रवेध—

दैर्घ्यं याम्योत्तरं यत्र विस्तृतिः पूर्वपश्चिमा ।
चन्द्रवेध इति प्रोक्तः सूर्यवेधो विपर्ययात् ॥

जिस स्थान (क्षेत्र) में दक्षिणोत्तर दीर्घ और पूर्व पश्चिम विस्तार हो वहाँ चन्द्रवेध; विपरीत (अर्थात् पूर्व-पश्चिम दीर्घ दक्षिणोत्तर विस्तार हो) तो सूर्यवेध कहा गया है ।

वेध की प्रशस्ति—

ग्रामे च वास्तुनि क्षेत्रे तडागारामभूमिषु ।
चन्द्रवेधः प्रशस्तः स्यादन्यत्र नियमो नहि ॥

ग्राम और वास्तु (जितनी भूमि में घर बनाया जाय) तालाब और बगीचे में चन्द्रवेध प्रशस्त है, अन्यत्र वेध विचार की आवश्यकता नहीं ।

गृह में वेध विचार—

पूर्वापरमुखे गेहे चन्द्रवेधः प्रशस्यते ।
सूर्यवेधः प्रकर्तव्यस्तथा याम्योत्तराननेे ॥

पूर्व या पश्चिम मुख के घर में चन्द्रवेध और दक्षिण या उत्तर मुख के घर में सूर्यवेध प्रशस्त है ।

गृहों के भेद—

प्रत्येक घर में पूर्व आदि दिशाओं में मुख (द्वार) बनाये जाते हैं । किसी घर में एक मुख, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चारमुख (द्वार) होते हैं । एवं ४ दिशाओं में ४ मुख से कितने भेद होते हैं उनमें दो के जानने का छन्दःशास्त्रोक्त प्रस्तार—

भेदा यत्संख्याकानां हि ज्ञातव्यास्तत् पदं स्मृतम् ।
पदतुल्यान् गुरून् न्यस्य स भेदः प्रथमः स्मृतः ॥
गुरोरधो लघुं न्यस्य यथोपरि तदग्रतः ।
पृष्ठे पद्याद् गुरूनेवं यावत् सर्वलघुर्भवेत् ॥

जितनी संख्या के भेद जानना हो तो उसको पद कहते हैं । पद संख्या तुल्य गुरु चिह्न (ऽ) रखना यह प्रथम भेद होता है । पुनः प्रथम गुरु के नीचे लघु चिह्न (।) देकर आगे जैसे ऊपर हो उसी प्रकार गुरु चिह्न लगाना । इस प्रकार तब तक चिह्न लगावे जबतक सब लघु चिह्न हो जाय, इस प्रकार क्रमसे पद के भेद होते हैं ।

उदाहरण—

जैसे-चारदिशाओं में घर के ४ मुख कल्पना में कितने भेद होंगे । यह जानना है तो उक्तरीति से नीचे प्रस्तार देखिये—

	पू०	द.	प.	उ.	मुख द्वार	नाम
(१)	पू. S	द. S	प. S	उ. S	किसी दिशा में मुख नहीं ऊपर खुला	= ध्रुव
(२)	।	S	S	S	= पूर्वमुख	= धान्य
(३)	S	।	S	S	= दक्षिणमुख	= जय
(४)	।	।	S	S	= पूर्व दक्षिण	= नन्द
(५)	S	S	।	S	= पश्चिम मुख	= खर
(६)	।	S	।	S	= पूर्वपश्चिम मुख	= कान्त
(७)	S	।	।	S	= दक्षिणपश्चिम मुख	= मनोरम
(८)	।	।	।	S	= पूर्व दक्षिण पश्चिम मुख	= सुमुख
(९)	S	S	S	।	= उत्तर मुख	= दुर्मुख
(१०)	।	S	S	।	= पूर्व उत्तरमुख	= उग्र
(११)	S	।	S	।	= दक्षिण पश्चिममुख	= रिपुद
(१२)	।	।	S	।	= पूर्व दक्षिण उत्तरमुख	= वित्तद
(१३)	S	S	।	।	= पश्चिम उत्तर मुख	= नाश
(१४)	।	S	।	।	= पूर्वपश्चिम उत्तरमुख	= आक्रन्द
(१५)	S	।	।	।	= दक्षिण पश्चिम उत्तर मुख	= विपुल
(१६)	।	।	।	।	= चतुर्दिशमुख	= विजय

इस प्रकार गृह के १६ भेद होते हैं।

गृह के भेद की संख्या और नाम जानने का प्रकार—

दिक्षु पूर्वादितः शालाध्रुवा भूद्वौ कृता गजाः ।
शालाध्रुवाङ्कसंयोगः सैको वेश्म ध्रुवादिकम् ॥

गृहके मुख की दिशा में शाला होती है। पूर्व में १, दक्षिण में

२, पश्चिम में ४ और उत्तरशाला में ८ ध्रुवाङ्क होते हैं। गृह में जितनी शाला (द्वार) हो उन ध्रुवाङ्कों को जोड़कर उसमें १ जोड़ने से जो संख्या हो तत्संख्यातुल्य ध्रुव आदि नामक गृह समझना।

उदाहरण—जिसमें किसी दिशा में मुख न हो उसमें शाला ध्रुवाङ्क शून्य हुआ, १ जोड़ने से १ ही रहा, इसलिए उसका नाम ध्रुव समझना।

एवं यदि पूर्व दक्षिण दो दिशा में मुख हो तो दोनों शाला ध्रुवाङ्क का योग १+२=३ इस में १ जोड़ने से ४ चतुर्थ, नन्द नाम का गृह हुआ। प्रस्तार देखिये एवं और भी समझना।

इन १६ भेदों में किस भेद के गृह में अक्षर हैं उसके जानने के प्रकार—

आषष्ठं दशमं विश्वमितं च द्व्यक्षरं गृहम्।
शेषाणि त्र्यक्षराणि स्युः सप्तमं चतुरक्षरम्॥

इन १६ नाम के घरों में–१, २, ३, ४, ५, ६, १०, १३, इन ८ के नाम में २ अक्षर। केवल ७ वें घर में चार अक्षर और बाकी घरों के नाम में ३ अक्षर हैं। ऊपर प्रस्तार में देखिये।

गृह के व्यय और अंश का ज्ञान—

भं नागतष्टं व्यय ईरितोऽसौ ध्रुवादिनामाक्षरयुक्सपिण्डः।
तष्टो गुणैरिन्द्रकृतान्तभूपा ह्यंशा भवेयुर्न शुभोऽन्तकोऽत्र॥

गृह के इष्ट नक्षत्र में ८ के भाग देने शेष व्यय होता है। उस व्यय में गृह के ध्रुवादि, नाम के जितने अक्षर हो जोड़कर फिर उसमें गृह की पिण्ड संख्या को जोड़कर ३ के भाग देने से शेष १ हो तो इन्द्र, २ हो तो यम और ३ हो तो भूप (राजा) अंश होता है। इनके

नाम के समान फल होने के कारण कृतान्त (यम दूसरा) अंश शुभ नहीं होता है।

उदाहरण--सरल है।

गृहादि में परीक्षा या पूजनादि के लिए खात का स्थान—

देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः ।
मीनार्क-सिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे-खाते मुखात्पृष्ठविदिक् शुभा भवेत् ।

देवालय के लिए मीनादि ३, ३, राशियों में। गृह के लिए सिंहादि ३, ३, राशियों में। जलाशय के लिए मकरादि ३, ३, राशियोंमें। ईशान, वायु, नैऋति और अग्नि कोण में राहु (सर्पाकार वास्तु पुरुष) का मुख रहता है। मुख के सामने के कोण में पुच्छ रहता है तथा भ्रमण मार्ग में आगे का भाग मुख और पीछे का भाग पृष्ठ कहलाता है। खात बनाने में मुखदिशा के कोण से पृष्ठदिशा का कोण शुभ होता है।

राहुमुख ज्ञानार्थ चक्र

राहुमुखदिक्	ईशान	वायु	नैऋत्य	अग्नि	
देवालय	१२, १, २	३, ४, ५	६, ७, ८	९, १०, ११	सूर्यराशि
गृह	५, ६, ७	८, ९, १०	११, १२, १	२, ३, ४	सूर्यराशि
जलाशय	१०, ११, १२	१, २, ३	४, ५, ६	७, ८, ९	सूर्यराशि
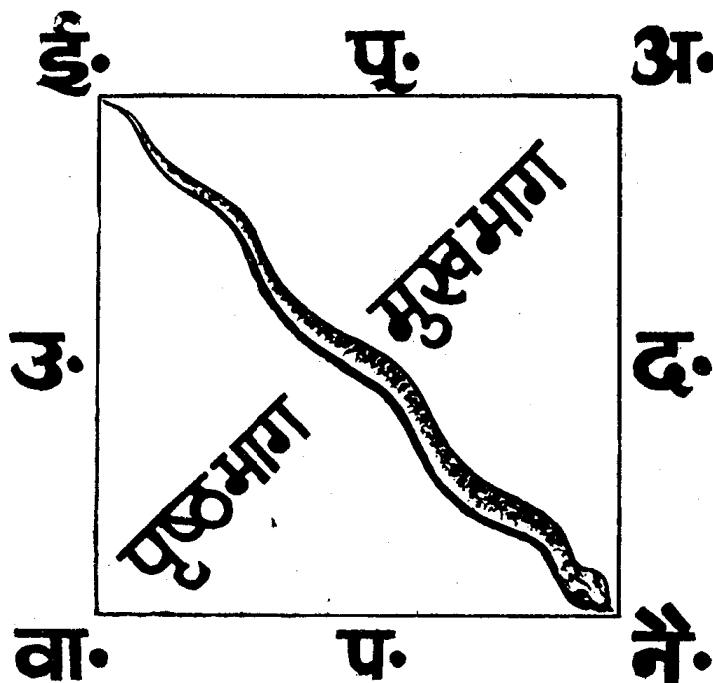
उदाहरण--फाल्गुन शुक्ल कुम्भार्क में घर बनाना है तो नैऋत्य कोण में मुख, अतः ईशान में पुच्छ हुआ [चक्र देखिये]। नैऋत्य और अग्निकोण मुख तथा वायु ईशान पृष्ठ भाग में हुए। अतः वायु कोण में ही खात बनाना चाहिये। अब पृष्ठभाग में भी पुच्छ से कितने दूरी पर खात बनावे इसका प्रमाण मुहूर्तमार्तण्ड में--

सूत्र न्यास विधि—

आग्नेयादि दृढं प्रदक्षिणगतं सूत्रं समासादयेत्
मध्ये वामकपार्श्वसुप्तपुरुषं ध्यात्वा तमुत्तानकम्।
अष्टाश्यंशमगेन्दुसम्मितलवान् पुच्छाद्विहायाग्रगो
भागो नाभिरितः खनेल्लवमितं वामेऽश्मभिः पूरयेत् ॥

अग्निकोण से प्रारम्भ करके दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायु, उत्तर, ईशान, पूर्व दिशा में एक मजबूत सूत्र का न्यास करना। उसके बीच में बायें पार्श्व, उत्तान होकर सोये हुए वास्तुपुरुष (सर्पाकार) समझे—तथा उपरोक्त सूर्याश्रित राशि के अनुसार उसका मुख और पुच्छ मानकर पुच्छ से मुख तक क्षेत्र (पिण्ड) के तुल्य २८ अंश (भाग) बनाकर, पुच्छ से १७ भाग को छोड़कर १८ वाँ भाग को नाभि समझे, वहाँ वाम भाग में खात बनाकर पत्थर के रोड़े आदि से भर देना चाहिये। इसप्रकार धनी (राजा आदि) के ईंटे या पत्थर के मकान में सूत्र-न्यास, खात या शिलान्यास करना, तृण काष्ठ के घर में इसकी आवश्यकता नहीं है। च्यवन मुनि ने कहा है।—

आयव्ययौ धराशुद्धिं तृणगेहे न चिन्तयेत्।
शिलान्यासादि नो कुर्यात् तथागारे पुरातने॥

पृथ्वी शयन—

प्रद्योतनात् पञ्चनगाङ्कसूर्यनवेन्दुषड्विंशमितेषु भेषु।
शेते मही तद् गृहं न कार्यं तडागवापीखननं न शस्तम्॥

सूर्य जिस नक्षत्र में हों उससे ५, ७, ९, १२, १९, २६ संख्यक नक्षत्र में पृथ्वी शयन करती है। इसलिए इनमें गृह, तड़ाग, वापी, कूप आदि खनन नहीं करना।

गृहारम्भ में निन्द्य वृषवास्तुचक्र नक्षत्र—

सूर्यभात् सप्त निन्द्यानि, शुभान्येकादशाग्रतः।
ततोऽग्रे नव निन्द्यानि गृहारम्भे बुधा जगुः॥

सूर्य जिस नक्षत्र में हो उससे ७ नक्षत्र निन्द्य, उसके बाद ११

नक्षत्र शुभ, उसके बाद ९ नक्षत्र अशुभ होता है। अतः शुभ नक्षत्र में गृहारम्भ करना ॥

घर अधिकतया चतुष्कोण होते हैं। उनमें दोनों कर्ण (एक कोण से सामने के दूसरे कोण तक) रेखाएँ बराबर होनी चाहिये। इसप्रकार स्थलसाधन मुहूर्तमार्तण्ड में आचार्य नारायण ने कहा है—

द्विघ्नायाममितं द्विपाशमजरत् सूत्रं विधायाङ्कयेत्
त्र्ययामङ्घ्रिमितेऽथ विस्तृतदलेऽन्तात् कर्षकोणा विधौ।
पाशौ क्षेत्रविरामशङ्कुनिहितौ कृत्वाऽग्रमाकर्षयेत्
कोणे शङ्कुरितीतरो विनिमयाद्व्वन्तयोश्चापरौ ॥

जहाँ घर बनाना हो वहाँ दिक्साधन करके याम्योत्तर और पूर्वापर रेखा बनावें। घर की इष्ट लम्बाई की रेखा के दोनों प्रान्तों में दो शङ्कु गाड़े और द्विगुणित लम्बाई के तुल्य नवीन और मजबूत सूत्र बनावें उसके दोनों प्रान्त में दो पाश बना दे। उसके एक प्रान्त से लम्बाई के त्रिगुणित चतुर्थांश पर "कर्ष" नामक तथा विस्तार के आधे पर "कोण" नामक चिह्न बनावें। सूत्र के दोनों पाश को दोनों शङ्कु में पिरो (पिन्हा) कर कर्ष-चिह्न को पकड़ कर जहाँ तक खींचा जाय वहाँ तक खीचे। इस प्रकार जहाँ 'कोण' चिह्न पड़े वहाँ एक खूँटी गाड़े, फिर उसी कर्ष चिह्न को पकड़कर दूसरे पार्श्व (बगल) में ले जाकर खींचे। उधर भी जहाँ कोण चिह्न पड़े वहाँ दूसरी खूँटी गाड़े। इस तरह लम्बाई की एक दिशा में दोनों कोण के स्थान हो जायँगे। फिर उस द्विपाश सूत्र को उल्टाकर लम्बाई की दूसरी दिशा में पिन्हा कर पूर्ववत् खींच कर दो कोण चिह्न में दो खूँटी गाड़े। इस प्रकार चारों खूँटी घर के चारों कोण हो जायँगे। और उस क्षेत्र के दोनों कर्ण

रेखा (आमने-सामने कोण की रेखा) बराबर हो जायगी । और वह स्थल शुद्ध समझा जायगा, जिसका फल शुभ कहा गया है ।

उदाहरण—जैसे-१५ हाथ लम्बा और १३ हाथ चौड़ा घर बनाना है तो-३० हाथ का द्विपाश (दोनों प्रान्त में फँसरी वाला) सूत्र बनाकर लम्बाई के त्रिगुणित चतुर्थांश $\left(\frac{४५}{४}\right.$ = सवा ग्यारह हाथ) एक तरफ से 'क' चिह्न और विस्तार के आधा साढ़े छः हाथ पर 'को' चिह्न करके खींचने से स्वरूप नीचे लिखे चित्र में देखिये । इसी प्रकार उक्त विधि से चारों कोण का ज्ञान हो जायगा । फिर पूर्वोक्त "आग्नेयादि दृढं प्रदक्षिणगतं सूत्रं" इत्यादि रीति से सूत्रन्यास करे ।

रेखाकरण और भित्ति रचना प्रकार--

चित्र नं० १
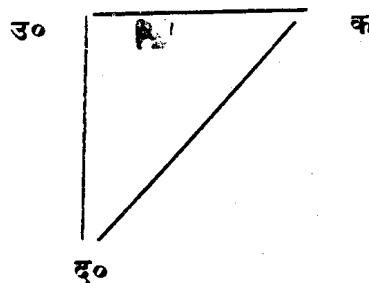
प्रदक्षिणक्रमेणाग्निकोणाद्रेखां च सूत्रवत् ।
रचयेत्तद्वदेवात्र शुभां भित्तिं चतुर्दिशम् ॥

जैसे अग्निकोण से प्रदक्षिण क्रमसे सूत्रन्यास कहा गया है-उसी प्रकार रेखा भी करनी चाहिए एवं रेखा के अनुसार चारों दिशाओं में भित्ति भी बनानी चाहिए ।

शिलान्यास-प्रकार—

अग्निकोणे शिलान्यासं स्तम्भस्यारोपणं तथा ।
वास्त्वर्चनं विधायादौ सदा कुर्यात् सुलग्नके ॥

सर्वत्र ही सुलग्न देख कर-प्रथम वास्तु पूजन करके अग्निकोण में शिलान्यास या स्तम्भ का रोपण करना चाहिये ।

यथा शाङ्गधर—

प्रासादेषु च हर्म्येषु गृहेष्वन्येषु सर्वदा ।
आग्नेय्यां प्रथमं स्तम्भं स्थापयेत् तद्विधानतः ॥

गृहनिर्माण के लिए-जिन आचार्यों को भूमि और समय जिसप्रकार शुभ या अशुभ उपलब्ध हुआ उस प्रकार उन्होंने-अपने मतानुसार लिखा वही आज 'शास्त्र' कहलाता है । किसी कार्य के लिए-जितने शुभ और अशुभ समय कहे गये हैं-उनमें शुभ और अशुभ बराबर हो या अशुभ संख्या से शुभ संख्या अधिक हो तो वहाँ शुभफल ही होता है ।

वस्तुतः प्राचीन तत्त्वज्ञों का मत है कि—

भूशोधनादिकं सर्वं स्मृतं क्षत्रिय-वैश्ययोः ।
शूद्राणां स्वामिसांनिध्यं विप्राणां च यथारुचि ॥

विभिन्न आचार्यों ने गृहनिर्माणार्थ जो भूमि-शोधनादि क्रिया कही है वह क्षत्रिय (राजा और राजकर्मचारियों) तथा वैश्यों (कृषि, वाणिज्य-कारकों) के लिये । शूद्रों (श्रमिकों) के लिये तो अपने स्वामी (मालिक) के समीप में ही घर बना कर रहना चाहिये । और विप्रों (बुद्धिविद्याजीवियों) के लिये तो यथारुचि (जहाँ इच्छा हो वहाँ) घर बनाकर रहे ।

एवं सब वर्णों के लिये तत्वज्ञों का आदेश है—

यत्र कुत्र स्थले काले स्वानुकूले सुलग्नके ।
गृहं तद्वेशनं कार्यं मनःशुद्धौ सदा शुभम् ॥

मनुष्य को जब आवश्यकता हो तो अपनी अनुकूलता के अनुसार जिस किसी स्थान और जिस किसी समय में सुलग्न देखकर घर बनवाना चाहिये । क्योंकि जहाँ मनःपूत हो वहाँ सब कार्यों में सदा शुभ फल ही होता है, तथा प्रत्यक्ष देखा भी जाता है ।

कार्यारम्भ में लग्न की प्रशंसा—

न तिथिं न च नक्षत्रं न योगं नैन्दवं बलम् ॥
लग्नमेव प्रशंसन्ति गर्ग-नारद-कश्यपाः ॥

इसलिये-तिथि-नक्षत्रादि शुभ नहीं मिले तो दिनमें १२ लग्न बीतते हैं उनमें जो अनुकूल हो उस लग्न में कार्यारम्भ कर लेना चाहिए । लग्न शुद्धि यथा—अपनी जन्म राशि से उपचय (३, ६, १०, ११ वीं) राशि में से कोई लग्न हो-और उस लग्न से अष्टम और द्वादश भाव शुद्ध (ग्रह-रहित) हो तथा लग्न में शुभग्रह की दृष्टि या योग हो और चन्द्रमा ३, ६, १०, ११ वें स्थान में हो तो सब कार्यों के आरम्भ करने से सिद्धि होती है ।

गृहारम्भकालिक लग्न में विशेषता—

द्यूनेम्बरे यदैकोऽपि परांशस्थो ग्रहो गृहम् ।
अब्दान्तः परहस्तस्थं कुर्याच्चेद् वर्णपोऽबलः ॥

आरम्भ कालिक लग्न से ७, या १० भाव में स्थित ग्रह अन्य ग्रह के नवांश में हो तो वह घर दूसरे के हाथ में वर्ष के भीतर ही चल

जाता है, यदि गृहपति का वर्णपति ग्रह निर्बल हो। वर्णपति = ब्राह्मण के बृहस्पति, शुक्र। क्षत्रियों के = सूर्य, मङ्गल। वैश्य का = चन्द्र। शूद्रों का बुध और अन्त्यजों का शनि वर्णपति कहे गये हैं।

भौमार्करिक्ताभाद्यूने चरो नाङ्गो विपञ्चके।
व्यष्टान्त्यस्थैः शुभैर्गेहारम्भस्त्र्यायारिगैः खलैः ॥

मङ्गल, रविवार, ४, ९, १४, ३०, प्रतिपदा इनको छोड़ कर अन्य वार, तिथि, नक्षत्रों में चरराशि को छोड़कर (स्थिर और द्विस्वभाव) लग्न में, तथा पञ्चक को छोड़कर लग्न से ८, ११ भाव से भिन्न में ग्रह और ३, ६, ११ में पाप ग्रह हो तो गृहारम्भ शुभप्रद होता है।

पञ्चक--२ होते हैं। एक, नक्षत्रपञ्चक द्वितीय, बाणपञ्चक। इनमें नक्षत्रपञ्चक का विवरण इसी ग्रन्थ के प्रथम रत्न 'कालपञ्चाङ्ग विवेक' में देखिये।

बाणपञ्चक—

रस-गुण-शशि-नागाब्ध्याढ्यसंक्रान्तियातां
शकमितिरथ तष्टाङ्कैर्यदा पञ्च शेषाः।
रुगनल-नृप-चौरा मृत्युसंज्ञश्च बाणो
नवहृतशरशेषे शेषकैक्ये सशल्यः ॥

जिस दिन जिस समय में स्पष्टसूर्य के भुक्तांश में ६, ३, १, ८, ४ जोड़ने से पृथक् ९ के भाग देने से ५ शेष बच जाय उस दिन उक्त समय में क्रम से रोग, अग्नि, राजा, चोर और मृत्यु नामक बाण समझना।

इसके अनुसार स्पष्ट सूर्य के गत अंश २, ११, २०, २९ में कोई हो उस समय अग्नि बाण समझना, जो गृहारम्भ में त्याज्य कहा गया है। यथा—

विवाहे मृत्युबाणं च यात्रायां चौरसंज्ञकम् ।
अग्नि-बाणं गृहारम्भे व्रते रोगं परित्यजेत् ॥

विवाह में मृत्यु बाण, यात्रा में चोर बाण, गृहारम्भ में अग्नि बाण और उपनयन में रोग बाण त्याज्य हैं।

विशेष—पूर्व समय में अपने-अपने अनुकूल समय में केवल लग्न और मुहूर्त (सूक्ष्म समय में जो सब दिन उपलब्ध होते रहते हैं उस) में विवाह यात्रादि कार्य का प्रारम्भ कर लिया करते थे। बाद में भारत में मुसलमानी शासनकाल में ज्यौतिष में फलित ग्रन्थों में लोग अपनी अपनी उपलब्धि के अनुसार उस में अनेक दोष और गुण लिख दिये। उस समय में भी तत्त्वज्ञ जनों ने लिख दिया है कि "स्थूल तिथि नक्षत्रादि जनित दोष लग्न शुद्धि से और लग्न दोष भी मुहूर्त शुद्धि से नष्ट हो जाते हैं"। तथापि लोग परिहार-वचन रहते हुये भी सामान्य-वचन पर बल देते रहते हैं।

एवं राजा, मन्त्री आदि के गृह में भेद तथा वास्तु भूमि में उपकरण, गृहों के स्थान तथा गृह के समीप में शुभाशुभ वृक्ष आदि के उल्लेख सब अपने कपोलकल्पित लिख दिये हैं जो प्रत्यक्ष विरुद्ध देखने में आता है। जैसे द्वारवेध में मुहूर्तमार्तण्डकार लिखते हैं कि "कोणाध्वभ्रम-कूपकर्दमतरुद्वाःस्तंभदेवेक्षितम्" अर्थात् जिस गृह के द्वार के सामने किसी दूसरे घर का कोण, मार्ग (रास्ता), देव मन्दिर हो तो अशुभप्रद वेध समझना, परञ्च यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। क्योंकि मार्ग के किनारे सटे हुये अनेक मकान बनाये गये देखने में आते हैं और उन में रहने वाले धन-जन से पूर्ण रहते हैं।

एवं सकल साधारण के लिये गृहारम्भ काल—

गृहं कार्यं सदैवेज्य-शुक्रयोर्दृश्यमानयोः
वस्विज्यवरुण-स्वातीमृदुहस्तस्थिरोडुषु ।
व्यर्कारवारे तिथिषु रिक्तामावर्जितेषु च
चापमीनार्कवर्ज्येषु मासेषु च सुलग्नके ॥

अर्थात्—गुरु-शुक्र उदित हों, धनिष्ठा, पुष्य, शततारा, स्वाती, मृग, चित्रा, अनुराधा, रेवती, रोहिणी, उत्तर तीनों में, रवि और मंगल को छोड़कर अन्य वारों में, रिक्ता, अमावस्या को छोड़कर सब तिथियों में, धनु और मीन स्थित रवि को छोड़कर, सुलग्न में गृहारम्भ करना चाहिये ।

इनमें सूतिकागृह भी बना सकते हैं । तथापि सूतिकागृह बनाने और उसमें प्रवेश कर लेने का समय—

सूतीगेहं त्वदित्यां विधिभहरिभयोस्तत्र शस्तः प्रवेशः ॥

अर्थात्—प्रसूतिका के लिये पृथक् घर बनाना हो तो पुनर्वसु नक्षत्र में बनाकर उसमें रोहिणी या श्रवण नक्षत्र में प्रवेश करे ।

गृहप्रवेशप्रकरण

प्राचीनाचार्यों ने गृहप्रवेश के तीन भेद बताये हैं ।

१ अपूर्व—नवीन भूमि में नवीन गृह बनाकर प्रथम प्रवेश । यह सकल साधारण के लिये कहा गया है ।

२ सपूर्व—युद्धयात्रार्थ या व्यापारार्थ घर को छोड़कर विदेश से लौटने पर पुनः पूर्व गृह में प्रवेश करना, यह केवल राजा (भूमिपति) या धनी (व्यापारियों) के लिये ही होता है ।

३ द्वन्द्व प्रवेश-अग्नि से जल जाने पर या (आँधी-तूफान) किसी कारण से घर के टूट जाने पर उसी स्थान पर दूसरा घर बनाकर प्रवेश करना। यह भी सकल साधारण जन के लिये है।

इनमें अपूर्व गृहप्रवेश का मुहूर्त—

शुभप्रवेशो देवेज्यशुक्रयोर्दृश्यमानयोः।
वस्विज्यवारुणस्वाती — मृदुहस्तस्थिरोडुषु॥
व्यर्कारवारे तिथिषु रिक्तामावर्जितेषु च।
पुष्टे चन्द्रे दिवारात्रौ प्रवेशो मङ्गलप्रदः॥
अत्राप्यावश्यके गेहारम्भोदितविलग्नके।
प्रवेशः शुभदो नित्यं वामेऽर्के च विशेषतः॥

बृहस्पति, शुक्र उदित हो, धनिष्ठा, पुष्य, शतभिषा, स्वाती, हस्त, मृदु (मृग. रेव. चि. अनु.), अनुराधा, स्थिर संज्ञक (रोहिणी, तीनों उत्तरा) इन नक्षत्रों में, रवि मंगल को छोड़कर अन्य वारों में, रिक्ता, अमावास्या को छोड़कर शेष तिथियों में, चन्द्र भी पुष्टरश्मि हो तो सुलग्न देखकर दिन या रात्रि में कभी भी अपूर्व गृहप्रवेश शुभप्रद होता है। इस अपूर्व गृहप्रवेश में भी आवश्यक हो तो गृहारम्भोदित सुलग्न में कभी भी गृहप्रवेश शुभप्रद होता है। गृहप्रवेश में सूर्य वामभाग में हो तो विशेष शुभ समझना।

वाम रवि लक्षण—

रन्ध्रात्-सुताद् धनादायात् पञ्चर्क्षेषु स्थितो रविः।
पूर्वाशादिकमुखे गेहे विशतो वामगः स्मृतः॥

लग्न से ८, ९, १०, ११, १२ भाव में सूर्य हो तो पूर्व मुख

के घर में, ५, ६, ७, ८, ९ में हो तो दक्षिण मुख के घर में, २, ३, ४, ५, ६ में हो तो पश्चिम मुख के घर में और ११, १२, १, २, ३ भावों में हो तो उत्तर मुख के घर में रवि वामभाग में होता है।

कुछ लोगों के मत से कलशचक्र शुद्धि—

प्रवेशे कलशेऽर्कर्क्षात् पञ्च नागाष्टषट् क्रमात्।
अशुभानि शुभान्येवं पुनर्ज्ञेयानि पण्डितैः॥

गृहप्रवेश समय में—सूर्याश्रित नक्षत्र से ५ अशुभ, उसके आगे ८ शुभ, पुनः ८ अशुभ फिर उसके आगे के ६ नक्षत्र शुभ समझना।

इसको मुनि वचनों में असङ्गति होने विज्ञजन नहीं मानते हैं।

राहु की विशेषता—

राहुस्तु दक्षिणे पृष्ठे शुभो गेहप्रवेशने।
यात्रोक्तशकुनं व्यस्तफलमत्र विनिर्दिशेत्॥

गृहप्रवेश में राहु (त्रैमासिक या मासिक) गृह प्रवेश में दाहिने और पृष्ठ भाग में शुभ कहा गया है। तथा यात्राकालिक शकुन को विपरीत (अशुभ को शुभ और शुभ को अशुभ) फलप्रद समझना।

गृह प्रवेश में पूर्व कृत्य—

यदि गृहारम्भ समय में वास्तुपुरुष का पूजन नहीं किया गया हो तो सविधि उनका पूजन करके गृहप्रवेश करना श्रेयस्कर कहा गया है।

प्रवेश विधि—

कृत्वा शुक्रं वामतः पृष्ठतोऽर्कं
विप्रान् सम्पूज्याग्रतः पूर्णकुम्भम्॥

रम्यं हर्म्यं तोरणैः स्रग्वितानैः
स्त्रीभिः सार्धं गीतवाद्यैर्विशेत् तत् ॥

– शुक्र पृष्ठ में हो, सूर्य वामभाग में हो ऐसे समय में ब्राह्मणों एवं पूर्ण कलश को आगे करके, स्त्री-पुत्र परिवारों के साथ मङ्गलगान करते हुए बन्दनवार, माला आदि से सजे हुए गृह में प्रवेश करे।

यात्रा से निवृत्त होने के बाद प्रवेश में मास तिथ्यादि शुद्धि नहीं देखकर केवल सुलग्न में ही पक्के मकान में प्रवेश कर लेना। तथा तृण काष्ठ के मकान में तो सदा (जभी यात्रा से आये) प्रवेश करले।

विशेष – बहुत से विद्वान् पर-विश्वासी और अन्धविश्वासी होते हैं। उन लोगों को जहाँ कहीं जैसा भान होता है, वैसा ही सर्वत्र होता होगा और जैसा अपने मन में होता है वैसा ही औरों के मन में भी होता होगा—ऐसा विश्वास कर लेते हैं तथा बहुत से लोग अपने निबन्ध में भी लिख देते हैं। जैसे किसी गृह के समीप एक वृक्ष उत्पन्न हुआ, जब उसमें फल लगे उस समय उनके घर में कोई विघ्न हो गया, तो उन्होंने सर्वत्र सब के लिए भी ऐसा समझ कर त्याज्य लिख दिया। हाँ, इतना शास्त्रकारों का भी आदेश है कि जहाँ कहीं, किसी कारण से प्रत्यक्ष विघ्न देखने में आवे वहाँ उसका निराकरण कर लेना चाहिये।
यथा—

दृष्ट्वा भूतसमाश्रितान् विटपिनश्छिन्द्याद्यथाशक्तितः।

इसलिये फलित ज्यौतिष ग्रन्थों में जो फल अनुमान से लिखे गये हैं, वे सर्वत्र घटित नहीं हो सकते। अतः उसको निश्चित न मानकर सिद्धान्त ज्यौतिष से फलित ज्यौतिष को पृथक् स्थान दिया गया है।

शास्त्रों में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के रहते 'अनुमानादि' प्रमाण व्यर्थ माने जाते हैं। ज्यौतिष में तो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्यता दी गयी है। इसलिये गृह के चतुर्दिक् अथवा द्वार के सामने जो निन्द्य वृक्षादि और वेध कहे गये हैं, उसका फल प्रत्यक्ष विरुद्ध देखने में आता है। जैन पूर्वकाल में और आजकल भी लोग वन में निवास करते थे और करते हैं एवं 'कोणाध्वभ्रमकूपकर्दमतरुद्वा:स्तम्भदेवेक्षित्' इत्यादि वेधयुत भवन बड़े-बड़े नगरों, ग्रामों, राजमार्गों और कूप के सामने भवन बनवाकर निवास करते हुए लोग सुख-सम्पत्ति से समृद्ध हैं। विज्ञजनों को प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही, अनुमान अथवा शब्दप्रमाण को मान्यता देनी चाहिये।

एवं राजाओं के यहाँ अश्वशाला, गजशाला, पशुशाला आदि अनेक प्रकार के गृह निर्माण किये जाते थे। उन सब के लिये लेखकों ने पृथक् पृथक् विधियाँ बतायी हैं— जो अन्धपरम्परा बनकर सब को भ्रम में डालनेवाली हो गयी हैं। विज्ञजनों का मत तो यह है कि किसी भी प्रकार का भवन निर्माण कराना हो अथवा उनमें गृहसम्बन्धी उपकरण स्थापन करना हो तो वे सब ऊपर कथित गृहारम्भ कालिक लग्न में करें।

इति गृहारम्भप्रवेशप्रकरण। [१]

—o—

अथ विवाहप्रकरण [२]

विवाह शब्दार्थ—

वि=विशिष्ट+वाह (वहन)=भार उठाना। अर्थात् पुरुष द्वारा पूर्ण कर्म-फल लाभार्थ स्वानुकूल नारी का पाणिग्रहण करना। व्यासजी का वचन है—

"यावन्न विद्यते जाया तावदर्धो भवेत् पुमान् ।
तत्कृतं कर्म यत्किञ्चित् सर्वमर्धफलं भवेत् ॥
तस्मात् सुखार्थिभिर्विज्ञैः कार्यः पाणिग्रहः स्त्रियः ।
वसेद् गृहे गृही भूत्वा श्रेष्ठः सर्वाश्रमाद्गृही ॥

स्त्रीप्रशंसा—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
सुशीला गृहिणी यस्य त्रिवर्गस्तत्करे सदा ॥
विवाहसमये यस्याः शुभं लग्नं शुभं दिनम् ।
सा सुशीला सुपुत्रा च नित्यं पतिवशानुगा ॥
जन्मदोषा विनश्यन्ति वैवाहिक-सुलग्नतः ।
विवाहसमयस्तस्माच्चिन्तनीयः प्रयत्नतः ॥

व्यासादि महर्षियों का कहना है कि पुरुष को जब तक पत्नी नहीं होती तब तक वह अर्धाङ्ग रहता है। उसके किये हुए पुण्य-कार्य का फल आधा ही प्राप्त होता है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुष को चाहिये कि किसी स्वानुकूल नारी का स-विधि पाणिग्रहण करके गृहस्थ होकर घर में रहे क्योंकि समस्त आश्रमों में गृहस्थ श्रेष्ठ है।

ज्यौतिष ग्रन्थ प्रणेताओं ने तो कहा है कि केवल सुन्दर से सुन्दर भवन बनवा लेने पर भी जब तक उस में पत्नी न रहे तब तक वह गृह नहीं कहलाता है। क्योंकि शास्त्रकारों ने 'गृहिणी' को ही 'गृह' कहा है। जिस पुरुष के घर में सुशीला भार्या रहती है उसके हाथ में तीनों वर्ग (धन, धर्म और सुखभोग) सदा विद्यमान रहते हैं। जिसके विवाह समय में शुभ लग्न रहता है वह नारी सुशीला, सुपुत्रा

और पति की आज्ञानुगामिनी होती है। जन्मकालिक लग्न अथवा ग्रहजनित दोष भी विवाहकालिक सुलग्न से नष्ट हो जाते हैं। इसलिये यत्नपूर्वक विवाहसमय (लग्नादि) का विचार कर लेना चाहिये।

विवाह के भेद—

विवाह के भेद आठ हैं—(१) ब्राह्म (२) प्राजापत्य (३) आर्ष (४) दैव (५) गान्धर्व (६) पैशाच (७) राक्षस (८) आसुर।

इनमें आरम्भ के चार प्रकार के विवाह में ही समय शुद्धि देखी जाती है। गान्धर्व विवाह में मासादि समय शुद्धि की अपेक्षा नहीं होती। वर और वधू में स्नेह हो जानेपर कभी भी अपने अनुकूल समय देखकर परस्पर माल्यादि प्रदान कर लेने से ही विवाह कार्य सम्पन्न समझा जाता है। कन्यापक्ष को कुछ धन (शुल्क) देकर कन्या को लेना 'आसुर विवाह' कहलाता है। युद्ध में जीत कर कन्या को लाना 'राक्षस विवाह' कहलाता है। जहाँ कहीं से अभिभावकों के परोक्ष में कन्या को ठग कर, फुसलाकर, बहका कर, भगा ले जाना 'पैशाच' कहलाता है।

ब्राह्म-प्राजापत्यादि चार प्रकार की विवाह-प्रणाली में शुभ समय देखकर, अग्निसान्निध्य में मन्त्रोच्चारण-पूर्वक पाणिग्रहण क्रिया सम्पन्न होती है।

विज्ञजनों के मत से इनमें गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ है। इतिहास-पुराणों के देखने से स्पष्ट होता है कि पूर्वकाल में अधिकतर विज्ञजनों में इसी का प्रचलन था। शकुन्तला, सावित्री, रुक्मिणी आदि सती नारियों को कौन नहीं जानता है ? अब भी देश-काल-ज्ञाता विवेकशीलजनों में

इसी प्रथा का प्रचुर प्रचार है। इस प्रथा से केवल वर-विक्रेता पिता को तिलक-दहेज की क्षति होती है।

विवाह का वयस--

"सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः।
कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्मगर्हितः॥"

महर्षि पराशर का मत है—

"षडब्दमध्ये नोद्वाह्या कन्या वर्षद्वयं ततः।
सोमो भुंक्तेऽथ गन्धर्वस्ततः पश्चाद् हुताशनः॥"

द्विजातीयों के लिये विशेष—

"अष्टमात् समवर्षेषु द्विजस्त्रीणां करग्रहः।
पुंसामेकोनविंशाब्दाद् विषमाब्देषु शोभनः॥"

अर्थ स्पष्ट है

कन्या और कन्यादानाधिकारी—

नारी को जब तक रजोत्पत्ति नहीं होती तब तक उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं होती। जब रजोदर्शन हो जाता है तब उसकी बुद्धि में परिपाक और युवत्व समझा जाता है, वह अपना हिताहित समझ सकती है। सामान्यतया भारत में प्रायः बारहवर्ष होने पर रजोदर्शन हो जाता है। अतः धर्मशास्त्राचार्यों ने बारह वर्ष पर्यन्त 'कन्या' और तत्पश्चात् 'रजस्वला' संज्ञा दी है। कुछ लोगों के मतानुसार 'दशवर्षा भवेत् कन्या' परन्तु अधिकांश आचार्यों के मत से 'द्वादशाब्दावधिः कन्या, तत ऊर्ध्वं रजोवती' ही है।

कन्यावस्था में अपरिपक्व बुद्धि होने के कारण उसे स्वयं पतिवरण करने का अधिकार नहीं, अतः आवश्यकता में उसके हितैषी पिता आदि

किसी अनुकूल वर के साथ उसका विवाह कर देने के अधिकारी माने गये हैं। यथा—

"पिता पितामहो भ्राता माता बन्धुश्च गोत्रजः।
एते मुनिवरैः प्रोक्ताः कन्यादानाधिकारिणः॥
यस्या एते न विद्यन्ते सा स्वयं वरयेत् वरम्।
द्वादशाब्दाधिकायास्तु स्वाधिकारः स्वयं वृतौ॥"

अर्थ स्पष्ट है। बारह वर्ष के ऊपर की कन्या अपने पिता आदि अभिभावकों की सम्मति से स्वयं वरण कर सकती है।

कन्या के योग्य वर—

"वरयेत् सुवरं धीमान् कन्यातो वयसाधिकम्।
रूपेण च बलेनापि वैपरीत्येऽन्यथा फलम्॥"

जो कन्या से बुद्धि, अवस्था, रूप और बल में अधिक हो वही पाणिग्रहण करने का अधिकारी हो सकता है। यह तो मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' का पाठ करने वाले व्यक्ति भलीभाँति जानते हैं कि भारत ललनाओं की प्रतिनिधिरूपा 'भगवती' ने स्वयं निज मुखारविन्द से कहा है कि—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥"

इनके अतिरिक्त रामायण का पाठ करने वाले जानते हैं कि सर्वशास्त्रपारङ्गत मिथिलेश की कन्या श्रीजानकीजी ने एक दिन कुतूहलवश बड़े-बड़े शूर-वीरों से भी न उठनेवाले शंकर के धनुष को एक हाथ से उठा लिया था। उनके बल को जानकर जनक जी ने उनके विवाह के समय में उनसे शक्तिशाली वर के साथ विवाह कर देने के लिये

घोषणा करवा दी कि "जो व्यक्ति शङ्कर जी के धनुष को उठा लेगा वह मेरी राजकुमारी के पाणिग्रहण करने का अधिकारी होगा। यदि एक से अधिक व्यक्ति उठाने में सफल होंगे तो उनमें जिन्हें जानकी जी वरण करेंगी वही अधिकारी माना जायगा।" इस प्रकार प्रतिज्ञा कर स्वयंवर विधान बनाया। वहाँ बड़े-बड़े योद्धा आये, किन्तु उसमें कोई सफल न हुआ तब खिन्न होकर उन्होंने कहा कि—

"तजहु आश निज निज गृह जाहू।
लिखा न विधि वैदेहि विवाहू॥"

इससे सिद्ध है कि पिता को भी यह अधिकार नहीं है कि कन्या से न्यून गुणवाले वर को कन्या प्रदान करे। उस समय अयोध्यानरेश सम्राट् दशरथ के सर्वगुणसम्पन्न पुत्र श्री रामजी भी वहाँ पहुँचे थे उनसे भी धनुष उठवाकर बल-परीक्षा के अनन्तर ही श्री जानकी जी के साथ विवाह कार्य सम्पन्न हुआ।

द्विजातियों के लिये विवाह से पूर्व विचारणीय—

**"सापिण्ड्यं गोत्रशुद्धिं च कुलं शीलं विशेषतः।
विवाहसमयात् पूर्वं सम्परीक्ष्याणि यत्नतः॥"**

शास्त्र का आदेश है कि—

**"असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
स्वरूपा स्वानुकूला या तां कन्यां वरयेन्नरः॥"**

मातृकुल के सापिण्डय से भिन्न और पिता के गोत्र से भिन्न गोत्र की हो—ऐसी अपने अनुरूप रूपगुणवती पत्नी का पाणिग्रहण करना चाहिये।

सापिण्डय निवृत्ति—

"मूलात् पितृकुले षष्ठात् मातृवंशे च पंचमात् ।
पुरुषात् सर्ववर्णेषु सापिण्ड्यं विनिवर्तते ॥"

इस प्रकार सापिण्डय, गोत्रशुद्धि, कुल, रूप की परीक्षा तो सहज में हो सकती है परन्तु किसी का स्वभाव तो उसकी क्रिया और वचन से अनुमान किया जा सकता है किन्तु इसमें अधिक काल की अपेक्षा होती है ।

अथ मेलापक

शास्त्रकारों का कहना है कि—

सेव्यसेवकयोरेवं दम्पत्योर्वा कयोरपि ।
द्वयोर्यत्र मिथः प्रीतिस्तत्रैव सुखसम्पदः ॥

जहाँ मालिक और नौकर में, पति और पत्नी में अथवा किन्हीं भी सम्मिलित व्यवहार करने वाले दो व्यक्तियों में परस्पर प्रेम (मेल) रहता है वहीं सब प्रकार की सुख सम्पत्ति रहती है । यह भी सिद्धान्त है कि तुल्य स्वभाव वालों में निश्चल प्रीति होती है ।

स्वभाव जानने के लिये प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो रूप होते हैं प्रत्यक्ष तो किसी की क्रिया और वचन से जाना जा सकता है। अप्रत्यक्ष जन्मकालिक ग्रह नक्षत्रों के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने कहा है । वे प्रत्यक्ष से भिन्न अप्रत्यक्ष ८ कूट होते हैं ।

कूट ही मेलापक शब्द से व्यवहृत है । मेलापक भी ग्रह नक्षत्र के आधार पर दो प्रकार के होते हैं । यथा—

वरवधू मेलापक विचार—

यदि वर और वधू में परस्पर दर्शन और वार्तालाप से दृढ़ स्नेह उत्पन्न हो जाय तो उन दोनों के लिये यह सर्वश्रेष्ठ 'मेलापक' समझकर कुछ भी

अन्य विचार नहीं करना चाहिये क्योंकि यह प्रत्यक्ष "कूट" (मेलापक) माना गया है । यथा—

मनसश्चक्षुषोर्यस्मिन् वरे यस्यां च योषिति ।
सन्तोषो जायते तत्र नान्यत् किंचिद् विचिन्तयेत् ॥

कूटशब्दार्थ—सजातीय दो या अधिक बिखरे पदार्थों (या व्यक्तियों) को एक स्थान में मेल कराकर रखना 'कूट' कहलाता है । जैसे अनेक अन्नों को एक स्थान में रखने से 'अन्नकूट' जिस नीति से दो विरोधियों में मेल कराया जाता है उसको 'कूट नीति' कहते हैं । आच्छादनार्थक 'कूट, धातुसे 'कूट' शब्द बनता है । वर और वधू में गुणों से दोष के आच्छादन का विचार होता है । कूटों के अनेक भेद में ८ प्रधान हैं । यथा—

"वर्णो वश्यस्तारा योनिः खग-गण-भकूट-नाड्यश्च ।
कूटान्येतान्यष्टौ प्रबलानि यथोत्तरं क्रमशः ॥
उक्तानां च क्रमादेषामेकाद्येकोत्तरा गुणाः ।
लब्धमत्र गुणैक्यं तु चतुर्विंशाधिकं शुभम् ॥
द्वादशावधि मध्यं स्यादधमं द्वादशाल्पकम् ।
कूटे शुभे गुणः पूर्णस्तदभावस्तु दूषिते ॥
सभङ्गेऽत्रापि प्रोक्तार्धं कैश्चित् पूर्णगुणः स्मृतः ।
इति सर्वत्र विज्ञेयं स्वबुद्ध्यापि विपश्चिता ॥"

(१) वर्ण, (२) वश्य, (३) तारा, (४) योनि, (५) ग्रह [राशीश] (६) गण, (७) भकूट, (८) नाड़ी—ये क्रम से उत्तरोत्तर बली हैं । इनमें क्रमसे १, २, ३, आदि गुण होते हैं । सब कूट शुभ हों तो सब गुणों का योग ३६ होता है । अतः २४ से ऊपर गुणयोग हो तो उत्तम,

उससे कम १२ तक मध्यम तथा १२ से अल्प हो तो अधम (दूषित) समझा जाता है ।

इनमें जो कूट शुभ हो उसमें उसका गुण पूर्ण होता है । यदि कूट दूषित हो तो उक्त गुण का अभाव होता है । दुष्ट कूट का यदि भङ्ग (परिहार) हो तो उक्त गुण का आधा होता है । बहुत से लोग दुष्ट कूट में परिहार होने पर पूर्ण गुण ही ग्रहण करते हैं क्योंकि जब दोष का भङ्ग हो जाय तो सब गुण ही रह जायगा ।

ग्रहमेलापक—वर और कन्या की जन्म कुण्डली हो तो दोनों के जन्मनक्षत्र से नक्षत्रमेलापक और ग्रहमेलापक की शुद्धि देखनी चाहिये । यदि जन्मकुण्डली न हो तो दोनों के नाम-नक्षत्र से ही विचार करना चाहिये ।

लग्नाच्चन्द्राद् यदा भौमो मदाष्टान्त्याद्यतुर्यगः ।
पत्नी पतिविनाशाय पतिः पत्नीविनाशकृत् ॥

जन्मलग्न से १, १२, ४, ७, ८—इन स्थानों में मङ्गल यदि कन्या की कुण्डली में हो तो वह पतिनाशिनी और वर की कुण्डली में हो तो वह पत्नीनाशक होता है ।

इस प्रकार चन्द्रकुण्डली में चन्द्रमा से भी उक्त स्थान में मङ्गल हो तो वही फल समझना चाहिये । एवं यदि वर और कन्या दोनों की कुण्डली में मङ्गल नहीं पड़ता हो, अथवा दोनों की कुण्डली में पड़ता हो तो दोनों में विवाह सम्बन्ध शुभ कहा गया है ।

बालवैधव्य योग—

द्व्यादिपापयुते भौमे सप्तमे वाऽष्टमे स्थिते ।
बालवैधव्ययोगः स्याद् कुलहानिकरी वधूः ॥

इसका परिहार यह है कि एक की कुण्डली में उक्त स्थान का मङ्गल हो तथा दूसरे की कुण्डली में यदि शनि, रवि, राहु, केतु में से कोई पापग्रह हो तो मङ्गल का दोष नष्ट हो जाता है।

भौमदोष परिहार—

सप्तमे वाऽष्टमे भौमो गुरुणा चेन्निरीक्षितः।
तदा तु सर्वसौख्यं स्याद् भौमदोषो विनश्यति॥
लग्नाद् विधोर्वा यदि जन्मकाले, शुभग्रहो वा मदनाधिपो वा।
द्यूनस्थितो हन्त्यनपत्यदोषं. वैधव्ययोगं च विषाङ्गनाख्यम्।
केन्द्रे कोणे शुभाः खेटाः त्रिषडायेष्वसद्ग्रहाः।
तदा भौमोत्थदोषो न मदे वा मदनाधिपः॥
भौमतुल्यो यदा भौमः पापो वा तादृशो भवेत्।
तदा शुभो विवाहः स्याच्चिरायुः पुत्रपौत्रदः॥

इसलिये बहुमत यह है कि वर और कन्याकी कुण्डली में उपर्युक्त स्थानों में पापग्रहों की संख्या देखें। कन्या की कुण्डली से वर की कुण्डली में यदि पापग्रह-संख्या तुल्य अथवा अधिक हो तो विवाह शुभप्रद, अन्यथा अशुभप्रद होता है।

इसका सारांश यह है कि जातकग्रन्थों में जो स्त्री के पतिनाशक योग कहे गये हैं, उससे प्रबल यदि वर की कुण्डली में स्त्रीनाशक योग हो तो विवाह शुभ होता है। तात्पर्य यह है कि वर और कन्या के उक्त ग्रहों में जिसके ग्रह निर्बल होंगे, उसकी मृत्यु पूर्व होगी। इसलिये कन्याओं को अपना वैधव्य न देखना पड़े, इसप्रकार ग्रहों का मेलापक विचार करना चाहिये।

शास्त्र में यह भी कहा गया है कि कन्या की कुण्डली में यदि सप्तम स्थान में मङ्गल हो तो बालवैधव्यकारक योग होता है। बाल-

वैधव्ययोग प्राप्त हो तो उसकी शान्ति (कुम्भविवाहादि) कराकर विवाह करना चाहिये। वर और कन्या के नक्षत्र और ग्रह मेलापक देखकर नक्षत्र मेलापक चक्र से वर और कन्या के नक्षत्र के सामने के कोष्ठक में गुणयोग २४ से ऊपर हो तो श्रेष्ठ, २४ से नीचे १२ तक मध्यम, १२ से कम निकृष्ट कोटि का माना गया हैं। यदि ग्रहमेलापक उत्तम हो तो १२ से कम १९ तक भी गुणयोग ग्राह्य कहा गया है।

नक्षत्रमेलापक—मेलापक में १ वर्ण, २ वश्य, ३ तारा, ४ योनि ५ ग्रहमैत्री, ६ गणमैत्री, ७ भकूट और ८ नाड़ी—ये ८ कूट होते हैं। ये उत्तरोत्तर बली कहे गये हैं।

(१) वर्ण—

वर-कन्या की राशि के वर्ण (राशिचक्र से) देखना चाहिये। यदि दोनों के वर्ण समान अथवा वर का वर्ण श्रेष्ठ हो तो शुभ, अन्यथा अशुभ समझना चाहिये।

वर्णज्ञान—

त्रिमेषात् क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो विप्रो यथाक्रमम्।
वराद् वर्णाधिका कन्या न प्रशस्तान्यथा शुभा॥

१ वर्णज्ञान—

वर्ण	राशियाँ
क्षत्रिय	मेष सिंह धनु
वैश्य	वृष कन्या मकर
शूद्र	मिथुन तुला कुम्भ
विप्र	कर्क वृश्चिक मीन

वर्णगुण बोधक चक्र— वरवर्ण

कन्या वर्ण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
ब्राह्मण	१	०	०	०
क्षत्रिय	१	१	०	०
वैश्य	१	१	१	०
शूद्र	१	१	१	१

(२) वश्य बोध

राशि चक्र से वर-कन्या के द्विपद, चतुष्पदादि वश्य देखना चाहिये। यदि दोनों का एक ही (परस्पर) वश्य हो अथवा वर का वश्य कन्या हो तो शुभ, अन्यथा अशुभ समझना चाहिये।

द्विचतुष्पदकीटाप्यवन्याः सन्तीति पञ्चधा।
वश्ये मैत्र्ये शुभं ज्ञेयमन्यथा चाशुभं स्मृतम्॥
वश्यमैत्रादिकं चैषां विज्ञेयं व्यवहारतः।

द्विपदादिबोधक चक्र—

द्विपद	मिथुन कन्या तुला धनुपूर्वार्द्ध कुम्भ
चतुष्पद	मेष वृष धनुउत्तरार्द्ध
जलचर	मकरउत्तरार्ध मीन
कीट	कर्क वृश्चिक
वन्य	चतुष्पद सिंह

वश्यगुण ज्ञानचक्र—

	वर	द्विपद	चतुष्पद	जलचर	कीट	वन्य
कन्या	द्विपद	२	१	०	१	०
	चतुष्पद	१	२	१	१	०
	जलचर	०	१	२	१	१
	कीट	१	॥	॥	२	१
	वन्य	०	०	०	०	२

(३) ताराज्ञान—

'कन्यर्क्षाद् वरभं यावत् कन्याभं वरभादपि ।
गणयेन्नवहृच्छेषं त्रीष्वद्रिभमसत् स्मृतम् ॥

वर के नक्षत्र से कन्या के नक्षत्र तक एवं कन्या के नक्षत्र से वर के नक्षत्र तक गिनकर पृथक् दोनों संख्या में ९ के भाग देने से शेष ३,५,७ हो तो अशुभ, अन्यथा शुभ तारा समझना चाहिये । दोनों से शुभ तारा हो तो श्रेष्ठ, एक से शुभ हो तो मध्यम, दोनों से अशुभ हो तो निन्द्य समझना चाहिये ।

तारागुणबोधक चक्र—

वर तारा

कन्या तारा

तारा	१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३
२	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३
३	१॥	१॥	०	१॥	०	१॥	०	१॥	१॥
४	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३
५	१॥	१॥	०	१॥	०	१॥	०	१॥	१॥
६	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३
७	१॥	१॥	०	१॥	०	१॥	०	१॥	१॥
८	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३
९	३	३	१॥	३	१॥	३	१॥	३	३

(४) योनि ज्ञान—

नक्षत्रचक्र से वर-कन्या की योनि देखें। यदि दोनों की एक योनि हो अथवा योनि में मैत्री अथवा उदासीनता हो तो शुभ और मध्यम तथा शत्रुता हो तो अशुभ समझना चाहिये।

योनि चक्र—

योनि	नक्षत्र	
१ अश्व	अश्विनी	शतभिषा
२ महिष	हस्त	स्वाती
३ सिंह	धनिष्ठा	पूर्वाभाद्रपद
४ हस्ती	भरणी	रेवती
५ मेष	कृत्तिका	पुष्य
६ वानर	पूर्वाषाढ़	श्रवण
७ नकुल	उत्तराषाढ़	अभिजित्
८ सर्प	रोहिणी	मृगशिरा
९ मृग	अनुराधा	ज्येष्ठा
१० श्वान	आर्द्रा	मूल
११ मार्जार	पुनर्वसु	श्लेषा
१२ मूषक	मघा	पूर्वाफाल्गुनी
१३ व्याघ्र	चित्रा	विशाखा
१४ गौ	उत्तराफाल्गुनी	उत्तरभाद्रपद

इनमें—अश्व, महिष। सिंह हस्ती। मेष, वानर। नकुल, सर्प। मृग, श्वान। मार्जार, मूषक। व्याघ्र और गौ, इनमें दो-दो में परस्पर शत्रुता है। वर-कन्या की योनियों में परस्पर शत्रुता हो तो त्याज्य है। वहाँ गुण का अभाव हो जाता है।

योनिगुणबोधक चक्र—

	अश्व	महिष	सिंह	हस्ती	मेष	वानर	नकुल	सर्प	मृग	श्वान	मार्जार	मूषक	व्याघ्र	गौ
अश्व	४	०	१	१	३	२	२	१	२	२	२	२	१	२
महिष	०	४	१	१	३	२	२	२	२	२	२	२	१	३
सिंह	१	१	४	०	१	१	२	२	१	१	१	२	२	१
हस्ती	२	१	०	४	१	१	२	२	२	१	१	२	१	१
मेष	३	३	१	१	४	०	३	१	३	२	१	२	१	३
वानर	२	२	१	१	०	४	२	१	२	१	२	२	१	२
नकुल	२	२	१	२	३	२	४	०	२	१	२	२	२	२
सर्प	१	१	२	२	१	१	०	४	१	१	१	१	२	१
मृग	२	२	१	२	१	२	२	१	४	०	२	२	१	२
श्वान	२	१	१	१	२	१	१	१	०	४	१	१	१	१
मार्जार	२	२	१	१	१	२	२	१	२	१	४	०	३	२
मूषक	२	२	२	२	२	२	२	१	२	१	०	४	२	२
व्याघ्र	१	[illegible]	२	१	१	२	१	२	१	१	३	२	४	०
गौ	३	३	१	१	३	२	२	१	२	१	२	२	०	४

(५) ग्रह मैत्री

वर-कन्या की राशि के स्वामियों का ज्ञान कालपञ्चाङ्गविवेकस्थ-राशिचक्र से करें। दोनों के राशीश्वरों में मैत्री, सम मैत्री हो तो शुभ, शत्रुता हो तो अशुभ समझना चाहिये।

ग्रह मैत्री

ग्रह	मित्र	सम	शत्रु
सूर्य के	चन्द्र मङ्गल गुरु	बुध	शुक्र शनि
चन्द्र के	सूर्य बुध	मं० गु० शु० श०	०
भौम के	सूर्य चन्द्र गुरु	शुक्र शनि	बुध
बुध के	सूर्य शुक्र	मंगल गुरु शनि	चन्द्र
गुरु के	सूर्य चन्द्र मंगल	शनि	बुध शुक्र
शुक्र के	बुध शनि	मंगल गुरु	सूर्य चन्द्र
शनि के	बुध शुक्र	सूर्य चन्द्र गुरु	मंगल

गणज्ञानबोधक चक्र—

देवता	अश्वि० मृगशिरा पुनर्वसु पुष्य हस्त स्वाती अनुराधा श्रवण रे०
मनुष्य	भ० रो० आर्द्रा पूर्वाफा० उ०फा० पूर्वाषाढ़ा उ०षा० पू०भा० उ०भा०
राक्षस	कृत्तिका आश्लेषा मघा चित्रा विशाखा ज्येष्ठा मूल धनि० शत०

ग्रह गुण बोधक चक्र —

वर

कन्या	रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
रवि	५	५	५	४	५	०	०
चन्द्र	५	५	४	१	४	॥	॥
भौम	५	४	५	॥	५	३	॥
बुध	४	१	॥	५	॥	५	४
गुरु	५	४	५	॥	५	॥	३
शुक्र	०	॥	३	५	॥	५	५
शनि	०	॥	॥	४	३	५	५

(६) गणमैत्री—

वर-कन्या के नक्षत्र से दोनों के गण देखें। यदि दोनों के गण एक हो अथवा एक मनुष्य, एक देवगण हो तो शुभ, यदि राक्षस-मनुष्य वा देव-राक्षस हों तो अशुभ समझना चाहिए—

गणगुणबोधक चक्र—

वर

कन्या	देव	मनुष्य	रा
देव	६	५	१
मनुष्य	६	६	०
राक्षस	१	०	६

(७) भकूट

वर की राशि से कन्या की राशि तक गिनने, से २, १२ । ६, ८ । ५, ९ हो तो अशुभ, अन्यथा शुभ समझना चाहिये ।

भकूट गुण बोधक चक्र—

	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मी
ेष	७	०	७	७	०	०	७	०	०	७	७	०
वृष	०	७	०	७	७	०	०	७	०	०	७	७
थुन	७	०	७	०	७	७	०	०	७	०	०	७
कर्क	७	७	०	७	०	७	७	०	०	७	०	०
सिंह	०	७	७	०	७	०	७	७	०	०	७	०
न्या	०	०	७	७	०	७	०	७	७	०	०	७
तुला	७	०	०	७	७	०	७	०	७	७	०	०
श्चिक	०	७	०	०	७	७	०	७	०	७	७	०
धनु	०	०	७	०	०	७	७	०	७	०	७	७
कर	७	०	०	७	०	०	७	७	०	७	०	७
म्भ	७	७	०	०	७	०	०	७	७	०	७	०
मीन	०	७	७	०	०	७	०	०	७	७	०	७

(८) नाडी—

नक्षत्र चक्र से वर-कन्या की नाडी देखे। यदि दोनों की भिन्न नाडी हो तो शुभ, यदि एक ही नाडी हो तो अशुभ समझना चाहिए।

नाडी नक्षत्र बोधक चक्र—

आदि	अश्विनी आर्द्रा पुन० उ० फा० हस्त ज्येष्ठा मूल शत० पू०भा०
मध्य	भरणी मृगशिरा पुष्य पू०फा० चित्रा अनु० पू० षा० ध० उभा०
अन्त्य	कृ० रोहिणी आश्लेषा मघा स्वाती वि० उ०षा० श्रवण रेवती

नाडी गुण बोधक चक्र—

वर (ऊपर), कन्या (बाएँ)

	आदि	मध्य	अन्त्य
आदि	०	८	८
मध्य	८	०	८
अन्त्य	८	८	०

कुछ परिहार वचन—

कन्यका-वरयोः राशिस्वामिनोर्ग्रहयोर्मिथः।
मैत्रे मित्रसमत्वे वा शुभं वैरे न शोभनम्॥
पार्श्वैकनाडी शुभदा मध्यनाड्यशुभप्रदा।

गुण-ग्रहण करने के समय परम्परा-प्रचलित इस वचन को ध्यान में रखना चाहिये कि—

नाडीदोषो हि विप्राणां वर्णदोषस्तु भूभुजाम्।
वैश्यानां गणदोषस्तु शूद्राणां योनिदूषणम्॥

नाड़ीदोष केवल ब्राह्मणराशिवालों के लिये ही है । अन्य राशि-वर्णवालों के लिये दुष्ट नाड़ी में भी पूर्ण गुण (८) ग्रहण करना चाहिये । ऐसे ही आगे भी अर्थ समझिये । यहाँ वर्ण जन्मकालिक राशिका ग्रहण करना, कुलका नहीं ।

उदाहरण—

वर जन्माङ्ग
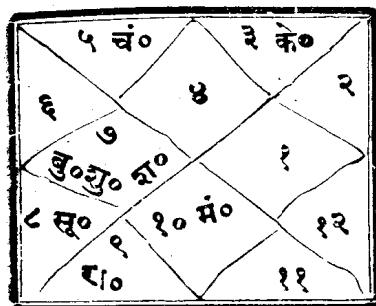
मघा २ चरण, सिंह राशि

कन्या जन्माङ्ग
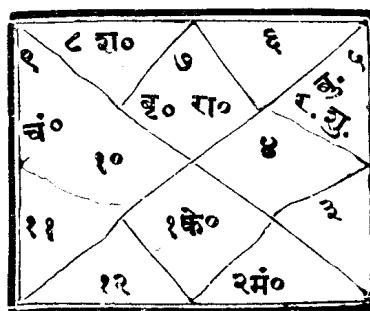
उ० षा० १ चरण, धनु राशि

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि कन्या के वर्णआदि कूट से वर के वर्ण आदि (श्रेष्ठ) बली अथवा समान हो तो शुभ, अन्यथा अशुभ होता है । ऊपर लिखित वर-वधू की कुण्डली में सामान्य वचन के अनुसार गुण और उनका योग = ११॥ होता है ।

राशीश ग्रहों के वर्ण—

गुरु, शुक्र = ब्राह्मण । सूर्य, मङ्गल = क्षत्रिय ।
चन्द्र = वैश्य । बुध = शूद्र । शनि = अन्त्यज ।

सामान्य वचन के अनुसार गुणबोधक चक्र—

वर		कन्या	प्राप्तगुण
१ वर्ण	क्षत्रिय	क्षत्रिय	१
२ वश्य	वन्य चतुष्पद	ग्राम्य चतुष्पद	२
३ तारा	३	८	१॥
४ योनि	मूषक	नकुल	२
५ ग्रहमैत्री	मित्र	मित्र	५
६ गण	राक्षस	मनुष्य	०
७ भकूट	५	९	०
८ नाडी	अन्त्य	अन्त्य	०
३६ सर्वगुणयोग		प्राप्तगुणयोग=११॥	

यहाँ सामान्य वचन से सारिणीमें लिखे हुये के अनुसार केवल साढ़े ग्यारह ११॥ गुणयोग है।

वास्तव में आर्षवचनानुसार दोष के भङ्ग (परिहार) होने पर गुण-ग्रहण करने से—२९॥ साढ़े उनतीस होता है। आगे चक्र में देखिये।

१ वर्ण	दोनों के समान वर्ण होने से	वर्णगुण=१
२ वश्य	इसमें दोनों चतुष्पद उसमें भी वरका बली है अतः	वश्यगुण=२
३ तारा	एक से सत्, दूसरे से असत् अतः पूर्णगुण का आधा	तारागुण=१॥
४ योनि	नकुल और मूषक, दोनों में न वैर, न मैत्री अतः आधा	योनिगुण=२
५ ग्रहमैत्री	राशीश ग्रहों में परस्पर मैत्री है, अतः पूर्ण गुण	ग्रहगुण=५
६ गण	वर राक्षस, कन्या मनुष्य है परस्पर वैर है परञ्च आगे दर्शित परिहार वचनानुसार मघा, उत्तराषाढ में दोष न होने के कारण, पूर्णगुण ६ का आधा	गणगुण=३
७ भकूट	राशीश में परस्पर मैत्री होने के कारण नव पञ्चम भकूट दोष भङ्ग होने से पूर्णगुण	भकूटगुण=७
८ नाडी	मघा और उत्तराषाढ़ में एक नाडी होने पर भी दोषाभाव से पूर्णगुण	नाडीगुण=८

इसप्रकार लब्ध सब गुणों का योग…………=साढ़ेउनतीस२९॥ होता है। जिस से दोनों में विवाह सम्बन्ध से पूर्ण मैत्री सिद्ध होती है। यहाँ साधारण ज्यौतिषीजन ११॥ साढ़े ग्यारह मानकर प्रत्यक्ष गुणयोगबाहुल्य होने से शुभ होनेपर भी अशुभ बताकर जनता को भ्रम अथवा धोखे में डाल देते हैं।

ग्रहमेलापक में कन्या-कुण्डलीस्थ अष्टम मङ्गल के दोष का परिहार वर-कुण्डलीस्थ सप्तम मङ्गल से होता है। अतः ग्रहमेलापक से भी दोनों में विवाह सम्बन्ध शुभप्रद सिद्ध होता है। ज्यौतिषियों को चाहिये कि जहाँ कन्या के योग्य-वर प्रत्यक्ष देखने में आवे वहाँ अन्य मेलापक का विचार नहीं करे। तथा जहाँ वर्ण आदि कूटके दोष भङ्ग हो वहाँ उस कूट का गुण पूर्ण ग्रह करें। यहाँ ज्यौतिषियों के उपकारार्थ हम वर्ण आदि ८ कूटों के कुछ दोष परिहारवचन लिख देते हैं--

वर्ण--राशिवर्णो यदा हीनो राशीशस्योत्तमो यदि।
तदा राशीश्वरौ ग्राह्यौ राशिवर्णं न चिन्तयेत्॥
वश्य—द्वयोः समबलौ राशी, सबलं वा वरस्य भम्।
तदा पतिवशा कन्या सुखसम्पत्तिभागिनी॥
तारा--द्वयो राशीशयोर्मैत्री, मैत्री वर्णपयोर्यदि।
असद् योनिरसत् तारा द्वे चापि शुभदे तदा॥
योनि—वर्गवैरं योनिवैरं गणवैरं नृदूरकम्।
दुष्टकूटफलं चैव ग्रहमैत्र्या विनश्यति॥
शुद्धे योनि-भकूटे चेद् ग्रहारित्वं न दुष्यति।
नाडी—रोहिण्यार्द्रा मघेन्द्राग्निपुष्यश्रवणपौष्णभम्।
उत्तराः प्रौष्ठपाच्चैषु नक्षत्रैक्येऽपि शोभनम्॥
शुक्रे जीवे तथा सौम्य एकराशीश्वरे सति।
एकभे चैकपादे च शोभनं पाणिपीडनम्॥
नाग्निर्दहत्यात्मतनुं यथा च नेत्रं यथापश्यतिनात्मरूपम्।
तथैकभे चैकपदे नृ-नार्योर्न नाडिदोषं गणयन्ति तज्ज्ञाः॥

कुछ विज्ञजन इन आठ कूटों से भिन्न वर्गमैत्री और तत्त्वमैत्री का भी विचार करते हैं। उनके मत से वर्ग गुण = ९। तत्त्वगुण १०। दशों कूटों के गुणों का योग ५५ होता है, उनमें १८ से अधिक होने पर मध्यम, ३६ से ऊपर शुभ मानते हैं।

(९) वर्गमैत्री-जैसे गृह और गृहेश के अवर्गादि ८ वर्गों में मैत्री-विचार किया गया है उसी प्रकार वधू और वर में मैत्री-विचार करना चाहिये। मैत्री और उदासीनता में ९, वैर में ० गुण होता है।

(१०) तत्त्वमैत्री—

> **त्रिरावृत्याग्नि-भू-वायु-जलानीति यथाक्रमम्।**
> **मेषादिराशिजातानां तत्त्वानीति बुधा जगुः॥**
> **तत्र भू-जलयोर्वह्नि-वाय्वोर्मैत्री सदा शुभा।**
> **जलाग्न्यो-र्भूमिवाय्वोश्च मिथो वैरं परित्यजेत्॥**

अग्नि, भूमि, वायु, जल इसी क्रमसे तीन आवृत्ति करके मेषादि राशियों के तत्त्व समझना। इनमें जल और भूमि में, तथा अग्नि और वायु में परस्पर मैत्री शुभप्रद तथा जल और अग्नि में एवं भूमि और वायुतत्त्व में परस्पर वैर है-जो त्याज्य कहे गये हैं।

उदाहरण—उपर्युक्त वर के मघा नक्षत्र द्वितीय चरण (मी) पवर्ग, और कन्या उत्तराषाढ़ प्रथम चरण (भे) प वर्ग। एकवर्ग होनेसे परस्पर मैत्री होने से गुण = ९। तथा वर सिंह राशि, अग्नि तत्त्व, तथा कन्या भी धनु राशि अग्नितत्त्व, दोनों में एकता होने से पूर्ण मैत्री है, अतः तत्त्वगुण = १०। दशो कूट का गुण योग २९॥+२० = ४९॥ हुआ। अतः इन दोनों में विवाह-सम्बन्ध अति श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

मुहूर्त विचार—

"शुभ मुहूर्त में किसी कार्य को आरम्भ करना"—ऐसा शास्त्रकारों का आदेश है। शुभ समय किसको कहते हैं?—इसके लिये "समयशुद्धिविवेक" देखिये। जिस कार्य का जो उपयुक्त समय देखने में आवे—वही उसका शुभ मुहूर्त समझना। अतः महर्षियों का कथन है कि—

कालोऽन्यो लभ्यते यत्र पञ्चाङ्गं तत्र शोधयेत्।
तत्कालमेव सर्वत्र सर्वोप्यावश्यकं चरेत्॥

अर्थात् जिस कार्य के करने के लिये शीघ्रता नहीं हो उसके लिये तिथि आदि पञ्चाङ्ग की शुद्धि देखनी चाहिये और जिस कार्य के तुरत नहीं करने से बिगड़ जाने की सम्भावना हो उसे तुरत कर लेना चाहिये।

जैसे, कन्या के विवाह का वयस हो गया हो और कोई सुयोग्य वर मिल जाय तो वहाँ तिथ्यादि की शुद्धि नहीं देखकर उसी दिन विवाह कर देना चाहिये। इस आदेश के अनुसार ही विश्व के विज्ञजन कार्य कर रहे हैं।

किन्तु भारत में विदेशी शासनकाल से संस्कृत के पण्डित कहलानेवाले कृषिकर्म, औषधभक्षण आदि के भी मुहूर्त लिखकर जनता को सन्देह में डाल दिये। कितने लोग खेत में पानी सूख जाने पर भी मुहूर्त बिना धान नहीं रोपते और रोगी लोग मुहूर्त नहीं बनने के कारण औषध न खाकर अपने प्राण गँवा देते हैं। अतः जैसे पूर्व के ग्रन्थकार लिख गये हैं तदनुसार हम मुहूर्त लिख देते हैं और आशा करते हैं कि विज्ञजन विवेकपूर्वक मुहूर्त विचार करेंगे।

विवाह मुहूर्त—

शास्त्रों में शुद्ध (स्वानुकूल) समय में विवाहादि शुभ कार्य करने का आदेश है। जिसका विवरण इसी ग्रन्थ के 'समयशुद्धिविवेक' नामक रत्न में दिया गया है।

पूर्व (जब स्वतन्त्र भारत विश्ववन्द्य था उस) समय में लोग शुद्ध लग्न (पञ्चघटिकात्मक) या मुहूर्त (द्विघटिकात्मक) समय को ही देखकर शुभ कार्यारम्भ करते थे। अनन्तर मुसलमानी शासनकाल में संशयालु पर-विश्वासी पण्डित लोग उसके तत्त्व को न जानकर केवल स्थूल तिथि नक्षत्रादि की ही शुद्धि देखने लगे; किन्तु उस समय भी विज्ञजन सूक्ष्म लग्न को देख लिया करते थे।

पूर्व समय की प्रचलित परिपाटी आजतक भी ग्राम्यजनों में चली आ रही है। ग्रामीणजन पण्डित के पास जाकर पूछते हैं कि पण्डित जी ! मुझे विवाह का मुहूर्त बना दीजिये, विवाह का लग्न बना दीजिये।' किन्तु कोई यह नहीं कहता कि तिथि या नक्षत्र बना दीजिये।

अतः पारस्करादि महर्षियों का मत है कि—

वर्ष-मास-दिनानां च शुद्धिं नैव विचिन्तयेत्।
सुलग्ने सुमुहूर्ते वा विवाहः सार्वकालिकः॥

तथा च—

वर्षं च मासश्च दिनं च लग्नं, मुहूर्त एते बलिनः क्रमात् स्युः।
परः परः पूर्वभवं हि दोषं, विनाशयत्येव न संशयोऽत्र॥
स्थूलकालभवो दोषः सूक्ष्मे शुद्धे विनश्यति।

इत्यादि वचनों के अनुसार आजकल विज्ञजन स्थूल (तिथि, नक्षत्रादि) काल की शुद्धि के साथ-साथ सूक्ष्म (लग्न) काल की भी

शुद्धि देख लेते हैं। क्योंकि यदि सूक्ष्मकाल सङ्कल्पादि कृत्यमें बीत जाय तो स्थूल तो शुद्ध मिल जायगा। यदि दोनों शुद्ध मिल जाँय तो फिर पूछने की क्या बात है?

विवाहवृन्दावन-कारने भी कहा है

'हस्ते त्रिवर्गी युगपद् युतिश्चेत्।

जन्मनक्षत्रजन्य दोष और परिहार—

च्यवन—"विशाखावृश्चिकोद्भूता देवरं हन्त्यसंशयम्।
विशाखा तुलया युक्ता देवरस्य शुभावहा॥

तथा रामाचार्य—

श्वश्रूविनाशमहिजौ सुतरां विधत्तः
कन्यासुतौ निर्ऋतिजौ श्वशुरं हतश्च।
ज्येष्ठाभजाततनया स्वधवाग्रजं च
द्वीशोद्भवा भवति देवरनाशकर्त्री॥

मूलान्त्यपादजौ श्रेष्ठौ तथा श्लेषाद्यपादजौ।
द्वीशान्त्यपादजौ दुष्टौ तथा ज्येष्ठान्त्यपादजौ॥

मेलापक में परिहारवचन—

(१) राशेर्वर्णो यदा हीनः श्रेष्ठो राशीश्वरस्य चेत्।
तदा राशिपतेर्ग्राह्यस्तत्र राशिं न चिन्तयेत्॥
(२) ऐक्ये मैत्र्ये समत्वे वा शुभं वश्येऽन्यथाऽशुभम्।
राश्योर्मैत्रसमत्वाद्यं विज्ञेयं व्यवहारतः॥
(३) द्वयोश्चन्द्रबले प्राप्ते तारादोषो विनश्यति॥

(४) सति सद्राशिकूटे च योनिवैरं न दोषकृत् ।
यदि स्यात् कन्यकायोने-र्वरयोनि-र्बलीयसी ॥

(५) खेटारित्वं नाशयेत् सद्भकूटं ।
खेटप्रीतिश्चापि दुष्टं भकूटम् ।

(६) राशीशयोः सुहृद्भावे मित्रत्वे वांशनाथयोः ।
गणादिदौष्ट्येऽप्युद्वाहः पुत्रपौत्रधनप्रदः ॥

(७) ग्रहमैत्रं शुभा तारा राशिवश्यं त्रिभिः शुभम् ।
षट्काष्टकं बुधाः प्राहुर्द्वाभ्यां द्व्यर्कनवात्मजम् ॥

(८) राश्यैक्ये चेद्भिन्नमृक्षं द्वयोः स्यात् ।
नक्षत्रैक्ये राशियुग्मं तथैव ।
नाडीदोषो नो गणाना न दोषो ।
नक्षत्रैक्ये पादभेदे शुभं स्यात् ॥

(९) एकर्क्ष-एकपाद-दोषपरिहार—

रोहिण्यार्द्रा-मघेन्द्राग्नि-तिष्य-श्रवण-पौष्णभम् ।
उत्तराप्रोष्ठपाश्चैव नक्षत्रैक्येऽपि शोभनम् ॥
शुक्रो जीवस्तथा सौम्य एकराशीश्वरो यदि ।
नाडीदोषो न वक्तव्यः सर्वथा यत्नतो बुधैः ॥

विवाह में दश दोष

यद्यपि विवाह में ८१ दोष कहे गये हैं, तथापि उनमें मुख्य १० दोष हैं, जिनके शुद्ध होने से अन्य दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता । वे इस प्रकार हैं—

(१) लत्ता—अपने आश्रित नक्षत्र से सूर्य आगे के १२वें, मङ्गल ३रे, गुरु ६ठें और शनि ८वें नक्षत्र को लत्ता से दूषित करते हैं, यह अग्रलत्तादोष है तथा पूर्ण चन्द्र अपने आश्रित नक्षत्र से पीछे २२वें, बुध ७वें, शुक्र ५वें और राहु ९वें नक्षत्र को लत्तित करते हैं। यह पृष्ठलत्ता दोष कहलाता है। अग्रलत्ता में नक्षत्र के पूर्वार्ध में और पृष्ठलत्ता में नक्षत्र के उत्तरार्ध में अधिक दोष होता है।

(२) पात—साध्य, हर्षण, शूल, गण्ड, वैधृति और व्यतीपात—इन योगों का अन्त जिस नक्षत्र में होता है, वह पातदोषयुक्त समझा जाता है।

(३) युति—चन्द्रमा ग्रह से युक्त हो तो युतिदोष कहलाता है। शुभग्रह से अल्प और पाप ग्रह से अधिक दोष होता है।

(४)वेध—पञ्चशलाका चक्र में यदि विवाह के नक्षत्र के सम्मुख नक्षत्र में कोई ग्रह पड़े तो वेधदोष कहलाता है। जैसे रोहिणी, अभिजित्। मृगशिरा, उत्तराषाढ़ा। भरणी, अनुराधा। मघा, श्रवण। हस्त, उत्तरभाद्र। स्वाती, शतभिषा। मूल, पुनर्वसु। उत्तराफाल्गुनी, रेवती। इन दो-दो नक्षत्रों में परस्पर वेध दोष होता है। अर्थात् एक में ग्रह हो तो दूसरा विद्ध समझा जाता है।

कोई चरणवेध ही मानते हैं। ग्रह १ चरण में हो तो दूसरे नक्षत्र के चतुर्थ चरण में वेध होता है, यदि चतुर्थ चरण में हो तो प्रथम चरण विद्ध होता है एवं द्वितीय में हो तो तृतीय, तथा तृतीय चरण में ग्रह हो तो द्वितीय चरण विद्ध होता है। शुभ ग्रह के वेध से अल्प दोष और पापग्रह के वेध से अधिक दोष होता है। इसलिये लग्नशुद्धि

से शुभग्रह का वेध-दोष नष्ट हो जाता है तथा आवश्यकता होने पर चरणमात्रका त्याग किया जाता है।

विवाह से भिन्न कर्म में इसी प्रकार सप्तशलाका चक्र से एक रेखा में स्थित दो-दो नक्षत्र में वेध समझना चाहिये।

(५) यामित्र——लग्न या चन्द्रमा से ७वीं राशि में कोई ग्रह हो तो यामित्र दोष कहलाता है। यदि लग्न और ग्रह का अन्तर ठीक ६ राशि हो तो पूर्ण यामित्र दोष होता है, अन्यथा अल्प दोष कहा गया है। विवाह-लग्नशुद्धि से अल्प यामित्र दोष नष्ट हो जाता है।

(६) बाण——किसी भी राशि में स्पष्ट सूर्य के भुक्तांश—८, १७, २६ हों तो रोगबाण; २, ११, २०, २९ हों तो अग्निबाण; ४, १३, २२ हों तो राजबाण; ६, १५, २४ हों तो चोरबाण और १, १०, १९, २८ भुक्तांश हों तो मृत्युबाण होता है। विवाह में मृत्युबाण, उपनयन में रोगबाण, यात्रा में चोरबाण, नौकरी करने में राजबाण और गृहारम्भ में अग्निबाण त्याज्य है। यह सार्वदेशिक है।

(७) एकार्गल——जिस दिन विष्कम्भ, वज्र, परिघ, गण्ड, अतिगण्ड, शूल, व्याघात, वैधृति, व्यतीपात—इनमें से कोई योग हो तथा सूर्यनक्षत्र से अभिजित् सहित गणना से चन्द्रमा का नक्षत्र विषम संख्या में हो तो एकार्गल दोष होता है।

(८) उपग्रह—सूर्य के नक्षत्र से यदि ५, ७, ८, १०, १४, १५, १८, १९, २१, २२, २३, २४, २५ वाँ चन्द्र नक्षत्र हो तो उपग्रह दोष होता है। वह कुरु और बाह्लिक देश में विशेष दोषावह है।

(९) क्रान्तिसाम्य---मेष, सिंह; वृष, मकर; मिथुन, धन; कर्क, वृश्चिक; कन्या, मीन; तुला, कुम्भ--इन दो-दो राशियों में एक में सूर्य, दूसरे में चन्द्रमा हो तो क्रान्तिसाम्यदोष होता है।

(१०) दग्धातिथि—सूर्य धनु-मीन में हो तो २, वृष-कुम्भ में हो तो ४, मेष-कर्क में हो तो ६, मिथुन-कन्या में हो तो ८, सिंह-वृश्चिक में हो तो १०, तुला-मकर में हो तो १२ दग्धातिथि होती है।

ये १० दोष विवाह में त्याज्य कहे गये हैं। इनमें ४ से कम दोष हों तो वे लग्न-शुद्धि से नष्ट हो जाते हैं।

विवाह के दोषों का भङ्गयोग—

त्रिकोणे केन्द्रे वा मदनरहिते दोषशतकं
हरेत् सौम्यः शुक्रो द्विगुणमपि लक्षं सुरगुरुः।
भवेदाये केन्द्रेऽङ्गप उत लवेशो यदि तदा
समूहं दोषाणां दहन इव तूलं शमयति॥

विवाह लग्न से सप्तम छोड़कर अन्य केन्द्र (१, ४, १०) और त्रिकोण (५। ९) बुध हो तो सैकड़ों दोषों का; शुक्र हो तो उसके दूने का; यदि गुरु उक्त स्थान में हो तो लाखों दोषों का नाश हो जाता है। यदि लग्नेश अथवा लग्ननवांशेश ११, १, ४, १० में हो तो जितने भी लग्न के दोष कहे गये हैं, उन सबको तूल (कपास, रूई) की ढेर को अग्नि के समान, भस्म कर देते हैं।

दिन में १२ लग्न बीतते हैं। विज्ञजन चाहें तो प्रतिदिन उक्त योग प्राप्त हो सकते हैं। इतनी सुविधा देने पर भी प्रमादी और आलसी-जन धर्मभीरु जनता को दबाते हैं कि आज अमुक दोष है, मुहूर्त नहीं बनता है।

विवाह में विहित मास—

यद्यपि सर्वदा शुभ सूक्ष्म समय (सुलग्न अथवा सुमुहूर्त) में विवाह करने का शास्त्रादेश है तथापि कुछ देशों में विद्वज्जन स्थूल समय (मास, तिथि, नक्षत्र) को भी शुद्धि देख लेते हैं। सूक्ष्म और स्थूल—दोनों शुद्ध मिल जाय तो अतिश्रेष्ठ है। एवं कितने आचार्य के मत से रिक्ता, अमावास्या तिथि, शनि, मङ्गलवार, त्याज्य कहे गये हैं। किन्तु नक्षत्र की शुद्धि से तिथि और वार के दोष नष्ट हो जाते हैं। अतः शुद्ध नक्षत्र में, रिक्ता तिथि और शनि, मङ्गलवार भी बहुत से लोग ग्रहण करते हैं। एवं "विवाहादौ स्मृतः सौरः" वचन के अनुसार सौरमास ग्रहण करते हैं। तदनुसार सकल साधारण जनोपकारार्थ मुहूर्त लिखे जाते हैं—

मेष, वृष, मिथुन, वृश्चिक, मकर, कुम्भ के सूर्य में ही विवाह विहित है। हरिशयनी एकादशी से आगे मिथुन का सूर्य भी त्याज्य है।

विहित तिथि—रिक्ता (४, ९, १४) और अमावस्या को छोड़कर सब तिथि विहित हैं।

विहित वार—शनि और मङ्गल को छोड़कर सब वार विहित हैं।

विहित नक्षत्र— रोहिणी, मृगशिरा, मघा, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, स्वाती, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्रपद और रेवती—ये ११ नक्षत्र सब मुनिसम्मत हैं।

गृह्यसूत्र में इनसे अतिरिक्त अश्विनी, चित्रा, श्रवण और धनिष्ठा—ये ४ नक्षत्र भी विहित कहे गये हैं। परन्तु ये ४ नक्षत्र मिथिला आदि कुछ प्रान्तों में आवश्यकता होने पर लिये जाते हैं।

विहित लग्न—सामान्य लग्नशुद्धि के अनुसार विवाह में भी लग्न-शुद्धि देखी जाती है, किन्तु विवाह में सप्तमभाव में सब ग्रह अनिष्ट कहे गये हैं तथा लग्न में मिथुन, कन्या, तुला, धनु और मीन का नवांश प्रशस्त कहा गया है; यदि अपनी जन्म-राशि और जन्म लग्न से ८वीं या १२वीं राशि न हो।

वरवरण—कृत्तिका, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्रपद नक्षत्र वा विवाह-विहित नक्षत्र शुभ तिथि, शुभ वार, वर के चन्द्र तारानुकूल सुलग्न समय में श्रेष्ठ है।

कन्यावरण—कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, हस्त, स्वाती, अनुराधा, मूल, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती नक्षत्र, रिक्ता से भिन्न तिथि, शुभ वार कन्या के चन्द्रतारानुकूल सुलग्न समय में प्रशस्त हैं।

विवाह लग्न से ग्रहों के शुभ स्थान—

सूर्य ३, ६, १०, ११। चन्द्र २, ३, ११। मङ्गल ३, ६, ११। बुध गुरु १, २, ३, ४, ५, ६, ९, १०, ११। शुक्र १, २, ४, ५, ९, १०, ११। शनि, राहु, केतु, ३, ६, ८, ११ में प्रशस्त हैं।

भङ्गदस्थान—सब ग्रह ७ में। चन्द्र और पापग्रह १ (लग्न)। चन्द्र लग्नेश शुक्र ६। चन्द्र मङ्गल लग्नेश शुभ ग्रह ८। मङ्गल १०। शुक्र ३। शनि १२ में लग्न भङ्गकारक है।

शुभ स्थान में विंशोपक बल—सूर्य ३॥। चन्द्र ५। बुध शुक्र २। गुरु ३। मङ्गल, शनि, राहु, केतु १॥, १॥। १० से अधिक विंशोपक बल प्रशस्त है।

ग्रह-दोष-परिहार--

नीचभेऽस्तगते चन्द्रे शुक्रे वा शत्रुभे स्थिते ।
क्रमादष्टमषष्ठस्थदोषो नैव भवेत्तयोः ॥
नीचराशिगते भौमे शत्रुभेऽस्तगतेऽपि वा ।
तस्याष्टमोद्भवो दोषो न किञ्चिदपि विद्यते ॥

विवाह कर्म की सम्पन्नता—

सम्पन्नता विवाहस्य तदा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
यदा सञ्जायते बध्वाः पतिगेहप्रवेशनम् ॥
विवाहाङ्गमतः प्रोक्तमाद्यं बध्वाः प्रवेशनम ।
ततः पूर्वं वरे दोषे ज्ञाते प्रव्रजिते मृते ॥
कन्याऽन्यस्मै प्रदातव्या बलाद् वापि विवाहिता ।
बधूप्रवेशादागत्य स्थित्वा पितृगेहे पुनः ॥
गमः पतिगृहे तस्या "द्विरागम" इतीरितः ।
एवं गमस्तृतीयस्तु कैश्चित् 'द्व्यङ्ग' इति स्मृतः ॥

मन्त्र विधि से विवाहकर्म हो जाने पर भी जब वधू अपने पति गृह प्रवेश करती है तब विवाह की सम्पन्नता होती है । । इस लिये "वधू-प्रवेश" को विवाह का अङ्ग माना जाता है । उससे पूर्व यदि वर में कोई दोष देखने में आवे या वर कन्या को छोड़कर संन्यास ग्रहण करले, या मर जाय, अथवा कन्या की स्वीकृति बिना बलपूर्वक विवाह कर लिया जाय, इन सब स्थितियों में उस कन्या को किसी अन्य योग्य वर को दे दिया जाय यह सदा सर्वत्र धर्म माना गया है । मुहूर्तमार्तण्डकार ने भी कहा है—

**"पूर्वं सप्तपदीविधेरधिगते दोषे वरे वा मृते।
देयाऽन्यत्र विवाहितापि च बलात् सा विद्वयोनिर्न चेत्॥"**

वधू-प्रवेश—विवाह-दिन से १६ दिन तक सब सम (२, ४ आदि) दिन तथा ५, ७, ९ वें दिनों में, १६ दिन के बाद १ मास के भीतर केवल १७ आदि विषम दिनों में, १ मास के बाद विषम मासों में, १ वर्ष के बाद विषम वर्षों में, रवि और मङ्गल को छोड़कर अन्य वारों में, रिक्ता अमावास्या को छोड़कर अन्य तिथियों में, ध्रुव, क्षिप्र, मृदुसंज्ञक, श्रवण, धनिष्ठा, मघा, मूल, स्वाती—इन नक्षत्रों में वधू-प्रवेश शुभ होता है। ५ वर्ष के बाद विषम वर्षादि का नियम नहीं रहता है। वधू-प्रवेश (पति-गृह-प्रवेश) रात्रि में ही प्रशस्त है।

वस्त्र-भूषण-धारण—रिक्ता को छोड़कर अन्य तिथियों में; हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, अश्विनी नक्षत्रों में; शनि, सोम, मङ्गल को छोड़कर अन्य वारों में; स्थिर लग्न में नवीन वस्त्र-भूषण धारण करे। किंतु ध्रुवसंज्ञक, पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्रों में सधवा स्त्री नवीन वस्त्रादि कदापि न धारण करे। विशेष—राजा और ब्राह्मणों की आज्ञा होने पर या कोई प्रेमपूर्वक उपहार में दे या पर्व, उत्सव, विवाहादि में निन्द्य नक्षत्रादि में भी वस्त्राभरण धारण करना प्रशस्त है।

नूतन वधूद्वारा पाकारम्भ—कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, ध्रुवसंज्ञक, ज्येष्ठा, विशाखा, श्रवण, धनिष्ठा, शततारा, रेवती नक्षत्रोंमें, शुभ तिथियोंमें, रवि, मङ्गलको छोड़कर अन्य वारोंमें, स्थिर लग्नोंमें लग्नसे ४, ८, १२ में कोई ग्रह नहीं हो तो नवोढा स्त्री पाक आरम्भ करे।

द्विरागमन—विवाहसे विषम (सौर) वर्ष में—मार्गशीर्ष, फाल्गुन, वैशाख मासमें, शुक्लपक्षमें, रिक्ता-अमावास्या को छोड़कर शुभ तिथियों में,

अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्र, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, श्रवण, रेवती—इन नक्षत्रोंमें, सोम, बुध, गुरु, और शुक्रवारों में, मिथुन, कन्या वृष, तुला, मीन लग्नमें द्विरागमन प्रशस्त है ।

विवाहसे १ वर्षके बाद—दक्षिण और सम्मुख शुक्र, गुरु शुक्र के अस्त और सिंहराशि में सिंहनवांशस्थ गुरु त्याज्य है ।

दक्षिण-सम्मुख शुक्रका परिहार—जो कन्या प्रौढ़ा (१२ वर्ष के ऊपर) हो तथा जिसके पतिका गोत्र भारद्वाज, अत्रि, भृगु, अङ्गिरा, वत्स, वशिष्ठ, या काश्यप हो, यदि रेवतीसे ६ नक्षत्रमें चन्द्र हो तो सम्मुख-दक्षिण शुक्रका दोष नहीं होता है ।

सम्मुख राहु-विचार—द्विरागमनमें राहुका दोष नहीं होता । द्विरागमनके बाद पिताके घरमें आकर तृतीय बार पतिके घर जानेमें सम्मुख-दक्षिण राहु त्याज्य है । इसमें कोई त्रैमासिक राहु ग्रहण करते हैं, कोई मासिक राहु । जिस राशिमें सूर्य रहता है, उस राशिकी दिशामें मासिक राहु भी रहता है । त्रैमासिक राहु वृश्चिक, धन, मकरके सूर्यमें पूर्व; कुम्भ, मीन, मेषके सूर्यमें दक्षिण; वृष, मिथुन, कर्कके सूर्यमें पश्चिम और सिंह, कन्या, तुलाके सूर्यमें उत्तर रहता है । त्रैमासिक, मासिक राहुकी व्यवस्था देशाचारसे ग्रहण करनी चाहिए ।

रजस्वलाका स्नान—अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्र, धनिष्ठा, रेवती—इन नक्षत्रोंमें, शुभतिथि और शुभवारोंमें रजस्वला का स्नान करना प्रशस्त है ।

संस्कार प्रकरण [३]

संस्कार—जिस क्रियासे पदार्थोंमें विकार (मल) हटकर स्वच्छता आ जाती है उसको संस्कार कहते हैं। मानव जातियों में-गर्भाधान से-मरणपर्यन्त अनेक संस्कारों में एकादश मुख्य बतलाये हैं। यथा —

"संस्कारा विविधास्तत्र मुख्या एकादश स्मृताः।
ग-पुं-सी-जा-नि-ना--प्रा-चू-व्र-वि-साद्यक्षराख्यकाः॥

अर्थात्--शास्त्रकारोंने-ग पुं-सी-आदि अक्षर नाम वाले ११ संस्कार मुख्य बताये है--जैसे ग=गर्भाधान १। पुं=पुंसवन २। सी=सीमन्त ३। जा=जातकर्म ४। नि=निष्क्रमण ५। ना=नामकर्म ६। प्रा=प्राशन (अन्नप्राशन) ७। चू=चूडाकरण ८। व्र=व्रतबन्ध (उपनयन) ९। वि=विद्यारम्भ १०। स=समावर्तन ११। इनमें बहुत विज्ञजन समावर्तन को विद्यारम्भ का अङ्ग समझकर १० ही संस्कार कर्म माने हैं। इसलिये द्विजातियों के लिये "दशकर्म" प्रसिद्ध हैं। इन संस्कारों के बीचमें भी देश और समाज भेदमें स्व-स्व कल्पित व्यवहार रूप अनेकों क्रियायें हैं, उन सबों के करनेके मुहूर्त कहते हैं।

गर्भाधान--जैसे सुसमयमें बीजवपनसे सस्यमें पुष्टता होती है, उसी प्रकार सुसमयमें गर्भाधानसे संतान गुणवान् और दीर्घजीवी होती है। इसलिये सुसमयमें ही गर्भाधान करने का आदेश है।

मुहूर्त--जिस दिन स्त्रीको मासिकधर्म हो, उससे ४ रात्रिके बाद सम रात्रिमें, यदि कन्या संततिकी उत्पत्ति चाहते हों तो विषम रात्रिमें गण्डान्त, रवि-चन्द्रका ग्रहण, ७वीं तारा, मूल,भरणी, अश्विनी, रेवती, मघा नक्षत्र, व्यतीपात, वैधृतियोग माता-पिताकी क्षयतिथि, अमावास्या, शनि,

बुधवार सभीको छोड़कर अन्य सभी तिथि-वार नक्षत्रादिमें प्रसन्नचित्त होकर रात्रिमें सुलग्न देखकर गर्भाधान-कृत्य करना चाहिये ।

गण्डान्त—रेवतीकी अन्तिम १२ घड़ी और अश्विनीके आदिकी ३ घड़ी एवं आश्लेषाकी अन्तिम ११ घड़ी और मघा की आदि ४ घड़ी तथा ज्येष्ठाकी अन्तिम ६ घड़ी, मूलकी आदि ९ घड़ी ये गण्डान्त कहे गये हैं ।

पुंसवन—गर्भाधानसे द्वितीय, तृतीय मासमें मूल, पुनर्वसु, मृगशिरा पुष्य, श्रवण, हस्त—इन नक्षत्रोंमें, रवि, मङ्गल, गुरु वारोंमें, नन्दा और भद्रा तिथियोंमें, शुक्लपक्षमें, मिथुन, सिंह, कुम्भ, धनु और मीन लग्नमें लग्नशुद्धि देखकर पुंसवन कर्म करना चाहिये ।

सीमन्त—गर्भाधानसे ४, ६ या ८वें मासमें, मासका स्वामी बली हो (अस्त-तथा नीचगत नहीं हो), शुक्लपक्षमें, कर्क, सिंह, कन्या, वृश्चिक और मीन लग्नमें, रवि, मंगल, गुरुवारमें, रिक्तासे भिन्न तिथियोंमें, मृगशिरा, हस्त, श्लेषा, मूल, पुष्य, पुनर्वसु, रोहिणी, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्र और रेवती—इन नक्षत्रोंमें चन्द्रतारा और लग्नशुद्धि देखकर सीमन्तकर्म प्रशस्त है ।

जातकर्म—संतानके जन्मसमयमें ही पिताको जातकर्म-संस्कार करना चाहिये । इस समयमें तिथ्यादिशुद्धि देखनेकी आवश्यकता नहीं होती है । यदि जन्म-समयमें पिता उपस्थित नहीं हो तो ११वें या १२वें दिनमें करना चाहिये । अथवा रिक्ता-तिथि ८, अमावास्या, पूर्णिमा, रवि-संक्रान्ति दिन—इनको छोड़कर बाकी तिथिमें, मृदु, ध्रुव, क्षिप्र और चर नक्षत्रोंमें, शुभ दिनोंमें लग्न-शुद्धि देखकर जातकर्म करना चाहिये ।

बालकोंका भूम्युपवेशन—जन्मसे ५ वें महीनेमें पृथ्वी और वराह भगवान्‌का पूजन करके रिक्ता, अमावस्या तिथिको छोड़कर अन्य तिथि-

योंमें शुभ ग्रहके वारमें लड़केको करधनी (कटिसूत्र) बाँधकर ध्रुव, मृग-शिरा, अनुराधा, लघुसंज्ञक नक्षत्रोंमें भूमिपर बैठाना चाहिये ।

उस समय आजीविकाज्ञानार्थ विद्या, कृषि, युद्ध या सेवासम्बन्धी पदार्थ उसके सामने रखे । पूर्व-जन्मसंस्कारसे बालक जिस वस्तुको ग्रहण करे, उसी विषयसे उसकी आजीविका समझनी चाहिये ।

प्रसूतिस्नान---उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्र, रोहिणी, मृगशिरा, स्वाती, रेवती, हस्त, अनुराधा, पूर्वाफाल्गुनी, धनिष्ठा, अश्विनी इन नक्षत्रों में रवि, मङ्गल और बृहस्पतिवार में रिक्ता ६, ८, १२ को छोड़कर अन्य तिथि में प्रसूति-स्नान प्रशस्त है ।

सूतिका जल-पूजा---मासपूर्ति होने पर गुरु, शुक्रास्त, चैत्र, पौष, रिक्ता तिथि–इन सबों को छोड़कर सोम, बुध, गुरुवार में, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, अनुराधा हस्त मूल श्रवण नक्षत्र में जल पूजा विहित है ।

निष्क्रमण---जन्म से १२ वें दिन अथवा जन्म से चतुर्थ मास में यात्रा में विहित तिथ्यादि में निष्क्रमण (प्रसूतिका गृह से दूसरे गृह या आँगन से बाहर लाना) प्रशस्त है ।

नामकरण---चर, क्षिप्र, ध्रुव और मृदु नक्षत्रों में रवि, सोम, बुध, बृहस्पति, शुक्रवारों में, रिक्ता से भिन्न तिथि में, चन्द्र, तारा और लग्न-शुद्धि देखकर नामकरण करना चाहिये ।

अन्नप्राशन---बालक के जन्म से ६, ८, १० आदि सम मास में, कन्या के ५, ७, आदि विषम मास, शुक्ल पक्ष में, रिक्ता, क्षय तिथि, नन्दा, ८, १२ इन तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियों में, हस्त, पुनर्वसु, पुष्य, रोहिणी, चित्रा, मृगशिरा, अनुराधा, अश्विनी, स्वाती, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्र, धनिष्ठा, मघा, रेवती–इन नक्षत्रों में, शनि-मङ्गल को

छोड़कर अन्य दिनों में, मिथुन, कन्या, वृष, मीन लग्न में अन्नप्राशन प्रशस्त है।

कर्णवेध---जन्म दिन से १२ वें या १६ वें दिन में उसके बाद हरिशयन (आषाढ शुक्ल ११ से कार्तिक शुक्ल ११ तक), पौष, चैत्र और जन्ममास को छोड़कर, जन्म से ६, ७, ८ वें मास में उसके बाद विषम (३, ५ आदि) वर्ष में, जन्म-नक्षत्र और रिक्ता तिथि छोड़कर अन्य तिथियों में, हस्त, पुनर्वसु, श्रवण, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, अश्विनी, पुष्य, स्वाती, मृगशिरा, चित्रा---इन नक्षत्रों में, चन्द्र बुध गुरु शुक्र के वारों में, मेष, वृश्चिक, मकर, कुम्भ लग्न और नवांश को छोड़कर अन्य लग्न में समय शुद्धि और चन्द्र-तारा की शुद्धि देखकर कर्णवेध करना चाहिये।

चूडाकरण (मुण्डन) -- जन्म से ३, ५ आदि विषम वर्ष में, चैत्र को छोड़कर उत्तरायण समय में, १, ६, ८, १५, ३०, ४, ९, १४ इन तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियों में, सोम बुध गुरु शुक्र वार में; जन्मनक्षत्र को छोड़कर मृगशिरा, चित्रा, रेवती, ज्येष्ठा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, स्वाती, पुनर्वसु, हस्त, अश्विनी, पुष्य—इन नक्षत्रों में लग्नशुद्धि देखकर अपराह्न से पूर्व चूडाकरण प्रशस्त है।

किसी के मत से प्रथम-द्वितीय वर्ष में भी विहित है तथा ब्राह्मण के लिये रवि, क्षत्रिय के लिये मङ्गल और वैश्य तथा शूद्र के लिये शनिवार भी प्रशस्त कहा गया है एवं याम्यायन में मार्गशीर्ष भी चूडाकरण में श्रेष्ठ है।

उपनयन---गर्भाधान या जन्मकाल से ब्राह्मणों का ८ वें या ५ वें वर्ष में, क्षत्रियों का ६ठे या ११ वें, वैश्यों का ८ वें या १२ वें वर्ष में उपनयन श्रेष्ठ कहे गये हैं। उसके बाद कथित वर्ष के बाद दूना वर्ष

तक क्रमशः निन्द्य माना गया है। दूना वर्ष के बाद व्रात्यस्तोम प्रायश्चितादि होता है। इसलिये विहित वर्ष में हरिशयन से पूर्व उत्तरायण के ६ मासों में शुक्लपक्ष में पूर्वाह्न में २, ३, ५, १०, ११, १२ तिथियों में, क्षिप्र, ध्रुव, श्लेषा, चर, मूल, मृदु, पूर्वा ३, आर्द्रा—इन नक्षत्रों में, बुध, गुरु, शुक्र, सोम दिनों में मतान्तर से रविवार में भी, वृष, मिथुन, सिंह, कन्या, तुला, धनु और मीन लग्न में लग्न, तारा और रवि, चन्द्र तथा गुरु की शुद्धि हो तो उपनयन प्रशस्त है।

इसमें अनध्याय—ज्येष्ठ शुक्ल २, आषाढ़ शुक्ल १०, पौषशुक्ल ११ और माघ शुक्ल १२ में उपनयन निषिद्ध है।

वेदारम्भ—भी इन्हीं तिथि, नक्षत्र आदि में प्रशस्त कहा गया है।

अक्षरारम्भ—कुम्भ के सूर्य को छोड़कर उत्तरायण समय में २, ३, ५, ६, १०, ११, १२, तिथियों में, मृगशिरा, आर्द्रा; पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, हस्त, चित्रा, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाउत्तरभाद्र, उत्तराफा०, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्र, रोहिणी, रेवती—इन नक्षत्रों में रवि, गुरु, शुक्रवार में, लग्न, चन्द्र, तारा शुद्ध हो तो बालकों का अक्षरारम्भ प्रशस्त है। सोम और बुधवार मध्यम हैं।

समावर्तन—उपनयन के मुहूर्त में ही समावर्तन भी प्रशस्त है।

दीक्षाग्रहण—प्रतिपदा, रिक्ता, अमावास्या को छोड़कर अन्य तिथियों में, शनि-मङ्गल को छोड़कर अन्य वारों में, चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़, भाद्रपद, पौष मासको छोड़कर अन्य मासोंमें अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, पू० फा० उ० फा०, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, मूल, शतभिषा, पू० भा० उ० भा०, रेवती—इन

नक्षत्रों में चन्द्र, तारा और लग्न की शुद्धि देखकर दीक्षा (मन्त्र) ग्रहण करनी चाहिए।

चैत्र रामनवमी, ज्येष्ठ शुक्ल १०, ११ में और ग्रहण-समय में भाद्र में रोहिणीयुत ८ तिथि भी मन्त्रग्रहण में प्रशस्त है।

सोमवती अमावास्या, मङ्गल की १४, रविवार की ७ में तथा सद्-गुरु यदि प्रेमपूर्वक शिष्य को बुलाकर मन्त्र दें तो इनमें मुहूर्त विचारने की आवश्यकता नहीं होती है।

कृषि प्रकरण [४]

सामान्य कृषिकर्म--रोहिणी, पुन०, मू०, रे०, अश्वि०, हस्त, उत्तरा ३, मृग, ध० अनुराधा--ये नक्षत्र समस्त कृषि-कर्म में प्रशस्त हैं।

हलप्रवहण--मृदु, ध्रुव, क्षिप्र, चर, मूल, मघा और विशाखा नक्षत्रों में; ३, ५, ७, ११, १३-दोनों पक्ष की इन तिथियों में तथा पूर्णिमा में हलप्रवाह श्रेष्ठ है। २, ६, १०--इन तिथियों में मध्यम है। सोम, बुध, गुरु और शुक्रवार प्रशस्त है। वृष, मिथुन कन्या, वृश्चिक, धन, मीन,--ये लग्न प्रशस्त हैं।

चक्रशुद्धि--सूर्य जिस नक्षत्र में हो, उसके पूर्व नक्षत्र से ३ अशुभ, आगे ८ शुभ, उसके आगे के ९ नक्षत्र अशुभ तथा उसके आगे ८ शुभ होते हैं। इनमें अभिजित् भी गिना जाता है।

बीजवपन—हलप्रवाह की तिथियों में ही बीजवपन भी शुभ होता है। रोहिणी, उत्तरा ३, पू० फा०, हस्त, पुष्य, स्वाती, आश्ले०, मूल,

श्रवण, शत० अनु०, रेवती—ये १४ नक्षत्र बीजवपन में श्रेष्ठ और अश्वि०, मृग०, पुन० धनिष्ठा—ये मध्यम और शेष ९ नक्षत्र नेष्ट हैं। सोम, बुध, गुरु और शुक्रवार प्रशस्त हैं। वृष, कर्क, सिंह, मकर, मीन—ये लग्न शुभ हैं। मिथुन, तुला, कुम्भ—ये मध्यम; अन्य लग्न अशुभ होते हैं।

चक्रोद्धार—राहु जिस नक्षत्रमें हो, उससे ८ अशुभ, ३ शुभ, १ अशुभ, ३ शुभ, १ अशुभ, ३ शुभ, १ अशुभ, ३ शुभ, ४ नक्षत्र अशुभ होते हैं। इसमें अभिजित्‌की गणना नहीं होती है।

सस्य (धान्य) रोपण —रोहिणी, मूल विशाखा, शत०, पूर्वभाद्र, उत्तरफा० नक्षत्रोंमें; रिक्तासे भिन्न तिथियोंमें; शनि, मङ्गलसे भिन्न वारोंमें; स्थिर लग्नमें सस्य (सब प्रकारके धान्य) का रोपण प्रशस्त है।

धान्यछेदन—तीक्ष्णसंज्ञक, पू० भा०, हस्त, कृत्तिका, म०, श्र०, मृग०, स्वा०, मघा, उत्तरा ३, पूर्वाषा०, भरणी और पुष्य नक्षत्रोंमें, शनि, मङ्गल, रिक्ता तिथियोंको छोड़कर अन्य वार और तिथियोंमें, स्थिर लग्नमें धान्यछेदन प्रशस्त है।

धान्यमर्दन—पू० फा०, उ० फा०, श्र०, मघा, ज्ये०, रो०, मूल, अनु०, रेवती नक्षत्रोंमें, शनि, मङ्गल, रिक्ताको छोड़कर अन्य वार और तिथियोंमें धान्यमर्दन प्रशस्त है।

धान्यस्थिति—मिश्र, उग्र, आर्द्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा—इन नक्षत्रोंको, छोड़कर अन्य नक्षत्रोंमें, स्थिर और द्विस्वभाव लग्नमें, शनि-मङ्गल, रिक्ताको छोड़कर अन्य तिथि-वारोंमें धान्यको बखारमें रखना शुभ होता है।

ऊख पेरना—धान्य-मर्दनके मुहूर्तमें ऊख पेरना श्रेष्ठ है। इसमें सूर्यनक्षत्रसे ४ शुभ, २ अशुभ, २ शुभ, ५ अशुभ, ५ शुभ, २ अशुभ

और ६ नक्षत्र शुभ होते हैं।

धान्यवृद्धि--रवि, मङ्गल, बुधवारको, रिक्ता तिथिको, हस्त नक्षत्रको, रविकी संक्रान्ति दिन (इन सबों) को छोड़कर अन्य वार-तिथि नक्षत्रोंमें वृद्धि (सवाया आदि) पर धान्य देना चाहिये।

नवान्नभक्षण--पौष और चैत्रमासको छोड़कर अन्य मासोंमें; शनि, मङ्गलको छोड़कर अन्य वारोंमें; नन्दा (१, ६, ११) तिथियोंको छोड़कर अन्य तिथियोंमें, चर, क्षिप्र, मृदु, नक्षत्रोंमें लग्नशुद्धि देखकर नवान्नभक्षण करना चाहिये।

बाग लगाना--शनि, मङ्गल और रिक्ता तिथियोंको छोड़कर अन्य तिथि वारोंमें, विशाखा, मूल, मृदु, ध्रुव, क्षिप्र, शततारा नक्षत्रोंमें, स्थिर या द्विस्वभाव लग्नोंमें लग्नादि शुद्धि देखकर वृक्षादिरोपण करना चाहिये।

कदली--(केला) लगाना--उपर्युक्त वारोंमें भाद्रपद एवं पञ्चक (धनिष्ठादि ५) को छोड़कर अन्य वृक्षारोपणविहित नक्षत्रोंमें तथा २, ३, ६--इन ३ तिथियोंमें सुलग्न देखकर कदलीरोपण शुभ होता है।

राजादि बड़े आदमीसे मिलना--ध्रुव, मृदु, क्षिप्र, श्रव०, धनि० नक्षत्रोंमें, रिक्तासे भिन्न तिथियोंमें, शनि-मङ्गलसे भिन्न वारोंमें, चन्द्र, तारा और अनुकूल लग्नमें बड़े आदमीसे मिलना चाहिये। इसमें विशेष क्षणवार और क्षण नक्षत्रको ही देखना उचित है।

नौकरी--मालिक और अपने नामके नक्षत्रमेलापक चक्रसे--गुण-योग २० से ऊपर हो तो उनके यहाँ रवि, बुध, गुरु और शुक्रवारोंमें, रिक्तासे भिन्न तिथियोंमें, क्षिप्र और मृदु नक्षत्रोंमें चन्द्रतारानुकूल और सुलग्नमें नौकरी आरम्भ करनी चाहिये।

क्रय (खरीदना)—शुक्लपक्षकी ११ से कृष्णपक्षकी ५ तक १० तिथियोंमें, रेवती, शत०, अश्वि०, स्वा०, श्र०, चित्रा नक्षत्रोंमें, शुभ ग्रहके वारोंमें क्रय (खरीदना) शुभ होता है।

विक्रय (बेचना)—पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपद, विशाखा, कृत्तिका, आश्लेषा, भरणी, नक्षत्र, क्रयमें विहित तिथि, सोम, बुध, गुरु, शुक्रवारमें, कुम्भको छोड़कर अन्य लग्नमें और लग्न से १, ४, ७, १०, ५, ९ इनमें शुभ ग्रह हों तथा ३, ६, ११ में पापग्रह हो तो लग्न-शुद्धि देखकर विक्रय करना शुभ होता है।

यहाँ कुछ आचार्यों का मत है कि—

क्रयर्क्षे विक्रयो नेष्टो विक्रयर्क्षे क्रयोऽपि न।

अर्थात् क्रय के नक्षत्र में विक्रय और विक्रय के नक्षत्रमें क्रय नहीं करना।

यहाँ विरोध यह है कि एक ही नक्षत्रमें एक खरीद करता है दूसरा बेचता है। तो किसी एक के लिये शुभ नहीं होगा।

इसका उत्तर यह है कि—उक्त वचन नित्य क्रय-विक्रय विषयमें नहीं है। जो व्यापार के लिये लाभार्थ एक समय क्रय कर रख लेता है। उस प्रकार के क्रयमें। तथा जो लाभार्थ विक्रय के लिये प्रथम प्रथम दुकान खोलकर वस्तु रखता है उसके लिये है।

दुकान खोलने का मुहूर्त —रिक्ताको छोड़कर अन्य तिथि, मंगल को छोड़कर अन्यवार, अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, उ०फा०, उ०षा०, उ० भा०, हस्त, चित्रा, अनुराधा, रेवती, नक्षत्र, लग्न से २, १०, ११ में, शुभ ग्रह हो तथा ८, १२ में पाप ग्रह न हो ऐसे स्थिर लग्न में दुकान खोलना श्रेष्ठ है।

घोड़ेका कृत्य---क्षिप्र, रेवती, धनिष्ठा, मृगशिरा, स्वाती, शतभिषा, पुनर्वसु, नक्षत्रमें, रवि, मङ्गल, रिक्ताको छोड़कर अन्य तिथि-वारमें, सुलग्नमें घोड़ेका कृत्य शुभ होता है ।

हाथीका कृत्य---शुभ तिथि, शुभ वार, मृदु क्षिप्र, चर नक्षत्रोंमें हाथीका कृत्य शुभ होता है ।

गोक्रय-विक्रय---क्षिप्रसंज्ञक, मृगशिरा, विशाखा, पुनर्वसु, ज्येष्ठा, धनिष्ठा, शततारा---इन नक्षत्रों में रिक्ता से भिन्न तिथियों में गायों का खरीदना तथा बेचना श्रेष्ठ है ।

धर्मानुष्ठान---मृदु, क्षिप्र, ध्रुव नक्षत्र रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्रवार, शुभ तिथि, मिथुन, कन्या, धनु, मीन, राशि के लग्न नवमांश में गुरु-शुद्धि, चन्द्रतारानुकूल सुलग्न में धर्मानुष्ठान का प्रारम्भ शुभ होता है ।

देवादिप्रतिष्ठा---शुद्ध समय शुक्लपक्ष सौम्यायन में-मृदु, क्षिप्र, चर, ध्रुव नक्षत्रों में, रिक्ता तिथि, मङ्गलवार को छोड़कर अन्य तिथि-वारों में स्थिरलग्न में-लग्नशुद्धि देखर सब देव और जलाशय, आरामादि की प्रतिष्ठा, व्रतों का उद्यापन आदि प्रशस्त है ।

अपने-अपने मास, तिथि, नक्षत्र में याम्यायन में भी प्रतिष्ठा प्रशस्त है । जैसे चतुर्दशी में शंकर की, ४ में गणेश की, भाद्र कृष्ण ८ में कृष्ण की प्रतिष्ठा और शुक्ल १४ में अनन्त-व्रतोद्यापन; आश्विन शुक्ल ९ में श्री दुर्गा की इत्यादि ।

विशेष लग्न---सूर्यकी प्रतिष्ठामें सिंह, ब्रह्माकी कुम्भ, विष्णुकी कन्या, शिवकी मिथुन, देवी की द्विस्वभाव लग्न में प्रतिष्ठा करनी चाहिये । क्षुद्र

देवताओं की प्रतिष्ठा चर लग्न में भी करनी चाहिये; किंतु स्थिर लग्न सब देवों की प्रतिष्ठा में प्रशस्त है।

दत्तक पुत्र-ग्रहणमें—रिक्ता को छोड़कर तिथि, मंगल, गुरु, शुक्रवार, अश्विनी, पुष्य, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, धनिष्ठा नक्षत्र, स्थिर (वृष, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ) लग्न प्रशस्त है।

बहीखाता का मुहूर्त—शनि, मङ्गलको छोड़कर अन्य वार, रिक्ताको छोड़कर तिथि, मृगशिरा, पुष्य,पुनर्वसु, उ० फा०, उ० षा०, उ० भा०, हस्त, चित्रा, अनुराधा, श्रवण, रेवती, नक्षत्र, चर तथा द्विस्वभाव लग्न श्रेष्ठ हैं।

मूल-शान्ति—जन्म से १२ वें दिन, अथवा पुनः मूल नक्षत्र आनेपर मूल नक्षत्र में ही अथवा किसी भी समय में रिक्ता, शनि, मंगल को छोड़कर क्षिप्र, मृदु, चर ध्रुव नक्षत्र में मूल नक्षत्र की शान्ति करनी चाहिये।

आपरेशन-आदिका-मुहूर्त–रोहिणी, मृगशिरा, चित्रा स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, लघु संज्ञक, श्रवण और शततारा नक्षत्र, रवि, मङ्गल, बृहस्पतिवार में आपरेशन इन्जेक्शन आदि लाभ प्रद होते हैं।

विरेचन—इन्हीं (आपरेशन) के नक्षत्रों में और बुध, शनिवारको छोड़कर अन्य वारोंमें विरेचन (कोष्ठ शुद्धिके लिये जुलाब लेना) हितप्रद होता है। इन तात्कालिक कर्तव्य कार्यों में क्षणवार और क्षणनक्षत्र का उपयोग करना चाहिये। जो प्रतिदिन उपलब्ध होते ही हैं।

यात्रा प्रकरण [५]

"यात्रा" का अर्थ है "किसी कार्य के लिये कहीं चलना।" संसार में कोई भी व्यक्ति बिना प्रयोजन कहीं भी पैर नहीं उठाता है। सोया हुआ मनुष्य जागते ही शौच के लिये, स्नान के लिये; विद्यार्थी पढ़ने के लिये; अध्यापक पढ़ाने के लिये: कर्मचारीजन अपने-अपने कार्य के लिये नित्य ही चलते हैं ये सब यात्रा ही हैं. तो क्या सब में मुहूर्त देखना ही चाहिये ? कभी नहीं। ये तो नित्य कार्य हैं। जो एक अहो-रात्र में ही सम्पन्न होनेवाला कार्य हो उसको तो उसी दिन जब सुविधा हो प्रारम्भ कर देना चाहिये। मुहूर्त अथवा लग्न तो किसी विशिष्ट (शत्रुओं पर विजय की कामना से अथवा अर्थोपार्जन के लिये दूसरे जिले या प्रदेश में जाने इत्यादि) कार्यों के लिये यात्रा में ही लग्न वा तिथ्यादि शुद्धियुक्त मुहूर्त देखने का आदेश है। दैवज्ञ रामाचार्य ने कहा है--

चेतोनिमित्तशकुनैरतिसुप्रशस्तै-,
ज्ञीत्वा विलग्नबलमुर्व्यधिप : प्रयाति ।
सिद्धिर्भवेदथ पुनः शकुनादितोऽपि,
चेतोविशुद्धिरधिका नहि तां विनेयात् ॥

विशिष्ट यात्रा में--प्रथम मनमें खूब विचार करले कि यात्रा आव-श्यक है या नहीं, तथा जिस कारण से यात्रा करनी है वह उचित है या नहीं, फिर शकुन (तात्कालिक इष्ट-अनिष्ट-दर्शन अथवा श्रवण आदि)प्रशस्त है या नहीं ?--तब लग्नशुद्धि देखकर यात्रा करने से अव-श्य सिद्धि होती है। इन सब में भी 'मन:शुद्धि' प्रबल है। अच्छे शकुन और लग्न मुहूर्त के रहने पर भी मन:पूत नहीं हो तो यात्रा नहीं

करनी चाहिये। इसलिये प्रत्येक कार्य के लिये कहा गया है कि "मनःपूतं समाचरेत्।"

पूर्वकाल में तो सब जन इसी के अनुसार कार्य करते थे और आज कल भी विज्ञजन विश्व में इसी के अनुसार कार्य करते हैं। कुछ लोग अन्धविश्वासी भी होते हैं। इस सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष देखी हुई घटना लिख देना हम उचित समझते हैं। "एक जमींदार ने जो स्वयं पण्डित भी थे अपने कर्ज लेने वाले पर व्याज सहित पन्द्रह हजार रुपये का अदालत में दावा कर दिया। वकील पैरवी करते थे, न्यायालय ने महाजन को स्वयं उपस्थित होकर प्रमाण (सबूत) दिखलाने का आदेश दिया जिसकी तारीख शुक्रवार को पड़ी। किन्तु महाजन का मकान कचहरी से पूर्व दिशा में था अतः महाजन बेचारे ने शुक्रवार को पश्चिम जाना दिक्शूल समझकर अपने वकील को लिख भेजा कि "आज दिशाशूल है, मैं कैसे आऊँगा? आप स्वयं पैरवी कीजिये।" अदालत में समय पर पुकार हुई। महाजन की अनुपस्थिति में अदालत ने उनका दावा खारिज कर दिया। ऐसी-ऐसी घटनायें नित्यप्रति कितनी ही होती रहती हैं। शास्त्रकारों का तो आदेश है कि—

महीपतेरेकदिने पुरात् पुरे. यदा भवेतां गमन-प्रवेशकौ।
भ-वार-शूल-प्रतिशुक्रयोगिनीर्विचारयेन्नैव कदापि पण्डितः॥

अर्थात् यात्रा करके एक ही दिन (अहोरात्र=२४ घण्टे) में ही गन्तव्य स्थान में पहुँच जाने की सम्भावना हो तो ऐसी स्थिति में नक्षत्र-वार शूलादि का विचार नहीं करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में कितने ही दोष क्यों न हों, प्रत्यक्ष सूर्य को पृष्ठ अथवा वाम तथा चन्द्रमा

वा लग्न को सम्मुख, दक्षिण करके यात्रा करे तो समस्त दोषों का नाश हो जाता है।

पृष्ठस्थ सूर्य का ज्ञान—

प्रातःकाल पश्चिम यात्रा में; मध्याह्नकाल उत्तर यात्रा में; सायङ्काल (गोधूलि) पूर्व यात्रा में और मध्यरात्रि उत्तर यात्रा में सूर्य प्रत्यक्ष पृष्ठ-भाग में पड़ते हैं। इसलिये कहा है।

उषःकालो विना पूर्वां गोधूलिः पश्चिमां विना।
विनोत्तरां निशीथः स्याद् याम्यां याने विनाऽभिजित् ॥

अर्थात् उषा (प्रातः) काल पूर्व को छोड़कर; गोधूलि पश्चिम को छोड़कर, मध्यरात्रि उत्तर को छोड़कर तथा मध्याह्नकाल दक्षिण को छोड़कर अन्य सब दिशाओं में यात्रा शुभप्रद होती है।

पृष्ठस्थ सूर्य और सम्मुख चन्द्र प्रशंसा—

भ-तिथियुतिजदोषं वारजं दूषणं वा
हरति दिवसनाथः पृष्ठगो वामगो वा।
कुसमयभवदोषं सम्मुखस्थं विलग्नं
हरति सकलदोषं चन्द्रमाः सम्मुखस्थः ॥

इस प्रकार प्रतिदिन पृष्ठस्थ सूर्य एवं सम्मुख लग्न और चन्द्रमा प्राप्त होते रहने के कारण नित्य चारों दिशाओं की यात्रा हो सकती है। इसी विषयको लोक प्रसिद्ध दैवज्ञ घाघने कहा है—

"नहीं विचारो पोथी पतरा
सबदिन सबदिस करलो जतरा।
राजा बनियाँ औ सब जात

उत्तर दुपहर दच्छिन रात ।
पूब गोधुली पच्छिम उखा
कहे घाघ सब सुखहि सुखा ॥

अब हम---जिस यात्रा में शीघ्रता नहीं रहती उसके लिये विज्ञजन शुभ तिथि नक्षत्रादि भी देखते हैं। अतः---जनताके सुविधा के लिए लिख देते हैं---

यात्रा में विहित तिथि---२, ३, ५, ७, १०, ११, १३, १५, (पूर्णिमा), शेष तिथि निन्द्य हैं।

विहित नक्षत्र---अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु पुष्य, हस्त, अनुराधा, श्रवण, धनिष्ठा और रेवती-ये श्रेष्ठ हैं।

निन्द्य नक्षत्र ---तीनों उत्तरा, भरणी, कृत्तिका, श्लेषा, मघा, आर्द्रा, चित्रा, स्वाती, और विशाखा---ये निन्द्य हैं। शेष नक्षत्र मध्यम हैं।

वार-दिशाशूल छोड़कर सब वार प्रशस्त हैं।

चन्द्र और लग्न---सम्मुख एवं दक्षिण भाग में श्रेष्ठ हैं। वाम और पृष्ठ अनिष्ट हैं।

दिशाओं में तिथि-नक्षत्र और वारशूल---पूर्वमें १।९ तिथि, श्रवण, ज्येष्ठा नक्षत्र, शनि, सोमवार---ये पूर्व में शूल हैं।

दक्षिण में---५, १३, तिथि, धनिष्ठा से ५ नक्षत्र, गुरुवार---ये दक्षिण में शूल हैं।

पश्चिममें---६, १४ तिथि, रोहिणीनक्षत्र, रवि, शुक्रवार-ये पश्चिम में शूल हैं।

उत्तर में---२, १० तिथि, उ० फा०, हस्त नक्षत्र, मङ्गल, बुधवार---ये दिक्पति और योगिनी के प्रतिकूल होने से शूल हैं।

एक ही दिनमें यात्रा करके गन्तव्य स्थान में पहुँचना हो तो शूल और योगिनी का विचार नहीं किया जाता है।

कालशूल---पूर्व में सूर्योदय, (प्रातःकाल), दक्षिण में मध्याह्न, पश्चिम में सायंकाल और उत्तर में मध्यरात्रि--समय यात्रा में त्याज्य है।

योगिनी---१, ९ तिथि को पूर्व में, ३, ११ अग्निकोण में, ५, १३ दक्षिण में, ४, १२ नैर्ऋत्य में, ६, १४ पश्चिम में, ७, १५ वायव्य में, २, १० उत्तर में, ८, ३० ईशान में योगिनी रहती है।

योगिनी का सम्मुख और बायें रहना अच्छा नहीं है। मतान्तर से दक्षिण और सम्मुख में अशुभ कहा गया है, परंच यह बहुसम्मत नहीं है।

कालराहु---रविवार को उत्तर में, सोमवार को वायव्य में, मङ्गल को पश्चिम में, बुध को नैर्ऋत्य में, गुरुको दक्षिण में, शुक्र को अग्निकोण में, शनि को पूर्व में काल राहु रहता है।

राहु सम्मुख और दक्षिण त्याज्य है।

सर्वदिग्गमन नक्षत्र---मृगशिरा, पुष्य, हस्त और श्रवण में सब समय यात्रा शुभ है एवं अश्विनी, पुष्य, हस्त, अनुराधा,--इनमें तथा मतान्तर से रेवती, मृगशिरा, श्रवण, धनिष्ठा इनमें भी सब दिशा में यात्रा प्रशस्त है।

सब कार्यों में विशेषकर यात्रा में मुहूर्त (क्षण-वार और क्षण-नक्षत्र एवं क्षण-तिथि) का प्रयोग करना चाहिये। कालपञ्चाङ्गविवेक देखिये।

मुनियों का आदेश है कि लग्नशुद्धि से तिथ्यादिजनित दोष नष्ट हो जाते हैं तथा किसी भी कार्य में मनस्तुष्टि (आत्मसंतोष) हो तो समस्त दोषों का नाश होकर कार्यमें सिद्धि होती है तथा उत्तम से-उत्तम

लग्न-मुहूर्त में भी मनःशुद्धि न हो तो यात्रादि कार्य नहीं करना चाहिये।

"सर्वतः प्रबलं चेतो न ब्रजेत् तद्बलं विना।"

प्रस्थान -- यदि आवश्यक कार्यवश उत्तम मुहूर्त में यात्रा करने में कोई बाधा उपस्थित हो तो उस स्थिति में अपनी प्रिय वस्तु को अपने स्थान से दूसरे स्थान में प्रस्थापित कर देना तथा ५ रात्रि के भीतर ही कार्य को सम्पन्न करके स्वयं यात्रा करनी चाहिये।

शत्रुओं पर विजय कामना से या व्यापारमें विशेष अर्थलाभ की कामनासे यात्रामें लोग सब प्रकार से शुद्ध समय देखते हैं। और अशुद्ध का त्याग करते हैं। यथा—

यदि शुक्र अस्त, या अपनी नीच (कन्या) राशिमें हो अथवा संमुख दक्षिण भागमें हो तो-विजय कामना से यात्रा नहीं करनी चाहिये।

संमुखशुक्र परिहार - रेवतीसे मृगशिरा नक्षत्र स्थित चन्द्र में शुक्र अन्ध रहता है उसमें सम्मुख का दोष नहीं होता है।

व्यक्तिविशेषके लिये विशेषता—मुहूर्तचिन्तामणि—

"योगात् सिद्धिर्धरणिपतीना—
मृक्षगुरैरपि भूदेवानाम्।
चौराणामपि शुभशकुनैर्वा
भवति मुहूर्तादपि मनुजानाम्॥

विजय कामना से राजाओं के लिये केवल योग (लग्न और ग्रह स्थिति विशेष) से, ब्राह्मणोंके लिये केवल नक्षत्रके गुणोंसे, चोरीकरने के लिये चोरों को केवल शुभ शकुन (शुभप्रद वस्तुओं के दर्शन या श्रवण से) सिद्धि (सफलता) होती है। शेष सब मनुष्यों के लिये शुभ शकुनके अतिरिक्त मुहूर्त शुद्धि भी देख लेने का शास्त्रादेश है।

यहाँ साधारण जनके मनमें यह सन्देह या आशङ्का उत्पन्न होती है कि—शास्त्रोंमें चोरी करना पाप (निन्द्य) कहा गया है । फिर महर्षियोंने चोर को शुभ शकुन देख या सुनकर यात्रा करने का आदेश क्यों दिया ? इसके उत्तर में सब शास्त्रकार महर्षियों का मत है कि—"कुर्यात् कर्म च कर्तव्यं वक्तव्यं वचनं वदेत्" । तथा—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥"

इत्यादि वचनोंसे सर्वविदित है कि उसी कार्यको करना चाहिये जो करने योग्य अर्थात् (बहुजनहितप्रद) हो वह तत्काल हिंसात्मक भी क्यों न समझा जाय ।

एवं जिस वचनके बोलनेसे बहुजन हित हो वह (असत्य भी क्यों न भासित हो) बोलना चाहिये । इसके उदाहरण में अर्जुन और युधिष्ठिर सर्वजन विदित हैं ।

एवं जिस प्रकार की चोरी से परिणाम बहुजन हितप्रद हो उस प्रकार की चोरी भी करनी चाहिये । इसका उदाहरण—

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं, जब दुष्टात्मा स्वार्थी कंस ने गोपोंको आदेश दिया "कि गाय पोसनेवाले कोई भी स्वयं घृत न खाकर घृत और माखन राजदरबारमें राजकर्मचारियों के लिये भेजा करें ।"

भगवान् श्रीकृष्ण जब गाय चराकर के आते थे तो उनको माता छाँछ देती थी घृतको कंस के भयसे मथुरा भेज दिया करती थी मांगने पर भी माखन नहीं मिलता था तब उन्होंने जबरदस्ती लेने में अक्षम होने के कारण अपना हक़ जानकर चोरी करना कर्तव्य कोटि में मानकर स्वयं

चोरी करने लगे और अपने साथियोंको चोरी करनेका उपाय बतलाने लगे। अतः जिस किसी क्रिया से दूसरेका अहित न होकर अपना हित हो या बहुजन हित हो उनको करना धर्म ही है ॥

युद्ध यात्रा में कतिपय विजय योग—

१ हिम्बर—सूर्याश्रितनक्षत्र से चन्द्रमाश्रितनक्षत्र तक गिनकर उसमें शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा से तिथि और रवि से वार संख्या गिनकर सबको जोड़े, फिर उसमें ९ का भाग देने से यदि ७ शेष बचे तो हिम्बरयोग होता है यह यात्रा में अति श्रेष्ठ है।

२—तीसरा सूर्य, दशवाँ चन्द्र, छठा शनि और मङ्गल, पाँचवाँ शुक्र, चतुर्थ बुध, लग्न में बृहस्पति हो तो ऐसे योग में चले तो शीघ्र ही शत्रु को जीतता है।

३—यदि लग्न से तीसरे शनि, छठे भौम, लग्न में बृहस्पति, ११ वें सूर्य हो तथा शुक्र अनुकूल (वाम वा पृष्ठ) हो तो यात्रा करनेसे शत्रु को जीतता है।

४—लग्न में बृहस्पति, ८ वाँ चन्द्र, ६ठा सूर्य हो तो ऐसे योग में यात्रा करनेसे निश्चय शत्रुको जीतता है।

५—लग्न में गुरु हो, और अन्य ग्रह द्वितीय और एकादश स्थान में हो तो शत्रु को जीतता है।

६—सप्तम में चन्द्र, लग्न में सूर्य, दूसरे बुध-शुक्र-बृहस्पति हों, ऐसे योग में चले तो शत्रुओं को इसप्रकार जीतता है, जैसे गरुड सर्पों को जीतता है।

७—द्वितीय में बुध, तीसरे सूर्य, लग्न में शुक्र हो तो यात्री के प्रतापरूप दीपक में शत्रु पतङ्ग के सामान आकर भस्म हो जाते हैं।

वादप्रतिवाद में विजययोग—

१. अकुल, २. कुलाकुल, ३. कुल-गण—

(१) भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, अनुराधा, तीनों उत्तरा, धनिष्ठा, रेवती ये नक्षत्र। १, ३, ५, ७, ९ ११, १३, १५, ये तिथियाँ, रवि, सोम, गुरु, शनिवार ये अकुल गण हैं।

(२) आर्द्रा, मूल, अभिजित्, शतभिषा नक्षत्र। २, ६; १० तिथियाँ। बुधवार ये कुलाकुल हैं।

(३) शेष नक्षत्र, तिथि, वार कुल गण हैं।

अकुलगणमें वादी की, कुलगणमें प्रतिवादीकी विजय होती है। और कुलाकुल गणमें यात्रा करनेसे दोनों में सन्धि (सुलह) हो जाती है।

यात्रा से पूर्व विधि—

अग्नि में आहुति तथा देवताका पूजन, ब्राह्मणोंको नमस्कार, दिशा के स्वामी का पूजन करके और ब्राह्मणों को दान देकर तथा चित्त में दिशा के स्वामी का ध्यान करके यात्रा करे।

दिशा के स्वामी—सूर्य, शुक्र, मङ्गल, राहु, शनि, चन्द्र, बुध, बृहस्पति ये पूर्व आदि दिशाओं के स्वामी हैं।

यात्रा करने का स्थान—

देवमन्दिर से, वा गुरु के घर से, वा अपने घर से, वा अपनी मुख्य स्त्री के घर से हविष्य खाकर, ब्राह्मणों की आज्ञा से मङ्गल वस्तुओं को देखता हुआ तथा मङ्गल गान सुनता हुआ यात्रा करे।

प्रस्थान विधि—

यदि कार्यवश यात्रा करनेमें विलम्ब हो तो ब्राह्मण-यज्ञोपवीत, क्षत्रिय-शस्त्र, वैश्य शहद, शूद्र-आँवला वा नारियल, वा सब को

जो वस्तु प्रिय हो वही प्रस्थान में रखे।

गर्गमुनि एक घर से दूसरे घर आ जाय तो यात्रा का प्रस्थान मानते हैं। तथा भृगु अपनी सीमासे दूसरी सीमातक जानेको, भरद्वाज बाण फेंकने से जहाँ तक पहुँचे उतना दूर तक को और वशिष्ठजी पुर से बाहर हो जाने को यात्रा (प्रस्थान) कहते हैं।

कोई आचार्य पाँच सौ धनुष (अर्थात् दो हजार हाथ की दूरी) पर प्रस्थान करना कहते हैं, कोई दो सौ धनुष (कोई दश ही धनुष) कहते हैं, और जिस दिशा की यात्रा करनी हो नियम पूर्वक उसी ओर प्रस्थान करे।

स्वतन्त्र राजा प्रस्थान के पीछे १० दिन उस स्थान में न ठहरे, सामन्त (छोटा राजा) ७ रात्रि और इतर मनुष्य ५ रात्रि न रहे, और यदि दिवस अधिक हो जाय तो फिर शुभ दिन में यात्रा करे। और शत्रु को जीतने की इच्छा करनेवाला यात्रा से पूर्व ५ रात्रि मैथुन न करे, यदि अशक्त हो तो यात्रा के दिन में न करे।

राजा यात्रा के दिन से ३ रात्रि पहले दुग्ध, ५ रात्रि पहिले क्षौर तथा यात्राके दिन शहद भक्षण, तैल मर्दन और शरीर शोधनार्थ औषधि से वमन, ये सब अवश्य त्याग करे।

यदि तैल, केवल गुड़, क्षार और पकाया हुआ मांस खाकर यात्रा करे तो रोगी होकर लौटता है। और स्त्री तथा ब्राह्मण का अपमान कर यात्रा करनेवाले की मृत्यु (असफलता आदि) होती है।

अकाल वृष्टि दोष—

यदि पौष आदि चार महीनों में वर्षा हो तो अकालवृष्टि कहलाती है। और जबतक पृथ्वी, पशु और मनुष्यों के चरणों से

चिह्नित न हो तब तक दोष नहीं है, यदि चिह्न हो तो दोष होता है।

थोड़ी वर्षा में थोड़ा तथा अधिक वर्षा में अधिक दोष होता है। और यदि मेघ गर्जे वा वृष्टि हो तो राजा सुवर्णकी सूर्य और चन्द्रमा की मूर्ति बनवाकर ब्राह्मणों को दे और कुशकुन हो तो घृत-सुवर्ण दान करके यथेच्छ यात्रा करे

यात्रामें शुभ शकुन—

यात्रा करनेके बाद (१ कोसतक) मृदङ्ग, वीणा आदि बाजे, सङ्गीत आदि शब्द, श्वेत पुष्प, जल पूर्णकलश, जलचर पक्षी, गाय, घोड़ा, हाथी, देवता, मित्र, ब्राह्मण, प्रज्वलित अग्नि, वेश्या, दूर्वा, गीला गोबर हाथमें लिया हुआ, सोना, चाँदी, ताँबा, रत्न, अन्न, यव, सर्षप, तलवार, पताका, छत्र, चामर आदि राजचिह्न, रोदनरहित मुर्दा, दूध, दही, घृत, आम आदि सब फल, वेदध्वनि और मनकी प्रसन्नता कार्य सिद्धप्रद शकुन कहे गये हैं।

विशेषता—

यात्रा के समय; ब्राह्मण, घोड़ा, हाथी, फल, अन्न, दूध, दही, गौ, श्वेत सरसों, कमल, वस्त्र; वेश्या, बाजा, मयूर, पपीहा, नेवला, बँधा हुआ एक पशु, मांस, शुभवचन, पुष्प, ऊँख, पूर्णकलश, छत्र, मृत्तिका, कन्या, रत्न, पगड़ी, श्वेतबैल, मद्य, पुत्रसहित स्त्री, प्रज्वलित अग्नि ये शुभ हैं। तथा दर्पण, अंजन, धौतवस्त्र सहितधोबी, मछली, घृत, सिंहासन, रोदन रहित मुर्दा, पताका, शहद, बकरा, अस्त्र, गोरोचन, भरद्वाजपक्षी, पालकी, वेदध्वनि, गायन, अंकुश ये यात्रा के समय आगे दीखें तो शुभ हैं और पीछे का खाली घड़ा भी शुभ होता है।

यात्रामें अशकुन—

बन्ध्या स्त्री, चर्म, भूसा, हड्डी, सर्प, लवण, अङ्गार, इन्धन, नपुंसक, विष्ठा, तैल, उन्मत्त, चर्बी, औषधि, शत्रु, जटावाला, सन्यासी, तृण, रोगी, नग्न, उबटनादि लगाये, खुले केशवाले मनुष्य, जाति से पतित, अङ्गहीन, क्षुधित, रुधिर, रजस्वला स्त्री, गिरगिट, अपने घर का जलना, बिलाव का युद्ध, छींक; गेरुआ वस्त्रवाला, गुड़, मट्ठा, कीचड़, विधवा–स्त्री, कुबड़ा, परिजन में लड़ाई, वस्त्रादि का गिरना, भैंसों की लड़ाई, कृष्णधान्य, रुई, वमन, दक्षिण की ओर (दहिना भाग) गधे का शब्द, अधिक क्रोध, गर्भिणी; माथ मुड़ाया हुआ, भीजे वस्त्रवाला, दुष्ट-वचन, अन्धा, बहिरा ——ये यात्रा में देख पड़े तो अशुभ हैं।

संक्रान्तिकाल—

संक्रान्तिकालतः पूर्वं पश्चात् षोडश षोडश।
घट्यो यात्राविवाहादौ संत्याज्या पुण्यदा अपि॥

सामान्य नियम यह है कि सूर्यके संक्रमण कालसे पूर्व और पश्चात् १६, १६ घड़ी स्नानदानादि में पुण्यप्रद होनेपर भी विवाह यात्रादि कार्य में त्याज्य हैं।

त्रिंशत् कर्कटसंक्रान्तौ पूर्वतः पुण्य नाडिकाः।
मकरे तूत्तराः पुण्याः खवेदघटिकास्तथा॥

विशेषता यह है कि कर्क की संक्रान्ति में पूर्व की ३० घटी और मकर की संक्रान्ति में पश्चात् ४० घटी पुण्यप्रद होती है।

पूर्णे निशीथे यदि संक्रमः स्याद्
दिनद्वयं पुण्यमथोदयास्तात्।

पूर्वं परास्ताद्यदि याम्यसौम्या-
यने दिने पूर्वपरे तु पुण्ये ॥

ठीक मध्यरात्रि में संक्रान्ति हो तो पूर्व दिन के उत्तरार्ध और अग्रिम दिन के पूर्वार्ध पुण्यकाल होता है।

यदि रात्रिभर में कभी कर्क की संक्रान्ति हो तो पूर्व दिन और मकर की संक्रान्ति में पर दिन पुण्यकाल होता है।

संक्रान्ति से शुभाशुभ फल—

मृगकर्क्यजगोमीन-संक्रान्तिर्निशि सौख्यदा।
शेषेषु सप्तसु दिवा व्यत्यादशुभं भवेत् ॥

मकर, कर्क, मेष, वृष और मीन की संक्रान्ति रात्रि में, शेष राशिकी संक्रान्ति दिन में हो तो शुभ। इससे विपरीत में अशुभफल समझना।

मेषं यदि दिवा सूर्यो रात्रौ चेत् संक्रमे तुलाम्।
तदानन्दन्ति राजानः प्रजाश्च विविधोद्यमैः ॥

यदि मेष की संक्रान्ति दिनमें और तुला की संक्रान्ति रात्रि में हो तो उस वर्ष राजा और प्रजा दोनों ही सुखी रहते हैं।

ग्रहण में त्याज्यकाल और फल—

ग्रहण दिन और उससे पूर्व और परदिन विशिष्ट यात्रामें त्याज्य है।

मेषादि राशिवालों के-ग्रहण दर्शन से फल—जन्मनक्षत्रमें-तथा जन्म-राशिसे १, २, ४, ५, ७, ८, ९, १२ राशियों में अशुभ तथा ३, ६, १०, ११ राशिमें शुभ फल होता है। दुष्फलशान्त्यर्थ गोदान या स्वर्णदान या अग्निमें होमाहुति करनेका आदेश है। अथवा अशुभ फल हो तो ग्रहण को नहीं देखना।

आवश्यक सन्देह निराकरण—

काम्य यज्ञादि कार्य में होम (आहुति) के लिये अग्निवास में—

रामाचार्य ने कहा है—

सैका तिथिर्वारयुता कृताप्ता शेषे गुणेऽभ्रे भुवि वह्निवासः ।
सौख्याय होमे शशियुग्मशेषे प्राणार्थनाशौ दिवि भूतले च ॥

तिथि संख्या में—१जोड़कर रवि आदि वार संख्या मिलाकर उसमें ४ के भाग देने से ३ या शून्य शेष बचे तो पृथ्वी पर अग्नि का वास शुभप्रद होता है । यदि १ या २ शेष बचे तो क्रम से आकाश और पाताल में अग्निवास रहता है उसमें होमाहुति देने से अशुभ होता है ।

यहाँ तिथि की संख्या शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से आमावास्या तक ३० ग्रहण करना चाहिये । इसलिये पञ्चाङ्गकार पूर्णिमा को १५ और अमावास्या को ३० लिखते हैं । अतः कृष्णपक्ष में प्रतिपदादि को १६ १७ आदि समझना उचित है ।

पली (छिपकली) पतन-फल—

मस्तक	लाभ	जानु	शुभसंवाद
ललाट	प्रियदर्शन	जंघा	कल्याण
भ्रूमध्य	राज्यसम्बन्ध	हाथ	वस्त्रलाभ
उ. ओष्ठ	धननाश	कन्धा	विजय
अ. ओष्ठ	धनलाभ	नाभि	धनलाभ
नासा	पीड़ा	कटि	वाहनलाभ
द. कर्ण	आयुवृद्धि	द. मणिबन्ध	धनहानि
बा. कर्ण	लाभ	बा. म. ब.	अपयश
नेत्र	धनवृद्धि	हृदय	धनलाभ
द. भुज	प्रतिष्ठा	मुख	सुभोजन
बा. भुज	राजभय	गुल्फ	बन्धन
कण्ठ	शत्रुनाश	केशान्त	कष्ट(मृत्यु)
स्तन	दुःख	द. पाद	यात्रा
उदर	भूषणप्रा.	बा. पाद	हानि
पृष्ठ	बुद्धिहानि	पादाङ्गुली	क्लेश

यह फलादेश पुरुषके दाहिने और स्त्री के बाँये अङ्गों का है । पल्ली पतन मे शुभ या अशुभ दोनों स्थिति मे सचैल स्नान कर लेने का शास्त्रादेश है ।

यात्रादिकार्योंमें द्वादशराशियोंके त्याज्य मासतिथिवारनक्षत्रादिघातज्ञान-चक्र

रा०	मास	तिथि	वार	नक्षत्र	योग	करण	पु०	ल०	र०	चं०	मं०	बु०	गु०	शु	श.	रा.	स्त्री
मे०	कार्तिक	नन्दा	र०	मघा	विष्कु.	वव	चं१	१	४	१	५	२	६	७	३	८	१चं
वृ०	मार्ग०	पूर्णा	श०	हस्त	शूल	शकु.	४	२	८	५	९	६	१०	१०	७	१२	८
मि०	आषा०	भद्रा	चं०	स्वाती	परिघ	चतु.	३	४	१२	९	१	१०	२	३	११	४	७
क०	पौष	भद्रा	बु०	अनुरा	व्याघ्र	नाग	१	७	५	२	६	३	७	८	४	९	९
सिं०	ज्येष्ठ	जया	श०	मूल	धृति	वणि.	१	१०	९	६	१०	७	११	१२	८	१	५
क०	भाद्रपद	पूर्णा	श०	श्रवण	शूल	कौल.	१	१२	१	१०	२	११	३	४	१२	५	३
तु०	माघ	रिक्ता	गु०	शतभि	शूल	तैति.	४	६	६	३	७	४	८	९	५	१०	६
वृ०	आश्विन	नन्दा	शु०	रेवती	व्यति.	गर	१	८	१०	७	११	८	१२	१	९	२	२
ध०	श्रावण	जया	शु०	भरणी	वरी	तैति.	१	९	७	४	८	५	९	१०	६	११	१०
म०	वैशाख	रिक्ता	भौ०	रोहि०	वैधृ.	शकु.	४	११	१२	८	१२	९	१	२	१०	३	११
कु०	चैत्र	जया	गु०	आर्द्रा	गण्ड	किं०	३	३	२	११	३	१२	४	५	१	६	५
मी०	फाल्गुन	पूर्णा	शु०	श्लेषा	वैधृ०	चतु	४	५	६	१२	४	१	५	६	२	७	१२

अङ्गस्फुरण फल—

पुरुषका दाहिना, स्त्री का बायाँ अङ्ग फड़कना श्रेष्ठ है।

स्थान	फल	स्थान	फल	स्थान	फल
मस्तक	पृथ्वीलाभ	वक्षःस्थल	विजय	ओष्ठ	प्रियवस्तु
ललाट	स्थानलाभ	हृदय	इष्टसिद्धि	हनु	महाभाग
स्कन्ध	भोगसमृद्धि	कटि	प्रमाद	कण्ठ	ऐश्वर्यलाभ
भ्रूमध्य	सुखप्राप्ति	कटिपार्श्व	प्रीति	ग्रीवाधः	शत्रुभय
भ्रूयुग्म	महत्सौख्य	नाभि	स्त्रीनाश	पृष्ठ	पराजय
कपोल	शुभाप्ति	आन्त्रिक	कोषवृद्धि	मुख	मित्रप्राप्ति
नेत्र	धनाप्ति	भग	पतिप्राप्ति	भुज	मधुरभोजन
नेत्र-कोण	लक्ष्मीलाभ	कुक्षि	सुप्रीति	भुजमध्य	धनागम
नेत्र-समीप	प्रियसंगम	उदर	कोषलाभ	वस्तिदेश	अभ्युदय
नेत्र-पक्ष्म	राज्यलाभ	लिंग	स्त्रीलाभ	ऊरु	वस्त्रलाभ
हस्त	सद्द्रव्यलाभ	गुदा	वाहनलाभ	जानु	शत्रुवृद्धि
नेत्रोर्ध्व	विजय	वृषण	पुत्रलाभ	जंघा	स्वामिप्राप्ति
पदोपरि	स्थानलाभ	पादतल	नृपत्वबुद्धि		

मिथिला-देश-मध्यस्थ-नौगमा यस्य जन्मभूः।
पिता बछरनो नाम जननी जानकी तथा॥
तेनाध्यापयता काश्यां श्रीसीतारामशर्मणा।
कृतः कृत्यविवेकोयं विन्मुदे युक्तिसङ्गतः॥
लोचनाङ्काष्टभू-तुल्ये शकाब्दे फाल्गुने सिते।
गणाधीश-तिथौ चन्द्रवासरे पूर्णतां गतः॥